सहजानंद शास्त्रमाला

नियमसार प्रवचन

तृतीय भाग

(शुद्ध भाव अधिकार)

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरूतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक **'नियमसार प्रवचन भाग 3'** अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यावहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें गाथा 38 से गाथा 55 तक के प्रवचन प्रस्तुत हैं ।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को http://www.sahjanandvarnishastra.org/ वेबसाइड पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुन: प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे । इसी ग्रन्थ की PDF फाइल http://is.gd/varniji पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में **श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर** इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री **सुरेशजी पांड्या**, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 2100/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में **श्रीमती मनोरमाजी राहिंज, गाँधीनगर, इन्दौर** एवं प्रूफिंग करने हेतु **श्री सुरेशजी पांड्या**, **तिलकनगर**, **इन्दौर** का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा
53, मल्हारगंज मेनरोड़
इन्दौर (म०प्र०)
Phone-0731-2410880, 9753414796
Email-vikasnd@gmail.com
www.jainkosh.org

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी''सहजानन्द'' महाराज द्वारा रचित

आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतमराम।।टेक।।
मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।
सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।।
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम।।
अहिंसा परमोधर्म

आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ।।टेक।।
हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजानंद॰।।१।।
हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर में मेरा कुछ काम नहीं।
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।२।।
आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन॰ ,मैं सहजा॰।।३।।

Contents

प्रकाशकीय....2
आत्मकीर्तन....3
आत्म रमण....3
गाथा 38....5
गाथा 39....17
गाथा 40....22
गाथा 41....26
गाथा 42....44
गाथा 43....77
गाथा 44....104
गाथा 45....113
गाथा 46....118
गाथा 47....121
गाथा 48....125
गाथा 49....130
गाथा 50....134
गाथा 51....138
गाथा 52....144
गाथा 53....148
गाथा 54....154
गाथा 55....157

नियमसार प्रवचन तृतीय भाग

(शुद्धभावाधिकार)

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री 105 क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज

जीवाधिकार और अजीवाधिकार का वर्णन करके अब शुद्ध भावाधिकार को कहा जायेगा। अजीव से हटना है और जीव में लगना है तब ही तो शुद्धभाव की उत्पत्ति होती। इस कारण शुद्ध भावाधिकार बताने के पहिले जीवाधिकार और अजीवाधिकार को बताया है। इन दो अधिकारों में भी जीवाधिकार को पहिले कहा है। जो जीव नहीं है वह अजीव है ऐसा अजीव जानने के लिए जीव का परिज्ञान साधक है। यों जीव और अजीवाधिकार के वर्णन के पश्चात् यह शुद्ध भावनात्मक अधिकार अब चलेगा। इस अधिकार में सर्वप्रथम गाथा में कुन्दकुन्दाचार्यदेव हेयोपादेय के रूप में बहिस्तत्त्व और अंतस्तत्त्व का भाव प्रकट कर रहे हैं—

गाथा 38

जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा ।
कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिरित्तो ।।38।।

अन्तस्तत्त्व व बहिस्तत्त्व के परख की कसौटी—जीवादिक बाह्यतत्त्व अर्थात् जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये 7 बाह्य तत्त्व हैं और हेय हैं। उपादेय तत्त्व आत्मा का आत्मा है। इस कथन में कुछ श्रद्धा को भंग करने जैसी बात लगती होगी कि भाई अजीव, आश्रय, बंध ये हेय तत्त्व हैं सो तो ठीक है पर संवर, निर्जरा अथवा जीव और मोक्ष ये तत्त्व भी बहिस्तत्त्व बताये गए यह तो चित्त को न जंचती होती। पर इस कसौटी से बाह्यतत्त्व और अंतस्तत्त्व का स्वरूप निर्धारित करें कि **जिस पर हम निगाह लगायें और आत्मोपलब्धि का कार्य सिद्ध हो उसे तो कहेंगे अंतस्तत्त्व और जिस पर दृष्टि करने से कुछ भेद ही बने, स्वरूप मग्नता न हो, उसे कहेंगे बाह्यतत्त्व**।

जीवतत्त्व की बहिस्तत्त्वरूपता—अब इस कसौटी से सब परख लीजिए। जीव के सम्बन्ध में और अन्तरङ्ग में प्रवेश करके जो कारण परमात्मत्व दृष्ट हुआ करता है वह कारणसमयसार तो अंतस्तत्त्व है, क्योंकि इस कारणसमयसार के आलम्बन से कार्यसमयसार बनता है। एक इस अंतस्तत्त्व के अतिरिक्त अन्य सब जो कि परिणमन और व्यवहार की बातों से अपना सम्बन्ध रखता है अथवा जो गुणपर्याय के रूप से जीवसमासों के रूप से अनेक प्रकार के भेदभावों को लेकर जीवतत्त्व का परिज्ञान होता है वे सब बाह्यतत्त्व हैं।

संवर निर्जरा व मोक्ष की बहिस्तत्त्वरूपता—इसी तरह संवर, निर्जरा तत्त्व किसी समय तक यद्यपि उपादेय है, फिर भी यह कुछ जीव का स्वरूप नहीं है। इस तत्त्व के लक्षण पर दृष्टि देने से कुछ अभेद समाधिभाव नहीं जगता है, भेद ही उत्पन्न होता है। इस कारण यह भी बाह्यतत्त्व बन जाता है। यही बात है मोक्षतत्त्व की; मोक्षतत्त्व में द्वैत ही तो दिखता है। छूटना क्या किसी अद्वैत वस्तु का स्वरूप है? छूटना कैसा? एक छूटने वाला और एक जिससे छूटा जाय ऐसी-ऐसी बातों के आये बिना मोक्षतत्त्व नहीं बनता है और फिर मोक्ष में

जो बात प्रकट होती है ऐसे शुद्धपरिणमन की बात ली जाय तो वह भी भव्य पुरुषों के मूलदृष्टि रूप उपाय की चीज नहीं है। जिसका आलम्बन करके यह जीव शुद्ध पर्याय परिणत होता है ऐसा वह तत्त्व नहीं है, अत: यह सप्ततत्त्व का समूह बाह्यतत्त्व कहा गया है और अंतस्तत्त्व आत्मा का आत्मा ही है।

सम्यग्दर्शन की विविक्त आत्मरूपता—इन 7 तत्त्वों में जिस प्रकार के जीव को बहिस्तत्त्व में शामिल किया गया है जिससे कि आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष बन सके, ऐसा भी जीवतत्त्व पर्यायरूप है, भेदरूप है और इसी कारण इन सब भेदों का आधारभूत अवस्थावान जीव बाह्यतत्त्वों में गिना जाता है। इसी कारण **7 तत्त्वों का श्रद्धान स्वयं सम्यग्दर्शन नहीं है किन्तु 7 तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन का कारण है।** सम्यग्दर्शन तो स्वयं अंतस्तत्त्व की प्रतीतिरूप है। यह अधिकार शुद्धभाव का किया जा रहा है। इस कारण सर्वविशुद्ध तत्त्व जिसमें किसी भी अपेक्षा से अशुद्धता नहीं हो पर्यायगत अशुद्धता न हो, भेदगत अशुद्धता न हो, ज्ञाता के अनुरूप ज्ञेयपना न हो, कृत अशुद्धता नहीं हो, सर्व प्रकार की अशुद्धताएं जिसमें नहीं हैं ऐसे शुद्ध निज सहजस्वभाव का दर्शन सम्यग्दर्शन है।

प्रभुभक्ति और स्वरूपनिर्णय—मुक्त प्रभु की भक्ति का भी प्रयोजन है। यह स्वरूपनिर्णय है। प्रभु की भक्ति प्रभुभक्ति के स्थान में है और सहजस्वभाव का निर्णय सहजस्वभाव के स्थान में है। **कहीं सहजस्वभाव के निर्णय के समय यह नहीं जानना कि प्रभु का कुछ अनादर किया जा रहा होगा।** विवेकी जानता है कि स्वभाव की महिमा मानने का व्यवहार में यह अर्थ बनता है कि प्रभु की महिमा जाहिर की है। जैसा सहजस्वभाव है तैसा प्रकट हुआ है। ऐसी ही महिमा भगवान में होती है। ये जीवादिक तत्त्व बहिस्तत्त्व होने के कारण उपादेय नहीं हैं, पर चीज होने के कारण आलम्बने योग्य नहीं हैं। आत्मा का आत्मा ही स्वद्रव्य है और वह उपादेय है।

आत्मा शब्द के वाच्य भाव की व्यापकता—आत्मा का अर्थ बहुत अंतरङ्ग मर्म को लिए हुए है। उसके समकक्ष जीव शब्द का वाच्य बहिस्तत्त्व है। आत्मा का अर्थ स्व होता है। अपन, स्वयं, यह जीव स्वयं अपने आप जैसा है उसे तो कहते हैं आत्मा और उस आत्मा की भी अन्य बातें निरखना जो आस्रव बंधरूप हो तथा संवर, निर्जरा रूप हो और अन्य द्रव्यों से छूट गया, अब यह केवल रह गया, ये सब बातें देखना यह सब अनात्म-तत्त्व हुआ। आत्मा जब-जब जो अपने स्वरूप के प्रति विवक्षित होता है वह आत्मा कहलाता है। अपना आत्मा उपादेय है, अंतस्तत्त्व है।

अन्तस्तत्त्व की व्याख्या—अन्तस्तत्त्व के विषय में इस गाथा में कहा है कि कर्म उपाधि से उत्पन्न हुए गुणपर्याय से जो व्यतिरिक्त है, विविक्त है ऐसे अपने आपको आप उपादेय तत्त्व है। ऐसा वह आत्मतत्त्व किसके लिए उपादेय है? स्वद्रव्य में ही जिसने अपनी बुद्धि निश्चित की है, तीक्ष्ण की है, ऐसे परम योगीश्वर के लिए वह उपादेयभूत बनता है। जैसे कोई हीरा रत्न मिल जाय तो मूढ़ भील और लकड़हारों को उपादेय नहीं हो पाता, किसी जौहरी के समीप पहुंचे तो उसके लिए वह उपादेय होता है। हाथ में रक्खा हुआ रत्न भी मूर्ख पुरुष को उपादेय नहीं हो रहा है। इसी प्रकार अपने आपमें शाश्वत विराजमान यह ज्ञायक स्वरूप मोही पुरुष को उपादेय नहीं हो रहा है।

परिज्ञान के अभाव में स्वयं स्वयं से अत्यन्त दूर—जैसे उस मूर्ख के, लकड़हारे के हाथ में ही रत्न है, केवल एक यथार्थ ज्ञान कर लेने से वह उपादेय बन जाता है। चीज नहीं कहीं से लेना है। चीज वहीं है पर सही ज्ञान बना लेने से लाभ मिल जायेगा। इसी प्रकार यह प्रभु जिसकी दृष्टि संसार के समस्त संकटों से नष्ट कर देती है उस प्रभु को कहीं खोजना नहीं है, कहीं दौड़कर जाकर मिलना नहीं है। यह है, स्वयं है, वह यथार्थज्ञान कर लेने से यह हमको हस्तगत होती है, पर यह कारणसमयसार, यह परम पारिणामिक भाव, आत्मा का आत्मतत्त्व उपादान हो रहा है उन परमयोगीश्वरों को जो पंचेन्द्रिय के प्रसार से रहित शरीर मात्र ही परिग्रह वाले हैं।

हार्दिक रुचि की प्रतिक्रिया—जैसे उपन्यासों में, कथानकों में, नाटकों में देखा होगा, जो पुरुष जिस किसी का भी मन से प्रेमी हो जाता है उसकी प्राप्ति के लिए अपना सर्वस्व खो देता है, त्याग देता है, केवल उसकी प्राप्ति का ही भाव रखता है। एक थियेटर में बताते हैं कि लैला मजनू एक जगह पढ़ते थे। उनका परस्पर में स्नेह हुआ। मजनू तो एक गरीब का लड़का था और लैला एक बादशाह की लड़की थी। अब जब बहुत दिनों के पश्चात् बादशाह के भी मन में आया कि ठीक है, यही सम्बन्ध हो और इसी लिए गांव में यह आर्डर दिया था कि मजनू जिस दूकान में जो चीज खाये प्रत्येक लोग उसे दे दें और बाद में खजाने से हिसाब लें। अब तो हजारों मजनू बन गये। जब दूकानों में मनमाना खाने को मिले तो फिर क्या था? अब बड़ी परेशानी आयी। किसको जाने कि यह मजनू है। तो उसने परीक्षा यह की कि आँगन के बीच में बड़ा पतला एक खम्भा बनाया और उस पर आसन बनाकर लैला को बैठाल दिया और मजनू को निमंत्रण दिया कि मजनू हमारे यहाँ आये। वहाँ हजारों मजनू आए। वहाँ आँगन में कुछ लकड़ी पत्ती बिछा दिया था। उसी में बादशाह ने आग लगवा दी। तो जितने भी बनावटी मजनू खड़े थे वे सब तमाशा देखते ही रहे और जो असली मजनू था वह आग में चला गया लैला को जलने से बचाने का यत्न करने लगा। तो बादशाह ने जान लिया कि वास्तविक मजनू कौन है?

अनुरज्यमान् तत्त्व के लिये सर्वस्व समर्पण—इस संसार में जो जिसका अनुरागी हो जाता है वह उसके प्रति अपना सब कुछ भी गंवा देता है। तो जब असार बातों में भी अनुराग जगाने का इतना प्रभाव बनता है तो भला जो सारभूत है, शरणरूप है, यथार्थ समझ की जाने की बात है ऐसा आत्मतत्त्व जिसे रुच गया हो वह इस आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए क्या-क्या समर्पण नहीं कर सकता? यही कारण है कि जिनको आत्मा की तीव्र रुचि बनती है उनका रूप निर्ग्रन्थ बन जाता है अब उनके वैभव का प्रयोजन नहीं रहा, वस्त्रादिक का प्रयोजन नहीं रहा, बालकवत् निर्विकार शुद्ध हो गए उनके तो ध्यान अपने आत्मा में ही खेलते रहने का है। विकार कहां से आए।

विषयलोलुपी और साधु संतों की अन्तर्वृत्ति—भैया ! एक शरीर मात्र परिग्रह साधु के रह जाता है। उसे कहां टाले वह? यदि शरीर भी सहज त्यागा जा सकता होता तो उसे भी त्याग देते, पर शरीर कहां त्यागा जाय? भोजन-पान से तो उसे मोह नहीं रहा। विवेक ही उनको भोजन के लिए उठाता है। कितना अन्तर है कि विषयलोलुपी पुरुष को भोजनादिक में लगाने का आग्रह करता है अज्ञान, तो साधु संतों को विवेक समझाता है कि उठो, जावो, खा आवो। यदि यह विवेक न जगता होता साधु संतों को तो वे आहार को भी न उठते।

जैसे कोई भोजन नहीं करना चाहता है तो उसका हाथ पकड़कर कुछ तानकर मित्र ले जाता है। चलो कुछ भी खा लो, दो ही रोटी खा लो, पानी ही पी लेना। इस तरह यह विवेक साधु संतों को समझाता है कि महाराज कुछ भी तो चर्या कर लो, अभी बड़ी साधना करना है। तो साधु संतों के आहार कराने में विवेक का हाथ है अन्यथा वह करता ही नहीं है।

अन्तस्तत्त्व के उपादाता—मोहरहित, पंचइन्द्रिय के प्रसार से रहित शरीर मात्र ही जिसका परिग्रह है ऐसे परमयोगीश्वर के ही यह आत्मतत्त्व उपादेय है। अच्छी चीज पर किसका मन न चलेगा? यह उपादेयभूत ज्ञानानन्दनिधान आत्मोपलब्धि की बात सुहा तो जायेगी साधारणतया सबको परन्तु किसे उपादेय होती है उस स्वामी का निर्णय कर लिया जाय। इस उपादेयभूत ज्ञानानन्द स्वभाव का अधिकारी विरक्त होता है, पर द्रव्य से अत्यन्त पराङ्मुख रहता है, सहज वैराग्य का ऐसा प्रसाद उसे प्राप्त है कि जिसके शिखर पर वह शिखामणि की तरह शोभित होता है, परद्रव्य से पराङ्मुख इन्द्रियविजयी अपने आपमें जिसने तीक्ष्णबुद्धि लगायी है ऐसे योगीश्वर संतों के यह आत्मतत्त्व उपादेयभूत होता है।

अन्तस्तत्त्व व बहिस्तत्त्व—यहाँ बहिस्तत्त्व और अंतस्तत्त्व की बात चल रही है। जिसका आश्रय करने पर निर्मल पर्याय की अभिव्यक्ति होती है वह तो है अंतस्तत्त्व और जो नाना प्रकार के परिज्ञान कराते हैं ऐसे जो ज्ञेय पदार्थ, ज्ञेय तत्त्व, ज्ञेय परिणतियां जो किसी रूप में सहायक तो हैं पर साक्षात् आलम्बने योग्य नहीं हैं वे सब बाह्यतत्त्व कहलाते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के प्रथमसूत्र में निश्चय व्यवहार का तथ्य—तत्वार्थसूत्र में कुछ पहिले सूत्रों का शब्दविन्यास देखो किस प्रकार रखा है? उन सूत्रों में निश्चय और व्यवहार स्वरूप का दर्शन हो रहा है। जैसे कहा गया है सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। इसमें दो पद हैं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि व मोक्षमार्गः। इसमें पहिला पद बहुवचनांत है और यह व्यवहार वाचकपद है और मोक्षमार्गः एक वचन है, एकत्वद्योतक है, वह निश्चयवाचक वचन है। इस ही प्रकार ''तत्त्वार्थश्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम्'' – तत्वार्थश्रद्धानं यह व्यवहार वचन है और ''सम्यग्दर्शनं'' यह निश्चयपरकवचन है। इस ही बात को इस गाथा में ध्वनित किया गया है।

तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीय व तृतीय सूत्र में निश्चय व्यवहार का तथ्य—अब आगे के सूत्र में देखो—"तन्निसर्गादधिगमाद्वा", सम्यग्दर्शन निसर्ग से और अधिगम से होता है। निसर्ग से होने की बात निश्चय को सूचित करती है और अधिगम से होने वाली बात व्यवहार को सूचित करती है। जरा और चलकर देखो तो जैसे कहा है ''जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वं'' ये जीवादिक सात हैं बहु वचनांत है, यह व्यवहारपरक है और तत्त्वं एक वचन है, भाववाचक है, यह शब्द निश्चय वाचक है। तत्त्वं इस निगाह में कुछ परख लेना, सो निश्चय का विषय है और 7 पदों के रूप में परखते जाना, सो व्यवहार का कथन है। यह आत्मा के सहज आत्मस्वरूप जो कि कर्मोपाधिजन्य सर्वकर्मों से भिन्न है वह तो है अंतस्तत्त्व और उपादेय है तथा ये जीवादिक जो 7 तत्त्व बताये गये हैं वे हैं बहिस्तत्त्व और हेय। अब इसी सम्बन्ध में आगे वर्णन होगा।

शुद्ध भाव—इस अधिकार में शुद्ध भाव का वर्णन चल रहा है। जीव के भाव 5 होते हैं—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। इन भावों में पूर्ण शुद्ध भाव अर्थात् निरपेक्ष भाव, जिसमें उपाधि के सद्भाव अथवा अभाव की भी उपेक्षा नहीं है, ऐसा भाव है पारिणामिक भाव।

औपशमिकादि भावों की अशुद्धता—औपशमिक भाव कर्मप्रकृतियों के उपशम से होता है। यद्यपि उपशम के काल में पर्यायदृष्टि से वह भाव निर्मल है तथापि उसके अन्तर में मलिनता होने की योग्यता पड़ी है तथा कर्मोपाधि का दबा हुआ निमित्त पड़ा है और उपशम के निमित्त से यह भाव हुआ है। अत: उसे शुद्ध भाव नहीं कहा गया है। क्षायिक भाव यद्यपि कर्मप्रकृतियों के क्षय से उत्पन्न होता है और वह पूर्ण निर्मल भाव है, किन्तु अध्यात्म पद्धति में निरपेक्ष भाव को शुद्ध कहा गया है। प्रकृतिक्षय के निमित्त से होने वाले भाव को इस दृष्टि में शुद्ध नहीं कहा। क्षायोपशमिक भाव, इसमें तो पर्यायगत अशुद्धता चल रही है। क्षायोपशमिक भाव कर्मप्रकृति के क्षय से और उपशम से ही नहीं होता किन्तु क्षय और उपशम के साथ किसी प्रकृति का उदय भी चाहिए, तब क्षायोपशमिक भाव बनता है और उसमें मिश्ररूप से मलिनता पायी जाती है। वह शुद्धभाव नहीं है। औदयिक भाव तो प्रकट अशुद्ध है। कर्मप्रकृति के उदय के निमित्त से उत्पन्न होता है।

शुद्धभाव की औपशमिकादि चतुष्कागोचरता—औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औदयिक इन चार भावों से परे, इनके अगोचर; और भी किसी भी प्रकार का विभाव गुण पर्याय जहां नहीं है, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म की उपाधि से उत्पन्न होने वाले विभाव भाव से जो रहित है, ऐसा परमपारिणामिक भाव स्वरूप आत्मा है, यह अन्तस्तत्त्वरूप अपना भावस्वरूप आत्मा है, यह अन्तस्तत्त्वरूप अपना आत्मा कहा जा रहा है। 'अपना आत्मा' इस शब्द के कहने से आत्मद्रव्य लिया जाए—ऐसी धुनि नहीं है, किन्तु अपना आत्मा अपना स्वरूप सहजस्वभाव उसे कहा गया है अपना आत्मा। जो अति अभीष्ट होता है, उसे भी लोक में अपना आत्मा कहते हैं। सो ऐसा अपना अन्तस्तत्त्व अथवा आत्मा क्या है? इसके प्रकरण में बताया जा रहा है कि जो अनादि है, अनन्त है, अमूर्त है, अतीन्द्रिय स्वभावी है—ऐसा जो शुद्ध निरपेक्ष सहजपारिणामिक भाव है, वही है एक स्वभाव, जिसका ऐसा यह कारणपरमात्मा अपना आत्मा है।

ज्ञानी के आकुलता का अभाव—जब किसी चीज में ममता नहीं रहती है और वह चीज बिगड़ रही हो तो थोड़ी कुछ पूर्व सम्बन्ध के कारण बिगड़ते हुए देखकर जरा तो मन में क्षोभ होता है और फिर चूंकि मोह कतई नहीं है तो झट चद्दर उठायी और तानकर सो जाता है। जहां जो होता है, सो होने दो। जिस वस्तु में मोह नहीं होता है, उस वस्तु के प्रति इस जीव को अन्तर में वेदना नहीं होती। इसी तरह जब विश्व के समस्त पदार्थों के प्रति जिसे मोह नहीं है, अज्ञान नहीं है—ऐसा जीव किसी भी पदार्थ को लक्ष्य में लेकर अन्तर में आकुलता न मचायेगा।

प्रतिकूल घटनाओं की हिताहितसूचकता—भैया ! व्यवहार में से जितनी घटनाए घटती हैं, जिन्हें लौकिक जन सम्मान और अपमान की निगाह से देखते हैं—ये घटनाए तो हमारी साधक हैं, परीक्षा के लिए आती हैं और उनमें हमें यों खुशी हों कि हम यह समझ जाएं कि हम मोक्षमार्ग में ठीक प्रगति कर रहे हैं या नहीं, इतना ज्ञान तो हुआ, कुछ अच्छा है। किसी ने कुछ प्रतिकूल बात की तो अपने आपका पता तो पड़ जाता है कि हम अपने कर्तव्य में सफल हुए हैं और उस कर्तव्य से दूर है—यह ज्ञान तो कराया।

सामायिक, स्वप्न और प्रतिकूल घटना की परीक्षकता—सामायिक और स्वप्न तथा प्रतिकूल घटनाएं हमारे बड़े हितकारी परीक्षण के साधन हैं। सामायिक करते समय जो बात दुकानादि अन्य किसी कार्य के करते समय ख्याल में भी नहीं आती है। सामायिक में देख लो कि कितने विकल्प उठते हैं? दुकान करते हुए इतने विचित्र

ख्यालात नहीं बनते और सामायिक में दसों जगह चित्त जाता है। वह सामायिक सावधान कराने वाली दशा है और बता देती है कि तुम इतने मलिन हो, तुम घर पर, दुकान पर या किसी काम में लगे रहते थे। सो इसका भान नहीं हो पाता था कि तुम्हारे चित्त में कितनी योग्यता भरी है? कहां-कहां तुम्हारी वासना पड़ी है? इसको बता दिया है सामायिक ने। 'स्वप्न' नींद में जो ख्याल बनता है और स्वप्न आता है, वह भी संस्कार की सही बात बता देता है कि अभी हमारे में ऐसी वासना और संस्कार बने हैं। स्वप्न में चीज चुरा ली, किसी को पीट दिया, धन लूट लिया या और भी खोटा स्वप्न आए तो वह सब संस्कार की सूचना देता है। इसी कारण यदि कोई खोटा स्वप्न आ जाय तो उसका प्रायश्चित किया जाता है। उस स्वप्न का प्रायश्चित नहीं है, किंतु जिस वासना के आधार पर वह स्वप्न होता है उस वासना के अपराध का भी दण्ड है। इसी तरह प्रतिकूल घटना भी हमारा परीक्षा केन्द्र है।

उत्तीर्णता—भैया ! हम चाहें मट्ठा और आप दें दूध तो हमें फिर क्रोध का कहां मौका मिले? कैसे हम परीक्षा करें कि अब शान्ति है और क्रोध पर विजय किया है। जब हम दूध चाहें और मिले छाछ, तब उस समय फुंकारे ना, तो जानो कि हां हमने क्रोध पर विजय की है। प्रतिकूल घटना तो कसौटी का काम करती है। बढ़ते चलो अपनी साधना में और ये प्रतिकूल बातें यह उत्साह देती हैं कि हां, हमने सीखा तो है कुछ। अपने परिणामों को सँभाला तो है कुछ। अब और संभालो कि ये परपदार्थ किसी भी रूप परिणमें, हमको किसी परिणमन से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्यों उन पर लक्ष्य देकर अपने आपमें हानि वृद्धि की बात सोचते हो और दु:खी होते हो?

अमृतपान—आत्मन् ! तू शुद्ध भावस्वरूप है। औदयिक भाव तो क्षणिक है। वह तो मेरा साथी नहीं है। आया, गया, ऊधम मचवाकर गया और आगामी काल में कर्मबंध हो—ऐसी स्थिति बनाकर गया। उससे तो तेरा लाभ नहीं। उस भाव को तू क्यों अपनाता है? ये रागद्वेष मोह परिणाम सब औदयिक भाव ही तो हैं। इनको तू अपना मत मान, इन्हें पर मान। सबसे बड़ा त्याग, तपस्या सब कुछ इस मूल भाव में भरा हुआ है कि वर्तमान में उदित हो रहे विभावों को हम अपने से विविक्त समझें। इस रूप मैं नहीं हू, मैं तो एक शुद्ध ज्ञानस्वभावमात्र हू। बस भैया ! इतनी ही खबर रहे तो यह ही अमृतपान है और भैया ! यह ही मूलत: मोक्षमार्ग है।

अज्ञानी के क्रोध में क्रोधविजय की सूझ का अभाव—किसी को क्रोध बहुत आता हो तो उसे लोग बहुत-बहुत सलाह देते हैं। कोई यों सलाह देता है कि जब क्रोध आये तो मौन धारण कर लेना चाहिये। कोई यों सलाह देता है कि क्रोध आए तो पानी की घूँट गले में फंसाए रहना, मगर जब क्रोध आता है तब मौन की खबर रहे, पानी पीने की खबर रहे तब तो अच्छी बात है, मगर क्रोध आते समय कोई पानी से भरा गिलास ढूंढ़ता है क्या कि अब क्रोध आ रहा है, लावो पानी पी लें? ऐसी तो किसी को खबर ही नहीं रहती है और किसी-किसी के खबर रह भी जाती है। जब क्रोध आता है तब मौन रख लो ऐसा कहते हैं। तो क्या किसी को ऐसी खबर भी रहती है? ऐसी खबर ज्ञानी को ही रहती हैं। अविवेकी को, क्रोधी को इतना होश कहां रहता है कि वह मौन रह सके?

विभाव की पृथकता में सबकी पृथकता का निश्चय—यह औदयिक भाव तो विरोधी भाव है, आत्मा के अहित रूप है, इसको तू मानता है कि यह मैं हू, यह कितना बड़ा अज्ञान है? झगड़ा पूछो तो सब कुछ इसी अज्ञानभाव पर निर्भर है। जैसे शरीर का चमड़ा छिल जाय तो रोम न ठहरेगा। इसी तरह यदि अपने उपयोग में इस औदयिक भाव को न अपनाया जाय, उपयोग से निकल जाय तो फिर आकुलता और झगड़े कहां पर विराजेंगे? जो यह मानता हो कि मैं रागद्वेष विभावरूप नहीं हू वह क्या कुटुम्ब परिवार को अपना मानेगा? सबसे अधिक निकट सम्बन्ध तो इन रागद्वेष विभावों से है। जब इन्हें ही दुतकार दिया, इनकी ममता का परिहार कर दिया तब फिर अन्य पदार्थों की ममता कहां पर विराजेगी? ये रागद्वेष, रागद्वेष की अपनायत पर जिन्दा हैं, रागद्वेष की अपनायत का नाम मोह है और सुहा जाय न सुहा जाय इस वृत्ति का नाम राग-द्वेष है। ज्ञान होने पर यह सावधानी तो नियम से रहती है कि वह ज्ञाता पुरुष राग में राग नहीं करता है, पर राग हटे इसमें तो ज्ञानी को भी पुरुषार्थ करना होता है।

दृष्टान्तपूर्वक औदयिक भाव पर विजय का उपाय—औदयिक भाव के हटाने का उपाय उसकी उपेक्षा करना है। जैसे एक मोटे रूप में कोई गाली दे और हम सुनें नहीं यह बात तो कठिन है। वे शब्द तो कान में आते ही हैं। और सुनाई भी देते हैं पर उन गालियों से हम रूठें नहीं, 'उसने अपने को दी' माने नहीं, अथवा गाली देने वाले को अज्ञानी जानकर रोष करें नहीं, इस बात पर तो वश है, पर कान में ये शब्द न आयें इस पर वश नहीं है। एक मोटी बात कही जा रही है। कोई यों कहे कि हम कान में अंगुलि लगाये लेते हैं तो फिर शब्द सुनाई न देंगे। ऐसी कोई विरुद्ध उद्यम वाली बात नहीं कह रहे हैं। एक सहज बात कही जा रही है कि सुनी हुई बात में विवेक बनाए रहें, रागद्वेष न करें यह तो बात निभ सकती है पर शब्द न सुनाई दें इस पर अपना वश नहीं चलता है। कभी तो शब्द सुनाई न दे ऐसी भी स्थिति हो जाती है जैसे कि हो गए दत्तचित्त निर्विकल्प ज्ञायकस्वरूप के अनुभव में तो वहाँ शब्द भी नहीं सुनाई देता। सामने से कोई निकल जाय, वह भी नहीं दिखाई देता। इसी तरह ज्ञानभाव की उत्कृष्ट स्थिति में राग और द्वेष नहीं होते, ऐसी स्थिति बन जाती है पर ज्ञान होने पर कुछ समय तक राग द्वेष होते रहते हैं तो भी यह ज्ञानी पुरुष उन रागादिकों को अपनाता नहीं है।

रागादिक भाव को अपनाये बिना निकल जाने देने की भावना—जैसे फोड़ा हो जाता है ना, और पक जाय, पीप निकल जायेगी तो वहाँ पीप को अपने हाथों से भी निकालते हैं। पीप निकल रही है, देख रहे हैं और भीतर से यह सोच रहे हैं कि निकल जाय और निकल जाय और उसे ज्यादा मसकते हैं और जानकार चाहता है कि निकल जाने दो। यों ही पीप की तरह समझ लो विषय-कषाय का रोग होता है इन अध्यवसान के फोड़ों में। तो ज्ञानी तो कहता है कि निकल जावो। क्या कोई उस फोड़े के पीप को अपनाता भी है कि अभी रहने दो? ऐसा तो कोई नहीं करता। यों ही ज्ञानी जीव को विषयवासना क्रोधादिक कषाय, परद्रव्य की इच्छा ये बातें उत्पन्न होती हैं तो इन रागादिक भावों पर उसकी यों ही दृष्टि रहती है कि निकल जाने दो, अपन तो अपने में सुरक्षित हैं।

अन्तर्बल और विभाव का निकलना—कभी स्वप्न आया हो किसी को ऐसा कि कहीं मैं पड़ा हुआ हू और ऊपर से कोई हाथी निकल रहा है या मोटर निकल रही हो या रेलगाड़ी जा रही हो, तो उस समय अपने में

ऐसा उत्साह बनाया है कि निकल जाने दो। थोड़ा देखते भी हैं कि अभी कितनी रह गई रेल? इतनी और निकल जाने दो। बड़े अन्तर में एक साहस बना है और गुजरती हुई बात को गुजर जाने दो, इस दृष्टि से निरखते हैं। इसी तरह ज्ञानी जीव उदय में आए हुए रागद्वेष परिणामों को इस दृष्टि से निरखता है कि इन्हें यों ही निकल जाने दो, ये निकलने को ही आए हैं, और अधिक क्या कहें? निकलने का नाम ही उदय या आना है।

विभाव का अटिकाव—भैया ! कोई रागभाव महिमान की तरह एक दिन ठहर जायें ऐसा नहीं है। रागादिक भावों के निकलने का नाम ही उनका आना कहलाता है। जैसे कोई बाहर से दौड़कर भीतर आए दरवाजे से निकलकर या दरवाजे से दौड़कर बाहर गया तो दरवाजे पर उसकी कितनी स्थिति रही? क्या दरवाजे पर ठहरा? अरे दरवाजे से निकला इसका नाम ही आना है। ऐसे ही आत्मा में रागादिक भाव होते हैं, वे ठहरते हैं और वे निकल रहे हैं, निकलने का नाम ही आना कहलाता है। जैसे सूर्य का आना, सूर्य का उदय होना—इसका अर्थ सूर्य का निकलना है। निकलने को ही आना कहा जाएगा। कहीं एक सेकण्ड को भी तो सूर्य खड़ा हो जाए, कहीं खड़ा नहीं होता है। यों ही रागादिक भाव भी निकलते हैं—ये निकलकर कहीं पर कुछ समय बैठ जायें, रह जायें—ऐसा इनका स्वरूप ही नहीं है। फिर परिणमन किसका नाम है? फिर तो कोई ध्रुव भाव बन जाएगा। परिणमन तो कभी भी दूसरे समय नहीं टिकता। निकलने का नाम परिणमन है और जो हमें बाहर से दिखता है कि ये अनेक परिणमन टिके हुए हैं। जैसा कल था, वैसा ही आज है, सो ऐसी बात नहीं है। कोई भी एक परिणमन दूसरे समय में नहीं रहता, किन्तु कोई परिणमन मोटे रूप से सदृश ही सदृश हो जाये तो उसमें यह ख्याल जम जाता है कि यह तो जो कल था, वही आज है। यह सब कुछ बदला ही कहां है? परिणमन तो चलता रहता है और वस्तु वही बनी रहती है। ये सब तो औदयिक भाव प्रकट मलिन परिणाम हैं, ये आत्मस्वरूप नहीं हैं।

पारिणामिक भाव—अब रहा पंचम भाव—पारिणामिक भाव। सो जीव के पारिणामिक भाव तीन बताए गए हैं—जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व। उनमें से भव्यत्व और अभव्यत्व अशुद्ध पारिणामिक भाव हैं अर्थात् कर्मों के उदय, उपशम, क्षय व क्षयोपशम से नहीं होते हैं। इस कारण भव्यत्व व अभव्यत्व पारिणामिक हैं, फिर भी उनमें यह दृष्टि बनी है कि जो रत्नत्रयरूप होने की योग्यता रखे, उसे भव्य कहते हैं और जो रत्नत्रयरूप होने की योग्यता न रखे उसे अभव्य कहते हैं। ऐसी भवितव्यता पर, सम्भावना पर ये भाव आधारित हैं। इसलिए ये पूर्ण निरपेक्ष नहीं हैं, इन्हें अशुद्ध पारिणामिक भाव कहते हैं। जीवत्व भाव दो प्रकार का है—दस प्राणों करि के जीना और चैतन्यस्वभाव करके जीना। इसमें दस प्राणोंकरि जीनारूप जीवत्व भाव अशुद्धभाव है। वर्तमान में दस प्राणों कर जी रहा है—ऐसी बात अशुद्धता का कथन है। भावीकाल में जीवेगा—यह भी अशुद्धता का कथन है और जब जीव शब्द का अर्थ सिद्धों में सिद्ध करने जाते हैं तो वहाँ अर्थ लगाना पड़ता है कि दस प्राणों करके जिया था, उसे जीव कहते हैं। लो मर मिटे, सिद्ध है, भगवान् है और अब भी थोपा जा रहा है अथवा ये दस प्राणों से जीते थे, इसलिए इसका नाम जीव है। ऐसे जीवत्व का आशय अशुद्ध आशय है, निरपेक्ष आशय नहीं है। केवल चैतन्य स्वरसकर वृत्ति होना यह ही शुद्ध पारिणामिक भाव है।

शरणभूत अन्तस्तत्त्व—शुद्ध पारिणामिक भावस्वरूप कारणपरमात्मा ही अपना आत्मा है और इसे अंतस्तत्त्व कहते हैं तथा जीवादिक 7 पदार्थ अथवा 9 पदार्थ—ये सब बहिस्तत्त्व कहलाते हैं। जो अत्यासन्न भव्य जीव हैं, उसको ऐसे निज परमात्मा को छोड़कर ऐसे कारणसमयसाररूप तत्त्व को छोड़कर अन्य कुछ भी उपादेय नहीं है। जीव क्या कर सकता है? केवल दृष्टि कर सकता है? हाथ-पैर तो इसके हैं नहीं कि कोई क्रिया करे। यह तो दृष्टि भर करता है। जिस पर दृष्टि डाले, वही इसका उपादेय कहलाता है। निकटभव्य जीव इस कारणसमयसार में ही अपनी दृष्टि रखते हैं। उनको यह कारणपरमात्मतत्त्व ही उपादेय है। अन्य बहिस्तत्त्व, जीवादिक भाव, कल्पना—ये सब बाह्यतत्त्व ज्ञानी की प्रतीति में दृष्टि रखने योग्य नहीं हैं, वे सब हेय हैं। इसकी सूचना इस निम्नलिखित गाथा में आयी है और शुद्ध भावों का स्पष्ट स्वरूप भी इस गाथा में बता दिया गया है।

नियमसार ग्रन्थ में वक्तव्य तत्त्व—इस नियमसार ग्रन्थ में किसके बारे में चर्चा की जा रही है? यह जब तक सामने न आए तो चर्चा समझ में आ नहीं सकती। जैसे किसी पुरुष के बाबत में कुछ कहा जा रहा हो और उस पुरुष का नाम या परिचय न मालूम हुआ हो तो सारे दास्तान सुनकर भी श्रोता कुछ ग्रहण नहीं कर पाता है। जब कोई चर्चा चलती है, किसी आदमी के बारे में और उसका पता न हो सुनने वाले को तो वह पूछता है कि किस आदमी की यह बात है? जब वह बता देगा कि फलाने चन्द की यह बात है, तब उसे रस आने लगेगा उस गप्प में, निन्दा में और जब तक न मालूम हो, तब तक रस नहीं आता है। ऐसी ही प्रशंसा की बात है। जैसे प्रशंसा की जा रही है और न मालूम हो कि किसके बाबत में की जा रही है? सारे दास्तान सुनकर भी उसको रस नहीं आता, क्योंकि उस व्यक्ति को पता नहीं है और जहा नाम ले लिया, तब सुनने वाला भी हाँ में हाँ मिलाकर अपनी तरफ से कुछ और चर्चा उठाकर उसमें रस लेने लगता है। इसी तरह यह बात जो कुछ कही जा रही है, यह किसके बाबत कही जा रही है? उसका पता न हो तो यह सब कुछ निरर्थक-सा ही मालूम पड़ेगा।

लोक के व धर्म के बालकों का श्रवण—जैसे किसी कहानी की गोष्ठी में छोटे बालक केवल कहानी का नाम सुनकर घुटने टेककर सुनने को बैठ जाते हैं, पर उन बालकों को केवल इतनी ही चाह है कि हम सुन रहे हैं, पर उन्हें यह बात विदित नहीं हो पाती है। इसी तरह ज्ञान की गोष्ठी में जहां लक्ष्य का परिचय करने वाले कहते या सुनते हों, वहाँ कोई अपरिचित बालक भले ही अपनी मुद्रा से कुछ सुनने को बैठे, परन्तु केवल इतना ही उसको आनन्द है कि हाँ हम सुनते हैं, पर उसे कुछ भी रस नहीं आ पाता है। कष्ट इतना ही किया जा रहा है—आना, सुनना, बैठना, उठना, समय लगाना और काम का भी छोड़ना। थोड़ा मनोयोग संभाल कर कुछ लक्ष्य की पहिचान करते तो यह बड़ी बात ऐसी मालूम पड़ेगी कि हाँ एक-एक वचन सत्य है—यह ठीक तो कहा जा रहा है।

कारणसमयसार का लक्ष्य—भैया ! इस नियमसार में आद्योपांत एक ही लक्ष्य रखा गया है और वह लक्ष्य है उस नियम की दृष्टि करना, जिस नियम की दृष्टि से नियमसार प्रकट होता है अथवा उस नियमसार की दृष्टि करना जिसकी दृष्टि से नियम चलता है अर्थात् कारणसमयसार की दृष्टि करना जिससे कार्यसमयसार प्रकट

होता है। अपने आपके आत्मा में जो बात गुजर रही है, चाहे वह भली गुजर रही हो, चाहे बुरी गुजर रही हो, उस समस्त गुजरने वाले तत्त्व को ओझल करके जिस ज्ञानस्वभाव पर ये तरंगे चलती हैं उस ज्ञान स्वभाव को लक्ष्य में लेना। जो कुछ यहाँ प्रशंसा गायी जा रही है, वह तो अनादि अनन्त अहेतुक चित् स्वभाव की प्रशंसा गायी जा रही है । ऐसे भव्य जीवों को यह अपना अंतस्तत्त्व उपादेय होता है।

समयसार के प्रति कल्याणवाद—अहो! यह समयसार जयवंत हो। अपनी विजयपताका फहराता हुआ निरर्गल विहार करो, ऐसे भव्य जीव उस सरल तत्त्व की महिमा जानकर अपने हृदय के उद्‌गार प्रकट करते हैं। जैसे कोई भिखारी किसी दातार को आशीर्वाद देता है अथवा कोई भक्त भगवान को 'जयवंत हो तुम्हारा जय हो', ऐसे आशीर्वाद वचन कहता है इसी प्रकार इस कारणसमयसार के उपासक भव्यजीव को इतना आल्हाद हुआ है कि इसका जयवाद आशीर्वाद देता है। आशीर्वाद देना बड़े का ही काम नहीं है। यह तो अपने-अपने भाव प्रसंग की बात है। कहीं बड़ा छोटे को आशीर्वाद देता है तो कहीं छोटा बड़े को आशीर्वाद देता है। आशीर्वाद का अर्थ है कल्याणवाद। पर भाव जुदा-जुदा है। जब किसी की महिमा हृदय में पूरी नहीं समा पाती है, हृदय से बाहर भी महिमा आती है तो उस छोटे उपासक की ऐसी आवाज निकलती है कि यह जयवंत हो। कभी कोई सरल अपने ज्ञान ध्यान की धुनि में रहने वाला कोई त्यागी मिलता है तो गृहस्थ भी तो उस त्यागी को चाहे मुख से आशीर्वाद न दे, पर हृदय से आशीर्वाद के वचन निकल ही पड़ते हैं। बहुत सरल है बेचारा, खूब प्रगति करे। तो छोटे बड़ों के प्रति आशीर्वाद देते हैं और बड़े छोटों के प्रति आशीर्वाद वचन बोलते हैं।

कारणसमयसार की भक्ति, सेवा—यहाँ भव्य आत्मा इस महान् विराट पंचमभाव, पारिणामिकभाव, कारणसमयसार के प्रति अपनी भक्ति प्रकट करता है कि हे समयसार! तुम जयवंत हो। तुम समस्त तत्त्वों में एक सारभूत हो। असार-असार सब निकल भागते हैं, ठहर नहीं पाते हैं पर हे कारणसमयसार ! तुम तो वही के वही अनादि अनन्त ज्यों के त्यों स्वभाव रूप से विराजमान् रहते हो। सार बात डोलती नहीं फिरती है। सार तो अपना ज्ञानमात्र स्वभाव ही है। उसी का महान् चमत्कार दिख रहा है। जो असार हो, नकल हो, औपाधिक हो वही डोला करता है। यह कारणसमयसार सर्वतत्त्वों में एक सारभूत है। जो समस्त विपदावों से दूर है, निरापद है। उसकी ही दृष्टि करके तो आपत्ति मिटाई जा सकती है।

प्रभुता—प्रभुता अरहंत देव में है और प्रभुता प्रत्येक जीव में है। प्रभु की प्रभुता का ध्यान अपनी प्रभुता को समझने के लिये है। और अपनी प्रभुता का आश्रय अभेद रत्नत्रय प्रकट करने के लिए है। यह प्रभुता निरापद है। अरहंत सिद्ध की प्रभुता प्रकट व्यक्त है और हम आप सबमें वह प्रभुता स्वभाव से है। उसके ही दृढ़ रुचियां बनें, उसके ही दीवाने बनें, पागल बनें, दूसरी बात ही न सुहाये, वही अन्तर में प्रकट दिखे, सर्व बातें अहित हैं, असार हैं, नष्ट होने वाली हैं। इन भिन्न पदार्थों में अपने उपयोग में गड़ने से अपने आत्मीय ढंग से तत्त्व कुछ न मिलेगा। ये सब अन्य समस्त जीवों के भेद भिन्न हैं। निरापद तो मेरे आत्मा का यह अंतस्तत्त्व है। जो चित् स्वभावमय है, अचल है, आनन्दनिधान है। अपने आपके ज्ञान के द्वारा ही अपने ज्ञान में आ सकने योग्य है। ऐसा यह चैतन्य चमत्कार जो चकचकायमान है, ऐसा यह कारणसमयसार जयवंत हो।

सर्वत्र समयसार के जयवाद की भावना—किसी से द्वेष हो तो उससे बदला लेने के दो तरीके हैं। एक तो लट्ठमार तरीका, जैसा चाहे बोल दिया मारने लगा, आक्रमण कर दिया। इससे तो विवाद बढ़ता है, विजय

हासिल नहीं होती है और एक ऐसा बर्ताव या प्रेक्टिकल व्यवहार करना जिससे कि उसके चित्त में बैरभाव ही न रहे, मित्र बन जाय, यह भी बदला लेने का तरीका है। तो परिवारजन हों, अन्य जन हों, मित्र जन हों, विद्वेषी जन हों, सर्वजीवों में एक कारणसमयसार जयवंत हो। तब हमारे लिए सब एक समान हैं। जगत में कोई जीव न तो विद्वेषी है, न विरोधी है, न बैरी है और न मित्र है, किन्तु उनकी चाल-चलन व्यवहार ही कुछ स्वभाव विरुद्ध है और इसकी कल्पना के प्रतिकूल है तो यह विरोध का व्यवहार माना जाता है। यदि ज्ञान यह जयवंत प्रवर्ते तो सब जीव एक समान हैं, फिर वहाँ द्वैतभाव नहीं रह सकता। यह कारणसमयसार सर्व विपदावों से दूर है सर्वदोषों से मुक्त है, किन्तु इसका सर्वत्र जयवंत होकर प्रवर्तना विश्व के लिए लाभदायक है। इस समयसार की दृष्टि से भव्य लोग काम, क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों से दूर हो जाते हैं।

काल्पनिक बन्धन का कष्ट—जीवों को दु:ख है केवल कषाय का और कोई दूसरा कष्ट नहीं है। पशु, पक्षी, यत्र-तत्र सर्वत्र विचरते हैं। पशु-पक्षी यहाँ से वहाँ उड़ जाते हैं। कहां के उड़े कहां गये, क्या कष्ट है? थोड़ा कभी पास के बैठे हुए समानजातीय पक्षी से झगड़ा हो गया तो थोड़ी चोंचें मिलाकर एक सेकेण्ड में भिड़कर भाग जाते हैं। वे पक्षी बिल्कुल स्वतंत्र हैं, पर ये मनुष्य पक्षी कितने विचित्र हैं कि ये लड़ भिड़कर अलग नहीं हो पाते हैं, अथवा ये कहीं से कहीं उड़ नहीं पाते। न खूटे का बन्धन है, न साँकर का बन्धन है, फिर भी इतना तेज बंधा हुआ है कि यह इस बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता। देखने में अचरज होता है, स्वतंत्र है, अपनी हद में रहता है, शरीर में है, स्वरूप में है, कहीं तो बंधे नहीं। न पैरों की ओर से कुछ बंधन दिखे, न सिर की ओर से कुछ बंधन दिखे किन्तु अन्तर में कल्पनाओं का ऐसा दृढ़ बन्धन है कि न खूँटा होते हुए भी बंधा हुआ है। न गिरमा होते हुए भी गिरमा बना हुआ है। ये कहीं उड़ नहीं पाते, कहीं भाग नहीं पाते।

अन्तर्भावना की अनुसारिणी शुद्धि—भीतर में जैसी जिसने ज्ञानभावना की है उसके उतनी शुद्धता बढ़ी है। बाह्य भेष रख लेने से या बाह्य अपनी कुछ करनी दिखा देने मात्र से अन्तर में अन्तर नहीं पड़ता है। जैसे श्वान को सज़ा देने से उसमें शूरता तो न आ जायेगी या शेर पर कोई शृङ्गार न हो तो उसकी वीरता में अन्तर तो न आ जायेगा। यों ही जिसके ज्ञानभावना नहीं है, कारणसमयसार की दृष्टि नहीं है, रात दिन के जीवन में किसी भी क्षण इस सरल क्रोधरहित ज्ञायकस्वभावमय आत्मा के अंतरतत्त्व की दृष्टि नहीं जगती है वह बाहर में शरीर की क्रियावों का शृङ्गार सज़ा ले अथवा शरीर के वेषभूषा का शृङ्गार सज़ा ले तो अन्तर में अन्तर तो न आ जायेगा, और एक गृहस्थ जो फंसा है अनेक कार्यों में, परिजन का कार्य है, दुकान का कार्य है, समाज देश धर्म के अनेक कार्य हैं उनमें पड़ा है फिर भी उसे वे कार्य सुहाते नहीं हैं। कुछ थोड़ी ऐसी प्राकृतिकता भी है, नियम तो नहीं है पर पास चीज न हो तो ललचाहट आ ही जाती है और पास चीज हो तो ललचाहट नहीं आती है। इस कुछ प्राकृतिकता के कारण इस ज्ञानी गृहस्थ को उस समागम में ललचाहट नहीं है, रुचि नहीं है और उसके ज्ञानभावना चलती हो, अपने फंसाव पर और गृहस्थी पर पछतावा बना हुआ हो तो उसका कोई शृङ्गार ऊपर से नहीं है, वेषभूषा नहीं है, लेकिन धन्य है ज्ञानप्रभावना, भगवती प्रज्ञा, जिसके प्रसाद से वह मोक्षमार्ग में स्थित है।

दृष्टि के अनुसार स्वाद—एक छोटा सा कथानक है कि राजा व मन्त्री दरबार में बैठे थे। बड़ा दरबार तो न था, पर प्रथम श्रेणी का दरबार था, जिसमें कुछ ही मित्रजन थे। उस गोष्ठी में राजा ने मन्त्री से मजाक

किया—मन्त्री ! आज रात को मुझे एक स्वप्न हुआ कि हम और तुम दोनों घूमने चले जा रहे थे तो रास्ते में पास-पास खुदे दो गड्ढे मिले। एक में तो गोबर मैल आदि भरा था और एक में शक्कर भरी थी। मन्त्री जी ! तुम तो गिर गए गोबर मैल के गड्ढे में और हम गिर गए शक्कर के गड्ढे में। अब मन्त्री बोला कि महाराज ! ऐसा ही स्वप्न मुझे आया। न जाने हमारा और तुम्हारा दिल एक ही है कि जो कुछ तुमने स्वप्न में देखा, वही मैने देखा। हमने भी यही देखा कि हम तो गिर गए गोबर मैल के गड्ढे में और आप गिर गए शक्कर के गड्ढे में, पर इससे आगे थोड़ा-सा और देखा कि आप हमें चाट रहे थे और हम आपको चाट रहे थे। बताओ भैया ! वहाँ क्या बात हुई? राजा को तो चटाया गोबर मैल, क्योंकि मन्त्री मैल गोबर के गड्ढे में पड़ा हुआ था और मन्त्री ने चाटा शक्कर, क्योंकि राजा शक्कर के गड्ढे में पड़ा हुआ था। तो ऐसा ही हाल हो जाता है कि गोबर मैल के स्थानीय जो गृहस्थी का फंदा है, उसमें पड़ा हुआ ज्ञानी गृहस्थ कहो ज्ञानरस को चाट रहा हो और कहो बड़े-बड़े क्रियाकाण्ड करने वाला शरीर की चेष्टाएं करके धर्मवेश धारण करने वाला कहो अज्ञानविष चाट रहा हो, ऐसा भी तो सम्भव है।

ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि की प्रधान कर्तव्यता—भैया ! कोई किसी भी अवस्था में हो, प्रधानता देनी चाहिए अपनी सुदृष्टि को कि मैं अपने आपमें बसे हुए इस गुप्त कारणसमयसार को देखूं और इसकी उपासना में वर्तू, इसके समक्ष अन्य सब बातें असार हैं। यह कारणसमयसार पाप वृक्ष को उखाड़ देने में कुल्हाड़े की तरह है। जहां निजज्ञायकस्वभाव की दृष्टि होती है, वहाँ कर्म ठहर नहीं पाते। इसमें ही शुद्धबोध का अवतार होता है, ज्ञान कहां प्रकट होता है? एक इस निजअन्तस्तत्त्व में। आनन्दामृत भी भरा हुआ है इसी अन्तस्तत्त्व में। कार्य सरल भी है और कठिन भी है अथवा यों कहो कि कार्य सुगम है या असंभव है, कठिन नाम की बात नहीं है। जब दशा अज्ञान की है, तब ऐसा आनन्दामृत पा सकना उस दशा में असम्भव है और जब ज्ञानावस्था है तो ऐसे आनन्दामृत का पान कर लेना वहाँ सुगम ही है। यहाँ जबरदस्ती का सवाल नहीं है।

विद्या की शरीरबल पर अनिर्भरता—बचपन की बात है कि एक बार हमसे एक पहलवान विद्यार्थी का झगड़ा हो गया। था वह सहपाठी। हम कक्षा में सबसे छोटे थे, कोई तो 4 वर्ष बड़ा, कोई 5 वर्ष बड़ा। वह हमसे 5 वर्ष बड़ा था। उस झगड़े में बलप्रयोग तो हम कर नहीं सकते थे, शरीर में बल न था, किन्तु उस समय हम तो बातों से मुकाबला किए करते थे। तो जब बहुत ही झगड़ा हो गया। था वह लड़का कुछ मूर्ख सा, अच्छे नम्बर न आते थे। तो एक किताब खोलकर उस पर मैं हाथ मारने लगा। जैसे कि पहलवान लोग कुश्ती में पहलवान पर हाथ लगाते हैं—ऐसे ही हमने उस पुस्तक पर हाथ मारकर कहा कि हमें विद्या आएगी क्यों नहीं। वह समझ गया कि यह हमको लक्ष्य करके कह रहा है। वह शरम करके झगड़ा छोड़कर उधेड़बुन में लग गया। तो विद्या कोई जबरदस्ती की चीज नहीं है और इस सहजस्वभाव की दृष्टि जबरदस्ती की बात नहीं है कि जबरदस्ती करके बना लो। यह तो जब बनता है तो झट बनता है और जब नहीं बनता है तो वहाँ उसका आसार ही नहीं रहता। उद्यम जरूर किया जाता है, पर यह प्रकट कठिनाई से नहीं होता, यह सुगमता से होता है, सहज क्रिया से होता है।

अमोघ औषधि—यह कारणसमयसार समस्त क्लेषविषों से दूर है, यह समस्त कष्टों के मिटाने की अचूक दवा है। बाकी सब दवाएं कहो कि कभी काम दे जायें, कभी न काम करें, पर यह बड़ी अचूक दवा है उन समस्त

क्लेशों के दूर करने की। आयें संकट, कितने आयेंगे, किन किनके नाम संकट हैं। एक भजन है—प्यारी विपदाओं आवो। रति निद्रा में सोये जन को बारम्बार जगावो। आवो कष्ट ! कितने आवेंगे? राग की निद्रा में सोये हुए को बारम्बार जगाओ अर्थात् खूब आवो। कौन-कौनसा नाम लें कष्टों का? टोटा पड़ गया, स्त्री गुजर गयी, इकलौटा बेटा बहुत ही अधिक बीमार है, पैसा नहीं रहा, समाज के लोग पूछते नहीं हैं, और भी जितने कष्ट हो सकते हों, उन सबको संभावना करके अपने पास रख लो और अपने उपयोग को भीतर स्वरूप में लगाकर ऐसा दर्शन करो कि यह तो केवल चैतन्यस्वरूपमात्र है। इतनी दृष्टि करते ही वे सारे क्लेश उड़ जाते हैं, एक भी क्लेश वहाँ नहीं ठहरते हैं। यह अचूक दवा की बात कही जा रही है, जिससे करते बने, वह करके स्वस्थ हो जाता है और जिससे न करते बने, वह इसके चाहने की कोशिश करे।

अन्तस्तत्त्व की अनुपलब्धि पर पठित मूढ़ों की छल भरी चतुराई—न कुछ पा सकें तो सब बातें ही बातें हैं। कोई करके तो दिखावे—ये सब तो पुस्तकों की बातें है—ऐसी बात कहकर स्वच्छन्दतापूर्वक लगे रहना और विषय पोषने की वृत्ति बनाना, इससे कुछ लाभ नहीं होता है। भले ही लोग जानें कि हम बड़ी चतुराई का काम कर रहे हैं। सो यह ऐसी बात है कि जैसे लोमड़ी अंगूरों को पकड़ नहीं सकी, कितना ही प्रयत्न करने पर जब अंगूर न पा सकी तो ये अंगूर खट्टे हैं—ऐसा कहकर अपना मन तुष्ट कर लिया उस लोमड़ी ने, क्योंकि चतुराई करने से उस लोमड़ी को कुछ भी न मिला।

औषधि और पथ्य—भैया ! संकटमुक्ति की एक ही दवा है—सनातन अहेतुक कारणसमयसार की दृष्टि करना। इस उपाय को कुछ तो महत्त्व दीजिए। इसकी उपासना से पापों का क्षय हो जाता है, पुण्य उदीर्ण होकर सामने आता है और जो चाहे, वही उपलब्ध हो जाता है। इसके साथ निर्वांछकता का पथ्य होना चाहिए। भगवान् की सेवा करने से धन व वैभव कुटुम्ब सब जैसा चाहो, मिल जाता है—यह बात सच है, गलत नहीं है, मगर कोई इस ही भाव से भगवान् की सेवा करे, पूजा करे कि मुझे धन व परिजन अच्छे मिलें तो उससे कुछ लाभ न मिलेगा, यह तो गोरखधंधा है। तो ऐसा यह कारणसमयसार है, जिसकी उपासना से सर्व क्लेश दूर हो जाते हैं।

इस कारणसमयसार की कैसी स्थिति है? इस सम्बन्ध में कुन्दकुन्दाचार्य देव निषेधपरक पद्धति से यह बतलावेंगे कि इस कारणसमयसार में ये परतत्त्व नहीं हैं।

गाथा 39

णो खलु सहावठाणा, णो माणवमाणभावठाणा वा।
णो हरिसभावठाणा, णो जीवस्साहरिस्सठाणा वा।।39।।

शुद्ध जीवास्तिकाय के विभावस्वभावस्थानों का अथाव—इस आत्मतत्त्व में स्वभाव स्थान नहीं है। स्वभावस्थान शब्द से अर्थ लेना है कि विभावस्वभाव स्थान नहीं है। ऐसा ग्रहण करने का कारण यह है कि स्वभाव में तो स्थान भेद होता ही नहीं है। स्वभाव अखण्ड अहेतुक सनातन एकस्वरूप होता है। फिर स्वभावस्थान जब होता ही नहीं है तो मना करने की आवश्यकता ही क्या है? पर जीव में परउपाधि का निमित्त पाकर इसके खुद के

परिणमन के जो विभाव होते हैं, उन विभावों के असंख्यात स्थान हैं, वे सब विभाव स्थान इस अंतस्तत्त्व में नहीं हैं। आत्मा का जो अंतस्तत्त्व आत्मा है उसमें यह कोई स्थान नहीं है। यह अंतस्तत्त्व त्रिकाल निरुपाधि स्वरूप है, स्वभाव में उपाधि नहीं होती है।

आत्मस्वरूप में स्वभावविभावस्थानों का निषेध—स्वभाव कहते हैं शक्ति को। व्यक्ति का नाम स्वभाव नहीं है। चाहे कहीं स्वभाव के अनुरूप व्यक्ति हो जाय पर स्वभाव नाम है शक्ति का और शक्ति होती है पदार्थ का प्राणभूत। शक्ति का ही यदि आवरण होने लगे तो द्रव्य का अभाव हो जावेगा। इस कारण यह द्रव्यस्वभावरूप जो अंतस्तत्त्व है इसके विभावस्वभावस्थान नहीं होते हैं। यह बतला रहे हैं आधार आधेय भाव के ढंग से; इस कारण इस जीव को अस्तिकाय के रूप में निरख करके उसे आधार मानकर फिर इस स्थान का निषेध किया जाय। जैसे पहिली गाथा में यह वर्णन था कि गुण पर्यायों से यह अंतस्तत्त्व रहित है। वहाँ कारणसमयसार की मुख्यता से अथवा जीवास्तिकाय की मुख्यता से उसमें निषेध किया गया है। यह विभावस्वभावों का निषेध हुआ ना, और भी जो आगे भाव कहेंगे उनका होने का कुछ क्षेत्रदृष्टि की मुख्यता रखकर आधार आधेयता मानते हुए निषेध किया जा रहा है। यों तो कहना चाहिए कि शुद्ध जीवास्तिकाय के विभावस्वभाव स्थान नहीं है।

जीव को ही पदार्थ, अस्तिकाय, द्रव्य व तत्त्व के रूप में निरखने की दृष्टियां—शुद्ध अंतस्तत्त्व, शुद्ध जीव द्रव्य शुद्ध जीवास्तिकाय, शुद्ध जीव पदार्थ—ये चार बातें चार दृष्टियों की मुख्यता से बतायी जाती हैं। द्रव्यदृष्टि की मुख्यता से जीवपदार्थ नाम पड़ता है। द्रव्य कहते हैं गुण पर्याय के पिण्ड को और पिण्ड की मुख्यता से वस्तु की जो निरख होती है वह प्रचलन व्यवहार और समझ के आचरण के अनुसार पदार्थ के रूप में होती है। क्षेत्र दृष्टि से यह जीव जीवास्तिकाय के रूप में निरखा जाता है, क्योंकि क्षेत्र का सम्बन्ध प्रदेश से है और बहुप्रदेशिता का नाम अस्तिकाय है। कालदृष्टि से जीव के निरखने पर यह जीवद्रव्य इस प्रकार से निरखा जाता है, क्योंकि काल निरखता है पर्यायों को। द्रव्य कहते हैं उसे जिसने पर्यायें पायीं, जो पर्यायें पा रहा है, पर्याय पावेगा उसे जीवद्रव्य कहते हैं। तो काल की प्रमुखता में इस जीव के निरखने पर जीवद्रव्य के रूप में सम्मुख आता है, भाव की दृष्टि से देखने पर यह जीव तत्त्व के रूप में अंतस्तत्त्व के रूप से यह निरखा जाता है। अभेद विवक्षा में कारणसमयसार कारणपरमात्मतत्त्व ज्ञायकस्वभाव चित्स्वरूप इस रूप में निरखा जाता है। यहाँ यह कह रहे हैं कि इस शुद्ध जीवास्तिकाय में विभावस्वभावस्थान नहीं है।

आत्मा में सहज भाव का सत्त्व व असहज भाव का असत्त्व—इस शुद्ध जीवास्तिकाय के मान और अपमान के भाव स्थान नहीं हैं। जीव में अपने आपकी ओर से स्वरसत: जो बात होगी वह तो शुद्ध जीवास्तिकाय की मानी जायेगी और स्वरस से सहज अपने आपके ही मात्र कारण से जो बातें नहीं होती हैं, कारण उपाधि का सन्निधान पाकर होती हैं, वे सब इस शुद्ध जीवास्तिकाय के नहीं हैं। अपने आपको ही देखो जब ऊपर से देखते हैं तो ये सारी किल्लतें अपने में लगी हैं। किसी का राग, किसी का विरोध, किसी का भला, किसी का बुरा, संक्लेश, विशुद्धि कितने कठिन अपने आपके ऊपर भार लदे हैं। जब अन्दर आकर स्वभाव और शक्ति को निरखते हैं तो स्वभाव के निरखते हुए पर आप बड़े उत्साह और वेग से कह देंगे कि इस मुझ

आत्मा में रागद्वेष मान अपमान, ये कोई स्थान नहीं हैं। दृष्टि की बात है; कहां दृष्टि लगाकर क्या देखा जाता है और कहां दृष्टि लगाकर क्या मालूम पड़ता है?

अपने भविष्य की दृष्टि पर निर्भरता—भैया ! आत्मा का सब कुछ भविष्य एक दृष्टि पर निर्भर रहता है। दृष्टि से ही यह संसार में रुलने का साधन बना लेता है और दृष्टि से ही यह संसार में रुलने का साधन दूर कर लेता है। शुभ और अशुभ सर्व प्रकार के मोह रागद्वेष भाव इस शुद्ध जीवास्तिकाय में नहीं हैं। इस कारण न तो मान अपमान के स्थान हैं हममें और न मान अपमान के निमित्तभूत कर्मोदय के स्थान है। यह तो सहज शुद्धज्ञायकस्वरूप मात्र हैं। यहाँ वह दृष्टि दी गयी है कि जिस अंतस्तत्त्व के दर्शन से यहाँ के सारे संकट एक साथ दूर हो जाते है।

अन्तर से संकट की कृत्रिम उद्भूति—भैया ! संकट मानने का ही तो है। परपदार्थ से वास्तविक कोई संकट नहीं है। पर मान्यता ही इतनी बेढब बना ली हो कि ये छोड़े ही नहीं जा सकते। आखिर छूट तो जायेंगे, पर मरने पर छूटते हैं। सो भी ऐसा ऐब लगा है कि जिस भव में जायेगा उस भव में नवीन प्रकार की ममता लगा लेगा। इतना साहस नहीं बनता कि जो चीज छूट जाती है, दो दिन बाद छूटेगी उसके प्रति ख्याल ही तो बना लिया, भावना ही तो दृढ़ कर ली। यहाँ मेरा कुछ नहीं है, अन्तर में ऐसा उत्साह नहीं हो पाता है अज्ञान दशा में। इसका क्या तो सम्मान और क्या तो अपमान?

अन्य प्राणी द्वारा आत्मस्वरूप के सम्मान अपमान की अशक्यता—इस मुझ आत्मपदार्थ का जो अमृत है, टंकोत्कीर्णवत् निश्चल शुद्ध ज्ञायकस्वभाव है, इसका भला कोई सम्मान और अपमान कर सकता है? किसी में ऐसी शक्ति ? कोई कुछ कहे। हम इस देह को ही आत्मा मान कर कहो ऐसी दृष्टि बना लें कि देखो मेरे को लोगों ने निम्न कैसे कह दिया अथवा लोगों के समक्ष यह मुझे छोटा, तुच्छ, निंद्य बता रहा है। लो मान अपमान के भाव आ गए, किन्तु मैं तो यह हू ही नहीं। मैं किसी वर्तमान परिणमन मात्र नहीं हू। मैं एक शुद्ध ज्ञानस्वभावमात्र हू, ऐसी प्रतीति होने के बाद फिर सब सरल हो जाता है, कठिन है तो यही अन्तर्दृष्टि है और कठिन भी नहीं है। जिसे होना है उसके लिए अत्यन्त सरल है, जिसे नहीं होना है उसके लिए वह उस काल में असम्भव है।

अन्तस्तत्त्व में असहजभावों का अभाव—इस शुद्ध जीवास्तिकाय में किसी भी प्रकार का शुभ परिणमन नहीं है। उसका कारण इसमें कोई शुभ कर्म नहीं है और जब शुभ कर्म नहीं है तो संसार का सुख भी नहीं है। जब संसार का सुख भी नहीं है उस जीव के अंतस्तत्त्व के शुद्ध जीवास्तिकाय के तो उसके हर्ष के स्थान नहीं हैं। इस ग्रन्थ में किसको लक्ष्य करके चर्चा की जा रही है, यह ध्यान में न रहे तो सारी बातें अटपट लगेंगी और वह लक्ष्य दृष्टि में रहे कि किसका वर्णन किया जा रहा है तो बड़े उत्साह के साथ यह इसका श्रोता अथवा ज्ञाता समर्थन करता चला जायेगा। ओह बिल्कुल ठीक है। इस शुद्ध जीवास्तिकाय के कोई मान अपमान हर्ष विषाद के स्थान में नहीं हैं। न इसमें सुख दु:ख हैं और उसी को ही लक्ष्य में लेकर कहा जाता है कि यह जीव न खाता है, न पीता है, न चलता है, न उठता है, न बैठता है और न संसार में रुलता है, न जन्म लेता है, न मरण करता है। कहते जाइए सब। किसको लक्ष्य में लेकर कहा जा रहा है यह ध्यान में न रहे तो सारी बातें अटपट लगेंगी और ध्यान में रहे तो ये सब उसे युक्ति युक्त प्रतीत हो जायेंगी।

विडम्बनावों के अभाव का उपाय विडम्बनारहित स्वभाव का परिचय—जैसे इस शुद्ध जीवास्तिकाय में अथवा कारणसमयसारस्वरूप आत्मा के इस अंतस्तत्त्व में जैसे शुभ परिणमन भी नहीं है ऐसा ही इसका अशुभपरिणमन भी नहीं है। जब अशुभपरिणमन नहीं है तो अशुभ कर्म भी नहीं हैं। अशुभकर्म नहीं हैं तो दु:ख भी नहीं है। जब दु:ख ही नहीं है तो हर्ष के स्थान कहां से हों, विषाद के स्थान भी कहां से हों? इस जीव की ऐसी आंतरिक दृष्टि नहीं होती और बाहर ही बाहर यह अपना स्वरूप निरख रहा है तो उसकी ही तो ये सब दशाएँ हैं, इनसे निवृत्ति कैसे हो? इसका उपाय इन विडम्बनाओं से रहित स्वभाव का परिचय करना है। अपने आपका जैसा जब परिणमन हो रहा है तन्मात्र अपनी प्रतीति बनाए हैं तो वहाँ से हटकर स्वभाव की उपासनारूप मोक्ष का उपाय करेगा कहां से?

अपने को तुच्छ मानने पर पुरुषार्थ का अभाव—एक देश में कोई शत्रु आ घुसा तो राजा ने उस पर चढ़ाई की और नगर में घोषणा की कि जो-जो भी युद्ध में आना चाहें उन्हें प्रवेश किया जायेगा। तो एक घर की स्त्री अपने पति से बोली कि देखो सब लोग राष्ट्र के लिए अपने आपको समर्पण कर रहे हैं तो तुम भी राष्ट्र की रक्षा के काम आवो अर्थात् सेना में भरती हो जावो और अपने देश में विजयपताका फहरावों। पति था डरपोक। सो वह बोला कि अरे हम कैसे जाएं, वह तो युद्ध है, वहाँ बड़ी भयंकर स्थिति होती है। वहाँ तो लोग मर ही जाया करते हैं तो स्त्री ने जतला में चने दलकर दिखाए। तो उन चनों में से कुछ के तो दाल निकल गई, दो-दो टुकड़े-टुकड़े हो गए, कुछ भूसी हो गई और कुछ यों के यों ही समूचे निकल आए। तो स्त्री कहती है कि देखो युद्ध में सभी नहीं मारे जाते हैं, कितने ही मारे जाते हैं और कितने ही बच जाते हैं। देखो इस जतला में ये चने ओरे गये हैं ना तो कितने ही चने साबुत निकल गए। तो जैसे ये सभी नहीं पिस जाते हैं ऐसे ही युद्ध में सब नहीं मारे जाते हैं। वह पुरुष कहता है कि जो साबित चने निकल आए उनमें हमारी गिनती नहीं है, हमारी तो गिनती उनमें है जो चूर बन गए हैं—ऐसे ही हम सब संसारी जीव अपने आपको परिणमनस्वरूप मानते रहते हैं, पर्याय मात्र, स्वभाव का पता ही नहीं है। अपने को स्वभावमात्र मानने का उत्साह बनाया तो वहाँ देखो तुरन्त ही आकुलताएँ दूर हो जायेंगी।

ज्ञातृत्व से सहज योग्य व्यवस्था—भैया ! आकुलता कोई बाहर की बात नहीं है। अपने मन की खोटी कल्पना है, जो मन को आकुलित बनाती है। यदि शुद्ध मन, शुद्ध विचार बनाया तो आकुलता दूर हो जाती है। कोई बाह्य पदार्थों की परिणति में अनुकूलता और प्रतिकूलता का लेखा-जोखा बनाए रहते हैं उससे ऐसी कल्पना बनती है कि दु:ख का कारण बन जाता है। बाहर का कहीं कुछ परिणमन हो उसके ज्ञाता द्रष्टा रहो। व्यावहारिक सम्बन्ध है किसी से तो उसे अपने से पृथक् मानकर अपना कर्तव्य करते रहो, पर उनके प्रतिकूल होने पर क्षोभ क्यों करते हो? राग और द्वेष करना तो गोरखधंधे का काम है। जैसे कमेटियों में कोई पुरुष अधिकारी ईमानदारी है और सच्चाई से कार्य करने वाला है, किसी भी प्रकार के गोरखधंधे का काम नहीं है तो वक्त आने पर दूसरे के प्रतिकूल होने पर वह तुरन्त कह देता है कि भाई काम किया तो तेरे हित का है और न जंचे तो यह रखा है तुम्हारा सब काम। तो ऐसे ही जो ज्ञानी पुरुष होते हैं, गृहस्थ हों अथवा साधु जन हों जिनका जितना प्रसंग है उस प्रसंग में प्रतिकूल चलने वाले शिष्यों को या कुटुम्ब को समझाता है, हित तुम्हारा इसमें है, अहित की चाल मत चलो और न माने तो उसके ज्ञाता द्रष्टा होकर बरी हो जाता है।

ऐसी प्रकृति किसी में हो तो कुटुम्ब के लिए, फिर तो जिसे कहते हैं हाँ-हाँ करके मान जाय, यों व्यवस्था बन जायेगी।

मात्र गल्पवाद से अव्यवस्था—जैसे कभी घर में झगड़ा हो जाता है तो पति भी अनेक धमकी देता है अथवा पत्नी अनेक धमकी देती है। हम ऐसे करेंगे, भाग जायेंगी, गिर जायेंगे, ऐसा कहते हैं और करते कुछ नहीं हैं केवल बात करके ज्यों के त्यों हिल-मिल करके रहते हैं। यह बात मालूम है इसलिए पचासों झगड़े हो जाते हैं। यदि यह विदित हो जाय कि जो यह कहते हैं सो करते हैं तो डर भी बना रहे कुटुम्बी जनों को। यदि यह विदित हो कि मेरा संरक्षक बड़े शुद्ध विचारों का है इसके रागद्वेष नहीं, मोह ममता भी नहीं। हम प्रतिकूल चलेंगे तो किसी भी समय कोरा जवाब देकर छोड़ देगा। उसका विचार यह रहेगा तुम जैसी चाहे चाल चलो, हम तो ज्ञाता द्रष्टा हैं, प्रयोजन नहीं हैं, तो इस उदारवृत्ति को देखकर परिजन और अधिक व्यवस्था में रहेगा और न रहा तो क्या, पर अपनी बात तो संभालनी चाहिए। साधुजन तो देखते हैं कि इसमें रागद्वेष का प्रसंग हो जायेगा तो वे वहाँ तत्त्वचर्चा भी नहीं करते। अन्य बातें तो जाने दो। जैसे कहते हैं कि वह सोना किस काम का जो कान नाक फाड़ डाले। यह एक आहाना है। इसी तरह वह धर्मचर्चा, वह तत्त्व चर्चा भी किस काम की है जिसके आलम्बन से रागद्वेष घर कर जाय और अपने आपमें मलिनता उत्पन्न हो।

वीतराग विज्ञान की रुचि का प्रताप—वीतराग विज्ञान की रुचि रखने वाले ज्ञानी संत अंतर में आकुलित नहीं होते हैं। इस जीव के न शुभ अशुभ परिणमन हैं, न पुण्य पाप कर्म हैं, न संसार के सुख दुःख हैं और न हर्ष विषाद के स्थान हैं। अंतरङ्ग में ज्ञानस्वभाव स्वरूप अंतस्तत्त्व की बात कही जा रही है। जो प्रीति और अप्रीति रहित शाश्वत पद है, जो सर्वथा अन्तर्मुख और प्रकट प्रकाशमान् सुख में बना हुआ है, आकाश की तरह अकृत्रिम है, सहज स्वभावरूप द्वारा ज्ञान में गोचर ऐसे इस शुद्ध अंतस्तत्त्व में तू रुचि क्यों नहीं करता है और पापरूप संसार के सुखों की वाञ्छा क्यों करता है? जो कल्याणस्वरूप है, श्रम से रहित है, आनन्दामृत से भरपूर है, ऐसे सहजस्वभाव का अवलम्बन तो न किया जाय और जो अनेक दुःख संकटों से भरा हुआ है जिसमें अनेक पराधीनताए बसी हुई हैं, ऐसी विषय सुखों की वाञ्छा की जाय, यह तो सब अज्ञान मोह का प्रसाद है। बड़े विवेक और उत्साह की आवश्यकता है। जो चीज दो दिन बाद मिट जायेगी उस चीज में यदि इस जीवन में मोह न हो सका, ज्ञातृत्व ही रहे तो इसे लाभ नियम से मिलेगा अन्यथा इस जीव को लाभ और कल्याण की बात किसी भी समय प्राप्त नहीं होती।

आचार्यदेव द्वारा सम्बोधन—कुन्दकुन्दाचार्यदेव भव्य जीवों को प्रेरणात्मक पद्धति में कह रहे हैं कि हे आत्मन् ! तुम इस चेतनात्मक स्वरस से भरे हुए लबालब इस निज परमात्मतत्त्व में बुद्धि क्यों नहीं करते हो? और संसार के जो पाप कर्म हैं उनमें तुम सुख की इच्छा क्यों करते हो? देखो यह आनन्दनिधान सर्वस्वशरणभूत परमात्मतत्त्व शाश्वतस्वपदरूप है, प्रीति और अप्रीति से विमुक्त है, सर्वप्रकार अन्तर्मुख होकर अभेदभाव में जो अनाकुलता का सुख उदित होता है उससे यह निर्मित मानो। आकाश बिम्ब की तरह आकार में रहता है अर्थात् अमूर्त है—जो सम्यग्ज्ञानियों के ज्ञान का विषयभूत है उसमें तुम बुद्धि नहीं करते और संसार के जो कर्म हैं, जिनका फल कटुक है उनकी तुम इच्छा करते हो। प्रीति और अप्रीति के विकल्पों को त्यागकर

निर्विकल्प ज्ञायकस्वरूप इस तत्त्व का आदर करो। और भी देखो, यह शुद्ध आत्मतत्त्व उज्ज्वल और केवल है।

गाथा 40

णो ठिदिबंधट्ठाणा, पयडिट्ठाणा पदेसठाणा वा।
णो अणुभागट्ठाणा, जीवस्स ण उदयठाणा वा।।40।।

जीव के बन्धोदय स्थानों का अभाव—इस जीव के साथ विभावरूप अथवा विभाव का कारणभूत 4 प्रकार का बन्ध व उदयसम्बन्धी स्थान व्यवहारनय की दृष्टि में लगा हुआ विदित होता है। प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध, प्रदेशबंध और उदय स्थान या बंध और उदय के स्थान—ये सब इस जीव के कुछ नहीं हैं। यह जीवस्वरूप कारणसमयसार सहज आत्मस्वभाव नित्य है और नित्यनिरुपराग निजस्वरूप है। इसमें अन्य कोई तत्त्व की लपेट नहीं है। भले ही उपाधि का निमित्त पाकर इसमें उपराग रंग आये, पर इसके स्वभाव से स्वरस से इसमें किसी प्रकार का उपराग नहीं है। वस्तु अपने सत्त्व के द्वार से उसही रूप है जैसा स्वभावरूप वह शाश्वत रहता है।

जीव के स्थितिबन्धस्थानों का अभाव—यह अंतस्तत्त्व जो कि भव्य जीवों के लिए उपादेयभूत है वह नित्य है और निरुपराग स्वभाव है, जिसमें किस प्रकार का अञ्जन नहीं है, द्रव्यकर्म का प्रवेश नहीं है ऐसे निज परमात्मतत्त्व के स्थितिबंध स्थान नहीं है। यह बद्ध कर्म, जघन्यस्वरूप को लिए हुए है, मध्यम स्थिति को भी लिए है और उत्कृष्ट स्थिति वाला भी है ऐसा कुछ है तो रहा कर्म में। वे कब तक रहते हैं कर्मरूप और कब कर्मरूप नहीं रह पाते हैं, यह बात उन कामार्णवर्गणावों में है। और भले ही यह बात जीव के काम का निमित्त पाकर हुई है पर इसके स्वरूप से निरखें तो यह स्थितिबंध स्थान इस निज परमात्मतत्त्व में कहीं नहीं है। यह तो निज सहज ज्ञायकस्वरूप से ही निर्मित है।

प्रकृतिबन्धस्थान—इस प्रकार उन कर्मों में प्रकृति पड़ी हुई है, अमुक वर्गणाएँ ज्ञान के आवरण में निमित्त होगी, अमुक दर्शन गुण को प्रकट न होने देने में निमित्त हैं, कोई जीव के सुख अथवा दुःख के वेदन में निमित्त है, कोई इसकी दृष्टि विपरीत करने में और कोई इसकी वृत्ति विरुद्ध बनाने में निमित्त है, कोई कर्म इस जीव को शरीर में बनाए रहने के लिए निमित्तभूत हैं, कोई कर्म इस जीव के शरीर की रचनावों में निमित्तभूत हैं, कोई ऊँच-नीच का वातावरण बनाने में निमित्त है, कोई योग्य मनचाही अभीष्ट हितकर तत्त्व की प्राप्ति में विघ्न करने में निमित्त हैं, ऐसी उनमें जो प्रकृति पड़ी हुई है, ऐसी चीज जो कुछ भी हो वह प्रकृति कर्म में है।

जीव के प्रकृतिबन्धस्थानों का अभाव—कर्मद्रव्य अचेतन है, जीव चेतन है। जीव का कुछ गुण पर्याय कर्म में नहीं जा सकता। कर्म का गुण पर्याय जीव में नहीं जा सकता। अत्यन्ताभाव है दोनों का परस्पर में। निमित्तनैमित्तिक भाव उनमें अवश्य है, पर निमित्तनैमित्तिक भाव के सम्बन्ध के कारण उनमें कोई बंधन या गुण प्रवेश जैसी कोई बात हो जाय, यह नहीं हो सकता। भले ही उनमें प्रकृतिबंध के स्थान पड़े हैं, पड़े रहो,

किन्तु वे इस निज परमात्मतत्त्व के कुछ नहीं हैं। ज्ञानावरणादिक 8 प्रकार के कर्म हैं, उन कर्मों में उस-उस प्रकार के योग्य पुद्गल द्रव्यों का अपने आकार में बन जाना अर्थात् स्वभाव बन जाना यह प्रकृतिबंध है और वे प्रकृतिबंध नाना प्रकार के हैं। प्रकृति मूल में 8 प्रकार की हैं और फिर उत्तर में और अनेक भेदों की प्रकृति हैं और सूक्ष्मता से तो असंख्यात प्रकार की प्रकृति है। ये प्रकृतिबंध के स्थान इस निज परमात्मतत्त्व में नहीं होते हैं।

जीव के प्रदेशबन्धस्थानों का अभाव—इस ही प्रकार कार्माणवर्गणावों में प्रदेश उनके स्वयं के हैं और यह जीव स्वयं के प्रदेश में है। जीव के प्रदेश तो ज्ञानादिक गुणों के विस्तारूप हैं, अमूर्त हैं और इस कार्माणवर्गणा के प्रदेश ये मूर्तिक हैं। इनका यद्यपि इस अशुद्ध अंतस्तत्त्व के साथ परस्पर प्रदेश का अवगाह है, एकक्षेत्रावगाह है, तथापि ऐसा उभयप्रदेशबंध अथवा उन कर्मों के परमाणुवों का परस्पर में बंध हो जाना इत्याकारक उनके द्रव्य प्रदेश बंध—ये दोनों के ही दोनों इस शुद्ध निज परमात्मतत्त्व में नहीं हैं अर्थात् जीव का अपने सत्त्व के कारण जो स्वभाव है उस स्वभावरूप अंतस्तत्त्व के प्रदेशबंध स्थान नहीं हैं।

स्वभावदृष्टि होने पर स्पष्ट समझ—इस प्रकार कर्मों में जो बंध पड़ते हैं वे बंध कर्मों से हैं और निमित्त-नैमित्तिक भाव से ये जीव के विभाव के निमित्त से हुए हैं। और इनके साथ बंध हो गया है इतने पर भी जीव किस रूप है उस रूप दृष्टि देकर सोचा जाय तो यह स्पष्ट ज्ञान में आ सकता है बुद्धि बल के द्वारा कि इस जीव के स्वरूप के ये कुछ नहीं हैं। जीव तो जैसा है सो ही है, अपने आप अपने सहज स्वभाव वाला है। भले ही अनादि से ही इसके साथ रंगबिरंगा चला आ रहा हो, तिस पर भी इस जीव के ये बंधस्थान आदिक ये कुछ नहीं हैं।

कार्माणवर्गणाओं में अनुभागबन्ध—इस प्रकार इन कर्मप्रकृतियों में अनुभाग बंध भी होता है। अनुभागबंध का अर्थ यह है कि उन कर्मवर्गणावों में ऐसी योग्यता पड़ी हुई है, ऐसी स्थिति है कि उनका उदय आए तो वह उदय किस प्रकार के किस डिग्री के फल को देने में समर्थ होगा निमित्त होगा। ऐसा अनुभाग बंध पड़ा है। यह अनुभाग बंध कर्मों में कर्मों की योग्यता से है। भले ही जीव का निमित्त पाकर यह सब कुछ हुआ है फिर भी अनुभागरूप पर्याय अर्थात् जीव को अमुक प्रकार की भक्ति में फल पाने के निमित्त हो सकने रूप अनुभाग बंधन यह पुद्गल का पुद्गल में है।

अनुभाग की निमित्तता पर एक लोकदृष्टान्त—जैसे कोई खूब मजबूत चौकी या तखत है, वह बैठने से नहीं टूटता है तो ऐसी शक्ति वाला वह पुष्ट तखत मान लो कि बैठने का निमित्तभूत है, किन्तु यह पुष्टि ऐसी मजबूती तखत में तखत की ही पर्याय से है बैठने वाले की पर्याय से नहीं है। पर ऐसा निमित्तनैमित्तिक मेल देखा जाता है कि आदमी बैठ सकता है तो उसकी पुष्टि उस तखत का निमित्त पाकर बैठ सक रहा है। सिड़यल तखत हो अथवा कपड़ा ही तानकर फर्श कर दिया गया हो तो यह तखत क्या बैठने का निमित्त हो पाता है? तो ऐसा पुष्ट तखत हमारे बैठने आदि का निमित्त है, इतने मात्र से कहीं बैठने वाले का इसमें सम्बन्ध नहीं जुड़ गया। उसकी पर्याय उसका गुण कुछ यहाँ नहीं आया, तखत की बात तखत में है, पर ऐसा देखा जाता है कि इतना पुष्ट हो तो तखत जिस पर मान लो बैठा करते हैं, वह बैठने का निमित्त हो पाता है यहाँ कुछ अन्वय-व्यतिरेक रहित कारणता है, पर इस द्रव्यकर्म का अनुभाग बंधन जो हुआ है और उसही

अनुभाग बंध को लिए हुए उदय में आयेगा तो वहाँ अन्वय-व्यतिरेक बराबर है। इतने पर भी जीव में जो परिणाम हुआ है वह जीव के कारण है। पर इस कार्माणवर्गणा में जो अनुभाग बंधन हुआ है वह कर्माणवर्गणा के कारण से है। वे सब अनुभाग बंध स्थान भी इस जीव के कुछ नहीं हैं।

अनुभाग का विपाक—इस अनुभाग का यह काम है, यह कह लीजिए अर्थात् ऐसे ये निमित्तभूत हैं कि जब ये झड़ने का अपना समय पाते हैं तो सुख अथवा दु:खरूप फल के प्रदान करने की शक्ति से युक्त हैं अर्थात् निमित्तभूत हैं। ये कर्म कब फल देते हैं जब ये मिटने को होते हैं, जब इनकी निर्जरा होने को होती है। फल देकर झड़ना इस ही का नाम उदय है और बिना फल दिए झड़ना इसका नाम है हम लोगों के प्रयोग में आने वाली मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत निर्जरा। जैसे गोष्ठी में होते हैं ना कोई दुष्ट अभिप्राय के लोग, सो जब संग जोड़ने को होते हैं तो वे कोई ऊधम मचाकर कष्ट देकर मिटा करके भागा करते हैं और जब तक गोष्ठी में सम्मिलित रहते है तब तक कुछ भी बात नहीं करते हैं। ऐसी ही इन कर्मों की बात है जब तक ये कर्म जीव के साथ बंधे हुए हैं, सत्त्व में पड़े हुए हैं, चुपचाप हैं तो इनकी ओर से कुछ भारी ऊधम नहीं होता। रहें न रहें बराबर से हैं, जीव को कष्ट के कारणभूत नहीं हैं, किन्तु जब इनके छूटने का समय होता है, उदयकाल होता है तो इनमें जान तो है नहीं। अगर जान होती तो अपन यों कह सकते थे कि ये ऐसा दुष्ट आशय रख रहे हैं कि हम तो मिटने ही वाले हैं, इनको बरबाद करके क्यों न मिटें, सीधे-सीधे क्यों मिटें? फिर भी यों ही समझ लो, ये उदय काल के झड़ने के समय में नाना प्रकार के शुभ अशुभ फल प्रदान करके मिटा करते हैं। और ऐसे फल के देने में जो निमित्तभूत हैं वे हैं अनुभाग बंध।

जीव में अनुभागबन्धस्थानों का अभाव—अनुभाग बंध के स्थान को भी इस निज परमात्मतत्त्व में अवकाश नहीं है। जैसे कोई धातु है, सोना है अथवा पीतल है, उसके ऊपर मिट्टी चढ़ी हो, काई सी लगी हो या जो भी लेप हो सकता हो, होने पर भी ज्ञानी जानता है कि इस धातु में मैल नहीं है। यह ऊपर का प्रसंग है। सोने में जरा जल्दी समझ में आ जाता है, पीतल में भी कुछ-कुछ समझ में आता है, ऐसी समझ उनके है जो उस धातु के स्वभाव पर दृष्टि देते हैं। उसके अन्दर उन्होंने केवल उस धातु के स्वभाव पर दृष्टि दी है। वह कहते हैं कि इसमें मैल नहीं है। पानी में रंग घोल दिया जाय तो पानी रँगीला हो जाता है लेकिन भेददृष्टि वाला वहाँ भी यह समझ रहा है कि पानी में रंग नहीं है। रंग रंग की ही जगह है। रंग में ही रंग है, पानी में ही पानी है। रंग और पानी हैं दोनों अलग-अलग, पर देखने में पानी और रंग अलग-अलग नहीं दिख रहे हैं। पानी में रंग ऐसा व्यापकर फैला हुआ है कि उसे अलग कोई नहीं बता सकता। इतने पर भी ज्ञानी पुरुष जानता है कि रंग यह पानी में नहीं है। पानी तो अपने सहजरूपमय है। रंग रंग में है। यों ही निज परमात्मतत्त्व के सम्बन्ध में भी ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि इस परमात्मतत्त्व में ये किसी प्रकार के बंधस्थान नहीं हैं।

जीव में उदयस्थान का अभाव—जब उनका उदय आता है उस काल में जो द्रव्यकर्म में बात बनती है वह और भावकर्म में याने जीवविभाव में जो बात बनती है—ये दोनों प्रकार के उदयस्थान भी इस निजपरमात्मतत्त्व में नहीं हैं यह आत्मा का अंतस्तत्त्व अपने ही सत्त्व के कारण जैसा है चित्स्वरूप है। केवल उस स्वभाव को देखकर कहा जा रहा है कि इस जीव में न बंधस्थान है और न उदयस्थान है।

स्वभाव में अस्वभाव की अप्रतिष्ठा—किसी मां का बेटा बड़ा सीधा सादा सज्जन आज्ञाकारी धर्मात्मा विनयशील है और किसी गलत लड़के के संग से कुछ उसमें ऊधम की बात आ गयी है जुवा वगैरह या उसमें कुछ ऐसी आदत पड़ गयी है तो अब भी उसकी मां यही कहती है कि मेरे लड़के में तो ऐब है ही नहीं। अरे कैसे नहीं है ऐब, चलो हम दिखा दें। जुवारी के बीच में बैठा है या नहीं और जुवा भी खेलता है या नहीं? हां हमें मालूम हो गया कि कुछ जुवा भी खेलने लगा है, मगर यह आदत अमुक लड़के की लग गयी है। मेरे बेटे में तो कोई ऐब नहीं है। वह मां अब भी दम भरकर कह रही है क्योंकि उसने तो 10-15 वर्ष तक अपने बच्चे की सर्वप्रकार की सज्जनता देख ली है ना, तो ऐब लग जाने पर भी उस ऐब को अपने बेटे में नहीं माना, क्योंकि जो उसका स्वरूप था उस स्वरूप में ही उसे तक रही है। यह तो एक मोटे लोकदृष्टान्त की बात है पर यहाँ तो जब उसके स्वभाव को तका जा रहा है अपने आपके स्वरूप को तो वहाँ तो गुञ्जाइश ही नहीं है कि उसमें उदयस्थान या बंधस्थान बताया जा सके।

स्वभाव के उपयोग में दृष्टव्य—वह आत्मतत्त्व अबद्ध है, स्वतंत्र है, परिपूर्ण है, उसमें दूसरे तत्त्व की चर्चा ही नहीं है, यद्यपि विभाव है मगर किसी पर्वत के शिखर पर खड़े होकर बोला जा रहा है, इसको न पहिचाना जाय तो यह बात समझ में न आयेगी। यह आत्मस्वभाव कारणपरमात्मतत्त्व अपने ही सत्त्व के कारण जैसा अपना सहजस्वभाव हो सकता है उसको दृष्टि में रखकर कहा जा रहा है। इसमें न बंधन है, न स्पर्श है, न अन्य चीज इसके साथ लगी है या न अन्य भावों का यहाँ पर उदय चल रहा है। वे तो सब इसके स्वभाव के बाहर ही बाहर तैरने वाले तत्त्व हैं। ये इस स्वभाव में प्रतिष्ठा नहीं पा सकते। ये द्रव्यकर्म के बंधन चाहें कि हम आत्मस्वभाव का आसन ग्रहण कर लें और इस स्वभाव में एकमेक हो जायें तो यह बात नहीं होती।

निष्कर्ष और उद्बोधन—भैया ! तब फिर ऐसा ही आत्मवस्तु के सम्बन्ध में अनुभव करो ना, अनुभव तो अपने अंत:स्वरूप का ही किया जा सकता है और अपने बाह्यस्वरूप का भी किया जा सकता है। अब यह अपनी छांट की बात है। अज्ञानीजन बाह्यतत्त्वों में ही अपना अनुभव लगाते हैं जब कि ज्ञाता पुरुष बाह्यतत्त्व को अनात्मतत्त्व जान कर अपने अंतस्तत्त्व में दृष्टि लगाया करते हैं। एक उस ही सर्व ओर से प्रकाशमान अनादि अनन्त अहेतुक चित्स्वभाव का ही अनुभव ये क्यों नहीं करते हैं? यदि परमात्मतत्त्व का ही अनुभव करें तो वे मोह से दूर होकर इस सम्यक् स्वभाव को नियम से पा लेंगे। एक यह ही महान् कर्तव्य है कि जो नित्य शुद्ध है, चिदानन्दस्वरूप है, सर्व समृद्धियों का निधान है, विपदावों का जहां रंच भी स्थान नहीं है ऐसे इस उत्कृष्ट पद का ही संचेतन किया करो। ऐसे निज परमात्मतत्त्व के स्वभाव की दृष्टि में सर्वविशुद्धता निरखकर ज्ञानीजन मात्र निज शुद्धस्वरूप का ही अनुभवन करते हैं।

विधिविपाकविवित्तभावना—इस गाथा में बंधस्थान और उदयस्थानों का निषेध किया गया है। यह स्थान निज परमात्मतत्त्व में नहीं होता है। बंधस्थान का तो बंध जाना और उन स्थानों में बंधा रहना, यह कार्य है और उदयस्थान का कार्य है जीव में शुभ अशुभ सुख दु:ख नाना प्रकार के परिणमन होना। ज्ञानी जीव उदयस्थान के प्रसंग में यह चिंतन करता है कि ये कर्मरूप विषवृक्ष से उत्पन्न हुए ये नाना फल जो आत्मा के स्वरूप से विलक्षण हैं उनको छोड़कर सहज चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व को ही मैं भोगता हू, सेवता हू, इस प्रकार जो भावना रखता है और निजतत्त्व के अभिमुख होता है वह बहुत ही शीघ्र मुक्ति को प्राप्त करता है, इसमें कोई संशय

नहीं है। इस विभावस्थान का निषेध करने का प्रयोजन अपने आपको शुद्धस्वभावमय अनुभव करना है। इस जीव को इस लोक में किसी भी समय अन्य कोई शरण नहीं है। केवल आत्मा का यह आत्मा ही अपने आपको शरण है। अब इसके बाद अन्य स्थानों के सम्बन्ध में भी कुन्दकुन्दाचार्य देव कहते हैं—

गाथा 41

णो खइयभावठाणा, णो खयउवसमसहावठाणा वा।
ओदइयभावठाणा, णो उवसमणे सहावठाणा वा।।41।।

इस निज परमात्मतत्त्व में न क्षायिक भाव के स्थान हैं, न क्षायोपशमिक भाव के स्थान हैं, न औदयिक भाव के स्थान हैं और न औपशमिक भाव के स्थान हैं। जीव के निजतत्त्व 5 बताये गए हैं अर्थात् जो जीव में हों वे जीव के स्वतत्त्व हैं। इसमें यह कैद नहीं है कि कोई शाश्वत हो तब तत्त्व हो। चाहे वह शाश्वत हो चाहे वह कदाचित् हो, जो जीव में परिणाम होते हैं वे जीव के स्वतत्त्व कहे जाते हैं। उन पांचों में से पारिणामिक भाव तो आत्मा का सहज शाश्वत तत्त्व है और शेष के चार भाव आपेक्षिक तत्त्व हैं। जीव का स्वभाव किसी परवस्तु के सद्भाव या भाव के कारण नहीं होता। जीव में जो स्वरूप है वह जीव में है, जीव के कारण है वह किसी पदार्थ के सद्भाव के निमित्त से अथवा अभाव के निमित्त से नहीं होता। वह तो सत्त्व के साथ सहज शाश्वत है। इस कारण अन्तस्तत्त्व में चारों भावों के स्थान नहीं हैं। अब उनका विवरण सुनिये।

जीव के क्षायिकभावस्थानों का अभाव—इस निज परमात्मतत्त्व में क्षायिक भाव के स्थान नहीं हैं। कर्मों का क्षय होने पर जो बात बनती है वह क्षायिक भाव है। यद्यपि उपाधिभूत कर्मों के अभाव में आत्मा के स्वभाव वाली बात ही बनती है तथापि यह कर्मों के अभाव से हुआ है ऐसी दृष्टि में उस भाव के प्रति आपेक्षिकता और किसी भी परिणमन का कोई भी भाव स्वभाव, स्वरूप अपेक्षित नहीं होता है। इस कारण जीव में क्षायिक भाव के स्थान भी नहीं हैं। इस सम्बन्ध में एक बात और जानना है कि क्षायिक भाव कर्मों के क्षय के समय में ही कहा जाता है। इसके बाद क्षायिक भाव कहना यह नैगमनय की अपेक्षा कथन है। पूर्व समय की अवस्था का स्मरण करके कहा जाता है कि केवलज्ञान क्षायिक भाव है। क्षय के काल के बाद तो उन्हें इस तरह देखना चाहिए कि जैसे धर्मादिक द्रव्यों में द्रव्यत्व के ही कारण केवल कालद्रव्य का निमित्त पाकर अपने स्वभाव से परिणमन हो रहा है। जैसे धर्म अधर्म द्रव्य के आकाशकाल द्रव्य के परिणमन को क्षायिक परिणमन नहीं कहा, इस ही प्रकार शुद्ध आत्मा का परिणमन है।

क्षायिकभाव के व्यपदेश की अनौपचारिकता व औपचारिकता—आत्मा के शुद्ध परिणमन का जब आदि हुआ था उस काल में क्षायिकभाव पना था। कर्मों के अभाव के निमित्त से जो भाव होता है वह क्षायिकभाव है यद्यपि वस्तुत: ऐसी बात है तथापि जैसे जीव व पुद्गल के परिणमन का राज जानने के लिए जीव और पुद्गल की उस विलक्षण परिणमन शक्ति का नाम विभाव शक्ति रख दिया गया है—ऐसे ही शुद्धात्मपरिणमन का पूर्वीय राज जानने के लिए क्षायिक नाम रखा है। जीव व पुद्गल में भाव की शक्ति वह एक ही है। विभावशक्ति नाम उसका वस्तुत: नहीं है अन्यथा स्वभावशक्ति भी माननी चाहिये, तब इस जीव में या पुद्गल

में दो शक्तियां मान ली जायेंगी—एक स्वभावशक्ति और एक विभावशक्ति। जब जीव में ये दो शक्तियां मान ली जाये तो सदा काल इन दोनों शक्तियों का परिणमन भी युगपत् होते रहना चाहिए, किन्तु ऐसा कहाँ हुआ कि एक ही काल में स्वभावपरिणमन भी हो और विभावपरिणमन भी हो। कोई शक्ति बिना परिणमन के नहीं रहती, तब वहाँ वास्तविक बात क्या है? जैसे सभी द्रव्यों में परिणमनशक्ति पायी जाती है, इस ही प्रकार जीव और पुद्गल में भी भावशक्ति मानी गई है, किन्तु यह जानने के लिए केवल 6 जाति के द्रव्यों में से केवल जीव और पुद्गल ही ऐसे द्रव्य हैं कि जो उपाधि का सन्निधान पाकर स्वभाव के विरुद्ध भी परिणम सकते हैं। इस विशेषता को साफ झलकाने के लिए उस शक्ति का नाम विभावशक्ति रखा गया है। यों ही यह भाव कर्मों के क्षय से प्रादुर्भूत हुआ था, यह बताने को अब भी क्षायिकभाव उसे कहते हैं।

क्षायिक व्यपदेश की आपेक्षिकता—अब यों समझ लीजिए कि विभावशक्ति के दो परिणमन माने गये हैं—एक विभावशक्ति का विभावपरिणमन और एक विभावशक्ति का स्वभावपरिणमन। छः प्रकार के द्रव्यों में से सिर्फ जीव व पुद्गल में स्वभाव परिणमन हो सकता है। केवल इस विशेषता का द्योतन करने के लिए ही विभावशक्ति शब्द डाला है। अर्थ वहाँ भी यह निकलता है कि भावशक्ति के दो परिणमन हैं—विभावपरिणमन और स्वभावपरिणमन। जैसे उस भावशक्ति को कुछ और विशेषता से समझाने के लिए विभावशक्ति का नामकरण किया वैसे ही व्यवहार में यों समझिये कि सिद्ध प्रभु के अनन्तकाल तक प्रवर्तने वाले उस शुद्ध परिणमन को क्षायिकभाव यों बोलते हैं कि उसका सारा राज भी एक शब्द से मालूम हो जाये, परन्तु परमार्थ से जैसे उदय के काल में औदयिकभाव है, क्षयोपशम के काल में क्षायोपशमिकभाव है, उपशम के काल में औपशमिकभाव है—ऐसे ही क्षय हो रहे के काल में क्षायिकभाव है। ये क्षायिकभाव के स्थान इस आत्मतत्त्व में नहीं है। होते हैं—स्वभावरूप हैं, फिर भी ऐसी आपेक्षिकता जीव के स्वभाव में नहीं है।

जीव में क्षायोपशमिकभावस्थानों का अभाव—इसी प्रकार कर्मों का क्षयोपशम होने पर जो परिणाम होता है, वह इस कारणपरमात्मतत्त्व में नहीं होता है। यह उपयोग चैतन्य में कैसा प्रतपन कर रहा है, जिसके आश्रय के प्रताप से भव-भव के संचित कर्म लीलामात्र में क्षय को प्राप्त होते हैं। जो जहां की कुञ्जी होती है, जो जहां का पेच होता है उसको छोड़कर यहाँ वहाँ कुछ भी यत्न किया जाय तो वह यन्त्र नहीं चलता है। इस ही प्रकार मोक्ष की तो कुञ्जी है स्वभावदृष्टि और स्वभावदृष्टि की निरन्तरता को छोड़ करके अन्य-अन्य मन वचन, काय की क्रियायें की जायें तो उससे यह मोक्ष की उपलब्धि नहीं होती है। ये बाह्य क्रियाएं भीतर के ज्ञानप्रकाश के साथ कीमत वाली हैं। जैसे बड़े आदमी के साथ छोटे आदमी की कीमत पाते हैं, यों ही इस ज्ञानविकास के रहते संते इस ज्ञानी पुरुष के जो शरीरादिक की प्रवृत्तियां होती हैं—व्रत, तप, संयम आदिक वे सब भी मूल्य रखने लगते हैं।

अन्तस्तत्त्व के परिचय बिना मोक्षमार्ग का अभाव—जैसे एक का एक अङ्क हो तो उसके ऊपर जितने भी शून्य रखे जायेंगे; वे दस-दस गुणा मूल्य बढ़ा देंगे। एक पर एक बिन्दी रखें तो 10 गुणा हो गया याने 10। 10 पर एक बिन्दी रखें तो उसका 10 गुणा हो गया याने 100। 100 पर एक बिन्दी रखें तो उसका 10 गुणा हो गया याने 1000। एक के होते संते बिन्दी को रखते ही 10 गुणा मूल्य बढ़ता है और एक का अंक न रहे तो इन बिन्दियों का रखना एक अपना समय खोना है और व्यर्थ का श्रम करना है। बिना एक के अंक के

उन बिन्दियों का मूल्य कुछ नहीं निकलता है। इस ही प्रकार निजआत्मतत्त्व के सम्बन्ध में श्रद्धान् हो, ज्ञान हो और अन्तर में ऐसा ही स्वरूपाचरण चलता हो, उस ज्ञानी जीव के जो मन, वचन, काय की प्रवृत्ति होती है, वह सब भी व्यवहार में मूल्य रखती है और उसी के सहारे एक धर्मतीर्थ चलता है और धर्म का मूर्तरूप संसार में चला करता है। एक यह ज्ञानभाव ही न हो गांठ में तो ये सब क्रियाएं भी शून्य की तरह कीमत नहीं रखती हैं।

मुक्ति की प्रयोजनकता—भैया ! कोई कहे कि न हो ज्ञान तो उन व्रत, तप आदिक से कोई स्वर्ग तो न छुड़ा लेगा, स्वर्ग तो मिल ही जायेगा, यह बात ठीक है। यदि मन्दकषाय हो तो व्रत, तप आदिक क्रियाओं से स्वर्ग मिल जाएगा अज्ञान के भाव वाले को भी, किन्तु कषाय से ही व्रत, तप किया जा रहा हो तो वहाँ तो स्वर्ग भी नसीब नहीं है। और फिर हो जाए स्वर्ग, लेकिन वह प्रयोजन तो है ही नहीं, जिस प्रयोजन में धर्म होता है। जहां प्रयोजन नहीं है, वहाँ मूल्य भी कुछ नहीं हैं। अत: सर्वप्रयत्न करके चुपचाप ही अपने आपमें अपने आपकी साधना कर लें। यह बात ऐसी गुप्त है कि जैसे वोट देने वाले गुप्त हुआ करते हैं। अब वहाँ नाराजी किस पर की जाए? इसी तरह यह अन्तर की साधना ऐसी गुप्त है कि इसको सुनकर किसी को नाराज न होना चाहिए कि हमको कुछ झूठा कहा जा रहा हो या विपरीत कहा जा रहा हो। यह तो अपने आपके अन्तर में गुप्तरूप से ही अपने आपसे करने की बात है। कर लिया जाए तो सिद्धि मिल ही जाएगी। न कर सके तो यह दृष्टि बनाओ कि हमको यह करना है, इसको किए बिना अन्य कुछ करना कुछ भी मूल्य नहीं रखता है। यह उस परमात्मतत्त्व की बात कही जा रही है कि जिसमें दृष्टि आने पर सर्ववैभव स्वयमेव मिल जाता है।

मूलतत्त्व की दृष्टि—एक राजा गया परदेश। बहुत दिन हो गए, पर न आ सका घर। राजा ने सब रानियों को सूचना भेजी कि अब हम हफ्ते भर बाद में आयेंगे। जिस रानी को जो चीज चाहिए पत्र में लिख दे। किसी रानी ने लिखा कि बङ्गलौर की साड़ी, किसी रानी ने लिखा कि कोई चमकदार गहना, किसी रानी ने कुछ आभूषण मांगे। छोटी रानी ने केवल एक 1 का अङ्क ही लिखकर अपने हस्ताक्षर कर दिये। जब राजा ने सभी पत्र खोले तो सभी पत्रों को तो पढ़ लिया, पर छोटी रानी का पत्र कुछ समझ में नहीं आया। तो राजा ने मन्त्री से इसका अर्थ पूछा। मन्त्री ने बताया कि महाराज ! और रानियां तो साड़ियां और गहनें इत्यादि चाहती हैं, पर छोटी रानी केवल एक आपको ही चाहती है। एक हफ्ते बाद जब राजा महल में गए तो जिस रानी ने जो कुछ मांगा था, उसके महल में वह चीज पहुंचा दी और स्वयं छोटी रानी के महल में पहुंच गए। अब यह बताओ कि सारा वैभव किसको मिला? अरे ! सारा वैभव, सारी सेना और सारा का सारा राज्य उस छोटी रानी को ही तो मिला। तो जिसकी एक पर ही दृष्टि है, उसको तो ये सभी वैभव मिल जाते हैं। वह एक वैभव है कि अपने सहज ज्ञानस्वभाव की दृष्टि होना।

जीव में औदयिक भावस्थानों का अभाव—सहजस्वभावमय परमात्मतत्त्व इस क्षायिक आदिक चारों भावों की साधना से परे है। इस आत्मा में जैसे क्षायोपशमिक भावों के स्थान नहीं हैं, इसी प्रकार औदयिक भाव के स्थान भी इस आत्मतत्त्व में नहीं हैं। कर्मों का उदय होने पर जो परिणाम होते हैं, उन्हें औदयिकभाव कहते हैं। अब समझ जाइए जहाँ यह बात कही जा रही है कि इस आत्मा के क्षायिकभाव के स्थान नहीं है,

क्षायोपशमिक भाव के स्थान नहीं है और विचार, विकल्प आदिक औदयिकभावों के भी स्थान नहीं हैं, वहाँ कुटुम्ब और धनवैभव की चर्चा करना तो बड़े ही अप्रसंग की बात है।

अत्यन्त भिन्न पदार्थों की चर्चा एक अनमेल प्रसंग—जैसे कोई मंदिर में पूजा करता ही करता कहने लगे कि भूख लगी है रोटी लावो तो यह कैसी बेमेल बात लगेगी? ऐसे ही जहां यह कथनी हो रही हो, इस आत्मा के ये क्षायिक आदिक स्थान भी नहीं हैं तब फिर कुटुम्ब, परिवार, धन, वैभव, देह इन सबके विकल्पों में लगना कि यह तो मेरा है, ये बेमेल अप्रासंगिक बात के अटपट विकल्प समझिये। मगर मोह की लीला भी इतनी गजब की है कि इस चर्चा के प्रसंग में भी किसी-किसी का ख्याल आ ही जाता होगा। अपनी दुकान घर आदि का ख्याल आ ही जाता होगा; किसी का ख्याल न आता हो और हमने चर्चा छेड़ दी तो शायद आ गया होगा और इतने पर भी न आए तो आपका काम अच्छा है और हमने खोटी बात छेड़ दी यों समझ लीजिए।

जीव में औपशमिकभाव स्थानों का अभाव—इस जीव के जैसे औदयिक भाव के स्थान भी नहीं हैं, इस ही प्रकार कर्मों के उपशम होने पर जो औपशमिक भाव होता है आत्मा के अल्पकाल की स्वच्छता में होता है उस स्वच्छता के स्थान भी इस आत्मा में नहीं हैं। वह तो एक सहज सत् है। यदि आत्मा कभी केवल होता और बाद में यह भाव लग जाता औदयिक आदिक तो यह बात जरा शीघ्र समझ में आ जाती कि इस आत्मा के ये औदयिक औपशमिक आदिक स्थान नहीं हैं, लेकिन अब प्रज्ञा का बल विशेष लेना पड़ रहा है क्योंकि इस आत्मा में अनादि से ही ये भावस्थान उतरते चले आ रहे हैं और हम इन्हें मना करें इसमें प्रज्ञाबल की विशेष आवश्यकता है। जैसे बाजार में ऐसे वृक्षों के चित्र के कार्ड मिलते हैं—दो तीन पेड़ों की चित्रावली उसमें बनी होती है। उसमें इस तरह से शाखापत्ती आदि बने होते हैं कि जहां कुछ नहीं लिखा गया वहाँ कभी गधे के आकार, कभी बैल के आकार, कभी पक्षी के आकार बन जाते हैं। देखने में शीघ्र नहीं जान सकते कि इसमें सिंह का चित्र है पर एक बार परिचय हो जाय तो देखते ही तुरन्त सिंह चित्र दिख जायेगा। ऐसे ही इस आत्मा में नाना चित्रावली पड़ी है। उस चित्रावली के होते हुए भी अन्तर में स्वभाव अंत:प्रकाशमान् जो शाश्वत तत्त्व है, उसकी जिन्हें दृष्टि नहीं हुई उन्हें तो इस चित्ररूप ही अपना सर्वस्व नजर में आ रहा है और जिसे उस स्वभाव का परिचय हुआ है उसने तो जब चाहे, दृष्टि की और दर्शन किये, जो कि स्वाभाविक पारिणामिक भावस्वरूप आत्मतत्त्व की चर्चा है। तो आत्मा में ये चारों प्रकार के स्थान नहीं हैं।

क्षायिकभाव के भेद—भैया ! उन्हें और विशेषता से जानना हो तो इसके भेद प्रभेद के द्वारा इसका स्वरूप विस्तार जान लो। जैसे क्षायिक भाव 9 प्रकार के बताये गए हैं—क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, क्षायिक वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र। अब इन सबके निमित्तों को भी जानो।

केवलज्ञान भाव—केवलज्ञान ज्ञानावरण के क्षय से होता है, हुआ है, पर अनन्त काल तक अब जो वर्तेगा वहाँ आत्मा का वह स्वभावपरिणमन चल रहा है यों देखो। यदि यों ही देखते रहोगे कि किसी समय इस आत्मा में कर्म लगे थे, उन कर्मों का क्षय हुआ है तब यह केवलज्ञान हुआ है, फिर यहाँ तो ऐसा हाल हुआ कि गये तो हम भगवान् की स्तुति करने और भगवान् के पूर्व के अपराध गाने लगे। इन भगवान् के पहिले कर्म लगे थे।

जब उन कर्मों से छुटकारा हुआ तब यह स्वभाव पाया। स्वभाव के अनुरागी पुरुषों को स्वभावपरिणमन ही दिखेगा। भैया ! कहां तो ज्ञानी की ऐसी वृत्ति कि वर्तमान भी अपराध हो तो वे उन्हें भी नहीं देखना चाहते। फिर पूर्व काल के अपराध ख्याल करके भगवान् के गुण गाये इसमें अनुराग की क्या प्रबलता मानी जाय? भगवान के अब क्षायिक भाव है यह ऐसे ही कहा जा सकता है जैसे कि पूर्वकृत अपराधों का ख्याल करते हुए कहा जाय। अरे जैसे अब धर्म अधर्म आकाश काल द्रव्य हैं वैसे ही तो समस्या उनकी है कि कुछ अन्तर है। जैसे ये शुद्ध पदार्थ शाश्वत शुद्ध अपने स्वभावपरिणमन रूप परिणमते हैं ये सिद्ध प्रभु अब उन्हीं द्रव्यों की भांति ही तो अपने स्वभाव के परिणमन से परिणमते चले जाते हैं। अब वहाँ क्षायिकभाव स्थान तकना यह स्वरूप के अनुरागी के योग्य काम नहीं।

स्वरूप का अनुराग—जैसे लोग कहा करते हैं जब दूल्हा सजकर गांव से जाता है बारात के साथ तो अंत में दूल्हा की मां दरवाजे पर खड़े होकर कुछ गीत भी गाया करती है—जुवा आदि में कहीं भी न अटक जाना, इस बारात में सफल होकर आना, असफल होकर न आना। जब तक वह दूल्हा अपने घर न पहुंचता तब तक उसकी मां उसके आने की बाट जौहती है। जब वह दूल्हा अपने घर पहुंच जाता है तो उसकी मां बड़ी हर्षित हो जाती है। फिर वह मां अपने मन में कोई विचित्र कल्पना नहीं उठाती अथवा जैसे आपत्तियों में फंसा हुआ कोई बालक संकटों से छूटकर जब मां के पास आता है तो उस समय वह मां उस बालक के गुणों का अवलोकन करती हुई पूर्व की सब बातों को भूलकर निर्दोष निगाह में उस बालक को देखती है। यों ही स्वरूप का अनुरागी पुरुष प्रभु के वर्तमान स्वभाव परिणमन की एक विचित्र छटा को ही निरखता है, उनका स्तवन करता है। ये चारों प्रकार के भावस्थान इस आत्मतत्त्व के नहीं हैं।

कैवल्य अपरनाम पवित्रता—इस शुद्ध भावाधिकार में इस चित्स्वभाव की शुद्धता को प्रकट किया जा रहा है कि उसके संग में कोई परपदार्थ नहीं रहना चाहिए। जैसे चौकी पर कबूतर की बीट पड़ी हो तो उसे अशुद्ध कहते हैं, तब किसी भाई से यह कहा करते हैं कि इस चौकी को शुद्ध कर दो, तो वह क्या करता है कि बीट का नाम मात्र भी न रहे ऐसी स्थिति बनाता है, पानी से धो देता है। अब चौकी केवल चौकी रह गयी, उस बीट का अंश नहीं है इसी के मायने है चौकी शुद्ध हो गयी। कपड़ा पहिन लिया तो पहिनने से वह अशुद्ध हो गया। शरीर के अणु, जीवाणु, गंदगी, पसीना उस कपड़े से लग गया, कपड़ा अशुद्ध हो गया तो कहते हैं कि यह तो कपड़ा अशुद्ध है इसे शुद्ध करो। तो क्या करना कि शरीर से सम्बन्ध होने के कारण जो उसमें अशुद्धि की बात आयी है उसे दूर कर दो। उसका उपाय क्या है कि पानी से खूब धो लो। अब यह कपड़ा कपड़ा मात्र रह गया, उसके साथ गंदगी, पसीना ये सब कुछ नहीं रहे। यही तो कपड़े का शुद्ध होना है। आत्मा का शुद्ध होना क्या कहलाता है? आत्मा के साथ जो मल लगा है, सम्बन्ध जुटा है, शरीर का सम्बन्ध है, द्रव्यकर्म का सम्बन्ध है, भावकर्म का समवाय है, इतने परभाव इसके लगे हैं उन्हें हटा दीजिए इसी के मायने आत्मा शुद्ध हो गया है। और शुद्ध आत्मा का नाम भगवान हैं।

स्वभाव की व्यक्ति अपरनाम शुद्धता—भैया ! भगवान् होने पर कुछ उनमें बढ़ोतरी नहीं हो जाती है। भगवान से अधिक बढ़ोतरी तो संसारी जीव में है (हंसी)। देखो इस संसारी जीव के साथ तो शरीर है। भगवान शरीर से हाथ धो चुके हैं, अब उन्हें शरीर मिलता कहां है? इस संसारी जीव ने तो एक शरीर छोड़ा और नया

शरीर पाया तो भगवान से अधिक बढ़ोतरी इस संसारी जीव में है ना। भगवान में तो वे ही अकेले हैं, उनके साथ कोई दूसरी चीज नहीं है और यहाँ संसारी जीव के साथ शरीर भी लगा है, द्रव्यकर्म भी साथ है, भावकर्म भी विविध है। भगवान तो शुद्ध हो गए, अब वे एकरूप ही परिणम रहे हैं वे ऐसी हजारों कलाएं नहीं खेल सकते हैं। ये संसारी जीव पेड़ बन सकते, कुत्ता, गधा आदि बन सकते तो शुद्धता में बाहरी चीजों का संग हटता है लगता कुछ नहीं है। प्रभु शुद्ध हैं तो बाहरी संग प्रसंग हट गए।

सहजविकास—अब यह देखते हैं कि उनमें अनन्तज्ञान हो गया, अनन्तदर्शन हो गया। अरे ! हो गया तो उसमें उनका क्या है? जब बाह्य चीजें न रही तो यह अपने आप हो जाता है। कला तो इस संसारी जीव के है कि जो इसमें नहीं बसा, वह भी करके दिखाए, पर भगवान प्रभु में यह कला नहीं है। आखिर सब भगवान ही तो हैं। बिगड़ जायें तो भी चमत्कार दिखा दें और शुद्ध हो जाएं तो वहाँ स्वभाव का चमत्कार दिखा दें। परद्रव्य का और परभाव का सम्बन्ध न रहे तो ऐसा शुद्ध अन्तस्तत्त्व जब बतायेंगे, तब उन सब बातों का निषेध करना होगा, जो परद्रव्य है या परभाव है, आपेक्षिकभाव है। उसी प्रसंग में यहाँ यह चल रहा है कि इस शुद्ध अन्तस्तत्त्वरूप आत्मा के न क्षायिकभाव के स्थान हैं, न क्षायोपशमिक स्थान हैं, न औदयिक भाव के स्थान हैं।

क्षायिक भावों में प्रथम प्रगट होने वाला भाव—क्षायिक भाव के भेद 9 हैं, उनमें से प्रथम तो क्षायिक सम्यक्त्व है अर्थात् क्षायिक सम्यग्दर्शन पहिले प्रकट होता है। क्षायिकभाव में सर्वप्रथम प्रकट होने वाला भाव है तो क्षायिक सम्यक्त्व है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति—इन सात प्रकृतियों के क्षय होने से क्षायिकसम्यक्त्व प्रकट होता है।

सम्यक्त्वघातक क्रोध—अनन्तानुबन्धी क्रोध वह है जहां अपने ही स्वभाव की रंच भी स्मृति नहीं है और पर्याय को ही आत्मस्वरूप माना जा रहा है। इस स्थिति में जो-जो भी क्रोध हो, वह सब अनन्तानुबन्धी क्रोध है। इस क्रोध से यह जीव अपने स्वरूप की बरबादी करता है और खुद का बिगाड़ करता है। कषायों से दूसरों का बिगाड़ नहीं होता है। खुद ही अपनी बरबादी किया करता है।

सम्यक्त्वघातक मान—इसी प्रकार मान कषाय स्वरूपविस्मरण सहित जो घमण्ड की परिणति है, वह सब अनन्तानुबन्धी मान है। मान में यह अपने को भूल जाता है। जो कुछ है, सो मैं ही हू। चाहे वह मानी पुरुष भगवान् की भी पूजा करे, फिर भी महत्ता अपनी ही अपने को जंचेगी वहाँ तो यह जंचेगा कि होता है कोई भगवान्, पर चतुराई महत्ता कोई सब मेरी है। जो अपने आगे भगवान् को भी विशेष नहीं समझता, वह दूसरों को तो जानेगा ही क्या?

सम्यक्त्वघातक माया—मायाकषाय में भी स्वरूपविस्मरण है। यह अन्तर में बड़ा जाल पुर रहा है, क्योंकि किसी अभीष्ट विषय की सिद्धि करना उसके माया का प्रयोजन है। वह माया को ढीला नहीं कर सकता। ज्ञानी जीव तो सोच सकता है कि अजी हो वह काम तो, न हो तो। माया प्रपञ्च में क्यों पड़े? किन्तु अज्ञानी पुरुष में अनन्तानुबन्धी मायावान् पुरुषों में संकल्पित इष्ट कार्य की सिद्धि में वह अधीर होकर हठ करता है, इसे अपनी सिद्धि करना ही है, चाहे कुछ भी उपाय करना पड़े, मायाचार करता है।

सम्यक्त्वघातक लोभ—लोभकषाय अनन्तानुबन्धी लोभ, स्वरूपविस्मरण सहित लोभ का परिणाम हो, वह अनन्तानुबन्धी लोभ है। कोई पुरुष अपने परिवार के लिए बड़ा आराम दे, खूब खर्च करे, उनके लिए ही सर्वस्व सौंप दे और वह डींग मारे कि मुझे लोभ बिल्कुल नहीं है। घर में देखो तो उच्च कोटि का रहन-सहन है, भोजन उत्तम है, उत्तम मकान है, देखो लोभ हमारे बिल्कुल नहीं है। अरे लोभ के लिए ही तो खर्च किया। आराम, रहन-सहन, कुटुम्ब का लोभ और मोह जिसमें बसा है, उन कुटुम्बी जनों के अतिरिक्त अन्य कार्यों में अन्य पुरुषों के लिए उदारता न बने तो कैसे कहा जा सकता है कि इसके लोभ नहीं है। ये सब कषायें इन प्रकृतियों के उदय होने पर होती हैं।

सम्यक्त्वघातक प्रकृतियों का क्षयक्रम—सबसे पहिले क्षायिक सम्यग्दर्शन के लिए उद्यमी जीव इन चार कषायों का तिरस्कार करता है। ये चारों कषायें बड़ी बलवान् हैं। ये सीधे-सीधे नष्ट भी नहीं होती हैं, सो अप्रत्याख्यानावरणरूप, प्रत्याख्यानावरणरूप होकर इनकी छुट्टी हो पाती है, फिर अन्तर्मुहूर्त में विश्राम करता है। फिर तो तीनों करण किए जाते हैं जैसे कि विसंयोजन के लिए किए थे, तब मिथ्यात्व प्रकृति सम्यक्मिथ्यात्वरूप होती है। सम्यक्मिथ्यात्व सम्यक्प्रकृतिरूप और अन्त में उसका भी सर्वगुण संक्रमण हो करके क्षय हो जाता है और तब इसके क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट होता हैं।

क्षायिकभावों में द्वितीय प्रकट होने वाला भाव—दूसरा क्षायिक भाव है क्षायिकचारित्र। शेष बची हुई 21 कषायों के क्षय होने से जो चारित्र प्रकट होता है, उसे क्षायिक चारित्र कहते हैं। उन 21 प्रकृतियों में अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ—इन 8 प्रकृतियों का 9 वें गुणस्थान में एक साथ पहिले क्षय होता है, पश्चात् नपुंसक वेद का क्षय होता है, पश्चात स्त्रीवेद का क्षय होता है, पश्चात् हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा—इन 6 प्रकृतियों का क्षय होता है, पश्चात् पुरुषवेद का क्षय होता है, पश्चात् संज्वलन क्रोध का क्षय होता है, पश्चात् संज्वलन मान का क्षय होता है, पश्चात् संज्वलन माया का क्षय होता है। इस प्रकार 9 वें गुणस्थान में 20 प्रकृतियों का क्षय होता है तथा शेष बची हुई संज्वलन लोभ प्रकृति का क्षय 10वें गुणस्थान में होता है। इसके अनन्तर ही 12वें गुणस्थान में पहुंचना होता है, वहाँ क्षायिकचारित्र होता है।

अन्तिम 7 क्षायिकभाव—इसके पश्चात् अब शेष सातों भाव केवलज्ञान, केवलदर्शन और 5 लब्धियां आदि एक साथ प्रकट होती हैं। केवलज्ञान ज्ञानावरण के क्षय होने पर प्रकट होता है। केवल दर्शन दर्शनावरण के क्षय होने पर प्रकट होता है और अंतराय कर्म के क्षय से क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक वीर्य प्रकट होता है। ये पृथक्-पृथक् अरहंत अवस्था तक तो कुछ ज्ञान में आते हैं, पर सिद्ध अवस्था होने पर वहाँ केवल एक क्षायिक वीर्य विदित होता है और बाकी सब वीर्य में गर्भित हो जाता है। जैसे ज्ञानावरण के क्षय होने पर, पांचों ज्ञानावरण की प्रकृतियों के क्षय होने पर ज्ञान प्रकट होता है, किन्तु एक केवलज्ञान प्रकट होता है इसी प्रकार अंतराय कर्म के क्षय से एक क्षायिक वीर्य प्रकट होता है और वह सिद्ध भगवान में भी रहता है।

अरहंत देव में दान लाभ भोग उपभोग की विशेषता का कारण—भैया ! अरहंत अवस्था में चूकि उनके समारोह बहुत है और सर्वथा पूर्ण विविक्त भी जीव नहीं होता है सो किन्हीं अपेक्षावों से इस कारण उनका

विहार, दिव्यध्वनि होती हैं। वे यहाँ रहते हैं वे सबको पूजने के लिए मिलते हैं इसलिए उनके दान, लाभ भोग, उपभोग की बातें पायी जाती हैं क्षायिक रूप से। सिद्ध भगवान् में ये नहीं मिल पाते हैं। उन्हें न मनुष्य पा सकते हैं, न तिर्यञ्च पा सकते हैं और न देव पा सकते हैं। उन सिद्ध भगवान् ने का कहीं विहार होता नहीं, कहीं उनका उपदेश सुनने को मिलता नहीं। कुछ भी तो बात उनसे यहाँ नहीं होती। वहाँ दान, लाभ आदिक की कल्पनाएं नहीं हैं। वे पूर्ण शुद्ध धर्म आदिक द्रव्यों की तरह अगुरुलघुत्वगुण द्वार से षट्स्थानवर्ती गुण हानि से वे अपने गुण में निरन्तर परिणमते रहते हैं, ये क्षायिक भाव के स्थान इस जीव के शुद्धस्वरूप में नहीं हैं।

स्वभावदृष्टि में क्षायिक भावों की विविक्तता—भैया ! स्वभाव की दृष्टि रखना है, परिणमन भी नहीं देखा जाना है ! यहाँ केवल स्वभावमात्र शुद्ध अंतस्तत्त्व को देखा जा रहा है और परिणमन की भी उपेक्षा है। सिद्धों में हैं इन गुणों के पूर्ण शुद्धपरिणमन, परन्तु वे क्षायिक हैं कर्मों के क्षय होने से हुए हैं, ऐसी कहने में उपेक्षा आ गयी। ये कर्मों के क्षय से प्रकट होते हैं ऐसी अपेक्षा निश्चय से वस्तुगत स्वरूप में नहीं है और यहाँ तो पारिणामिक भावमय शुद्धजीव की चर्चा है। इस कारण कहा गया है कि इस शुद्ध जीवास्तिकाय के क्षायिक भाव के स्थान भी नहीं हैं।

अपने क्षायोपशमिकभाव की चर्चा—इसके बाद बताया गया है कि क्षायोपशमिक भाव के स्थान भी नहीं हैं। कर्म प्रकृति के क्षयोपशम होने पर जो भाव प्रकट होते हैं उन्हें क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। ये तो हम आपमें पाये जा रहे हैं। कोई कभी है कोई कभी है। यह अपनी ही चर्चा है। जैसे आपसे कहा जाय कि आपकी जेब में जो कागज रखे हैं वे आपके पास हैं ना, तो ये जल्दी समझ में आ जायेगा और अगर कोई नोट वगैरह होगा तो उसे देख भी लेंगे एक तरफ से कि रखा है या नहीं। आपकी यह चीज आपको खूब विदित है ना, उससे भी ज्यादा निकट सम्बन्ध वाली बात है क्षायोपशमिक भाव। यह आपके पास है, इसे कोई चुरा भी नहीं सकता। उन कागजों को कोई हड़प भी सकता है।

क्षायोपशमिक ज्ञान और अज्ञान—क्षायोपशमिक भाव 18 प्रकार के होते हैं, चार प्रकार के ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान। ये अपने-अपने आवरक कर्म के क्षयोपशम होने पर प्रकट होते हैं, और इसी तरह इनमें से तीन ज्ञान सम्यक्त्व के अभाव के कारण कुज्ञान भी कहलाते हैं, उनके नाम है कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान। उन कुज्ञानों में उल्टी समझ होती हैं। जैसे नरकों में माता और पुत्र भी एक जगह नारकी बन जायें तो पुत्र मां के जीव को देखकर प्यार न करेगा। वह पुत्र खुद ही सोच लेगा कि इसने मेरी आँख में सलाई डाल कर आंखें फोड़ने की चेष्टा की। चाहे वहाँ मां ने अपने पुत्र के अंजन ही लगाया हो। यह सब खोटा ज्ञान है।

कुश्रुतज्ञान में अहितकर सूझ—आविष्कारक लोग क्या करते हैं कि अणुशक्ति को और और प्रकार के अस्त्र शस्त्रों को प्रयोग करके देखते हैं व उनकी उन्नति करने में दत्तचित्त रहते हैं। आविष्कार करने का मुख्य लक्ष्य यह रहता हैं कि किसी युद्ध में हमारी विजय हो, लाभ हो। एक अणु बम चलाया जाय तो उससे हम हजारों लाखों की सेना को मार सकें व विजय पा सकें, यह दृष्टि उनकी रहती है। उन अणुशक्तियों से चाहें तो कपड़े की मील चला दें, और-और यंत्र चला दें, देश का बड़ा लाभ हो, पर यह ध्यान नहीं रहता। ध्यान तो खोंटी बातों का है। जो भी आविष्कार किया जाता है दूसरों के संहार के लिये या अपने विषयों को बड़ी कला से

भोग सकें, इसके लिए आविष्कार होते हैं, क्योंकि कुश्रुत ज्ञान है ना। इस तरह 4 ज्ञान और 3 अज्ञान ये 7 भेद क्षायोपशमिक भाव के हुए।

अन्य 11 क्षायोपशमिक भाव—तीन दर्शन क्षायोपशमिक हैं चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन। दर्शन में कल्पना नहीं होती है विकल्प नहीं होता है इसलिए यह सम्यग्दृष्टि के हो तो, मिथ्यादृष्टि के हो तो इसमें भेद नहीं पड़ा कि यह तो है भला दर्शन और यह है खोटा दर्शन। अंतराय कर्म का क्षयोपशम होने पर 5 लब्धियां प्रकट होती हैं—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य। जैसे क्षायिक सम्यक्त्व 7 प्रकृतियों के क्षय से बताए गए हैं यों ही उन 7 प्रकृतियों का क्षयोपशम होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। यह भी क्षायोपशमिक भाव है और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से जो चारित्र होता है वह क्षायोपशमिक चारित्र है। उसी में एक संयमासंयम भी है। वह भी क्षायोपशमिक भाव है। ये 18 प्रकार के क्षायोपशमिक भाव और सूक्ष्मता से असंख्यात प्रकार के क्षायोपशमिक भाव के स्थान इस शुद्ध जीवास्तिकाय में नहीं होते हैं।

अफसोस और साहस—भैया ! अपनी चर्चा यहाँ चल रही है कि मैं हू कैसा? इसकी समझ के बाद इसको अफसोस होगा कि हू तो ऐसा और बन बैठा कैसा? जैसा मैं हू उसका लक्ष्य करके उस पर दृष्टि दे, उसमें ही स्थिर हो जाय तो कल्याण कहां कठिन है? एक साहस की ही तो आवश्यकता है और इसके साथ सत्संग और स्वाध्याय की बहुत अधिक आवश्यकता है। कारण यह है कि हमारे संस्कार वासनाएँ विषय, कषाय में पड़े हुए हैं। सम्यक्त्व हो जाने पर भी ये वासनाएँ संस्कार फिर भी इसे विचलित करने को तत्पर रहते हैं। उनसे अवकाश पाने के लिए सत्संग और स्वाध्याय इनकी बहुत आवश्यकता है। कोई कहता हो कि धर्ममार्ग बड़ा कठिन है। कषायों का जीतना, अच्छे विचारों पर दृढ़ रहना, अन्याय न करना और अपना सत्य आत्मासुख पाने का यत्न रखना यह तो कहने की बात होगी, कोई की जाने वाली बात न होगी। अपने में तो यह बात प्रकट नहीं हुई है। अरे उपाय तो किया नहीं सुगमता से कैसे विदित हो?

सत्संग—अपने आपमें यह देखा जाय कि हम सत्संग में कितने समय रहते हैं और रागद्वेषी मोही अज्ञानी पुरुषों के संग में कितने समय तक रहते हैं? हिम्मत हो और असत्संग से छुटकारा पायें तो ही भला है। करना भी पड़े प्रयोजनवश, गृहस्थी है, आजीविका करनी है, दुकान पर बैठना है, पर कभी ऐसा ख्याल तो बने कि अहो मैं तो सर्व से विविक्त ज्ञान मात्र हू, मेरा ज्ञान के सिवाय अन्य कोई काम ही नहीं है—ऐसा ख्याल बनने पर वहाँ मनमाना प्रवर्तन न होगा। कहीं हंसी मजाक की बातें होती हैं तो वहाँ बोलना पड़ता है, बोल देता है, पर अन्तर में यह भाव बना ही रहेगा कि कब इस झंझट से अवकाश पायें? असत्संग व्यर्थ है, इसे न करना चाहिए। लालसा रखनी चाहिए सत्संग की। ज्ञान और वैराग्य में जिनका चित्त सुवासित है—ऐसे पुरुषों का संग करना, उनके निकट अधिक बैठना आदि सब सत्संग कहलाते हैं। सत्संग की महिमा अन्य सम्प्रदायों में यहाँ से भी अधिक पायी जाती है। वहाँ तो संतों के पाय बैठना, उनके प्रवचन सुनना आदिक सभी बातों का सत्संग नाम रखा है। कहां जा रहे हो भाई? सत्संग करने जा रहे हैं, सत्संग की बहुत महिमा है।

हित की सात बातें—पूजा करते हुए आप रोज बोल जाते हैं 7 बातें मांगते हुए—शास्त्र का अभ्यास, जिनेन्द्र स्तवन, श्रेष्ठ पुरुषों की संगति और गुणियों के गुण बोलना, दोषों के कहने में मौन रखना, सबसे प्यारे हित

के वचन बोलना और आत्मतत्त्व की भावना करना—ये सात बातें हित की हैं। कहने में, सुनने में ये बड़ी मीठी लग रही हैं और करने में यदि आ जाए तो उनका स्वाद वहीं पाएगा। इसमें श्रेष्ठ पुरुषों की संगति भी आई। सत्संग और स्वाध्याय में हम अधिक समय व्यतीत करें। अन्य उपायों से भी ज्ञानभावना बनाएं तो वे सब बातें जो सुनते हैं, ज्ञानी पुरुषों के कथन में सब अपने को विदित होने लगेंगी।

औदयिकभाव के स्थान और उनका जीव में अभाव—जीव के शुद्ध भाव का वर्णन करने वाले इस प्रकरण में यह बताया गया है कि जीव के क्षायिक भावस्थान नहीं है और क्षायोपशमिक भावस्थान भी नहीं है। अब औदयिकभाव के स्थान भी नहीं है, यह बात प्रकट कर रहे हैं। कर्मों के उदय के निमित्त से उत्पन्न होने वाले भावों को औदयिक भाव कहते हैं। ये औदयिक भाव 21 तरह के होते हैं—चार गति, चार कषायें, तीन लिंग, मिथ्यादर्शन, अज्ञान, असंयम, असिद्ध और 6 लेश्या। इनके अनुभागों की दृष्टि से असंख्यात भेद व स्थान हैं। ये सभी औदयिक भाव के स्थान इस जीव में नहीं हैं। जीव का स्वभाव ज्ञानानन्द है। कर्म उपाधि के निमित्त से जो मलिनता प्रकट होती है, वह मलिनता जीव का स्वरूप नहीं है।

जीव में नारकभाव का अभाव—नरक गति नामक नामकर्म के उदय से जीव नरकगति में जन्म लेता है। नरकगति में जन्म लेना और नरक जैसे भाव रहना इस जीव का स्वभाव नहीं है। जीव का स्वभाव वह है जो भगवान् का है। द्रव्यदृष्टि से भगवान् में और अपने में अन्तर नहीं है, क्योंकि स्वरूप हैं, किन्तु अन्तर जो पड़ा है, वह पर्यायदृष्टि का अन्तर है। प्रभु अपने आपको वैसा ही अनुभव करते हैं, जैसा कि जीव का सहजस्वरूप है। और हम अपने आपका विरुद्ध अनुभव करते हैं। जो मेरा स्वरूप नहीं है उस रूप अपने को मानते हैं। इसी कारण भगवान् में और अपने में इतना महान् अन्तर पड़ गया है, और इस अन्तर के फल में अपन सब दुर्दशाएं भोग रहे हैं।

जीव में मनुष्यभाव का अभाव—मनुष्य हो गए तो क्या हुआ? मनुष्य अवस्था में भी तो अनेक चिंताए, अनेक दुर्दशाएं, अनेक विडम्बनाएं पशु पक्षियों की भांति विषयों के भोगने में प्रवृत्ति सभी कुछ इल्लतें तो चल रही हैं। मनुष्य हो गए तो कौनसा बड़ा लाभ पा लिया और मान लो कुछ अच्छे ढंग से भी रहे तो मृत्यु तो सामने आयेगी ही। मृत्यु सदा अपने केशों को पकड़े ही खड़ी है। किसी भी समय झकझोर दे उसी समय विदा होना पड़ेगा। किसी का दिन नीयत नहीं है कि इतने दिन अवश्य रहेगा। यद्यपि कुछ व्यवस्थावों से कुछ ऐसा जानते हैं कि अभी और जीवित रहेंगे पर जानते हुए जैसे विवाह शादियों में निमंत्रण भेजा करते हैं इसी तरह मृत्यु का निमंत्रण नहीं होता। मृत्यु में ऐसा नहीं होता कि अमुक की मृत्यु अमुक दिन इतने समय पर होगी सो जब लोग आना। हाँ जन्म का तो करीब-करीब के दिनों का विश्वास रहता है कि 8 महीने का गर्भ है, एक महीने में होगा, पर मृत्यु के विषय में ऐसा नहीं है। तो मनुष्यगति नामक कर्म के उदय से जो मनुष्यपर्याय मिली है और मनुष्यों के लायक भाव हुआ करते हैं वह भव भी जीव का स्वरूप नहीं है।

सहजमुक्तस्वभाव के परिचय बिना मुक्ति का अनुद्यम—भैया ! अपने आपका सहज यथार्थस्वरूप जाने बिना छुटकारा नहीं हो सकता है। छूटना किसे है उसको ही न जाने तो छुटकारा किसे हो? छूटना किसे है? वह स्वरूप छूटा हुआ ही है ऐसा ज्ञान में न आए तो छूट नहीं सकता। जैसे गाय गिरमा से बंधी है, पर छोड़ने वाले को यह विश्वास है अन्तर में कि यह गाय तो पहिले से ही छूटी हुई हैं। अपने स्वरूप में केवल गिरमा

के एक छोर का दूसरे छोर से सम्बन्ध है, इसका तो मुक्त स्वभाव है। अब वह बाहरी बंध टूट गया कि गाय जैसी छूटी थी वैसी छूटी हुई अब और प्रकट हो गई। इसी प्रकार जीव के स्वरूप को जब हम निहारते हैं तो यह जीव तो स्वयं मुक्त ही है, अपने स्वरूप मात्र है, किसी दूसरे के स्वरूप को ग्रहण किए हुए नहीं है। ऐसा सहज एक अनादि मुक्त आत्मा के स्वभाव को जाने बिना मुक्त होने का कोई उद्यम नहीं कर सकता।

जीव में तिर्यग्भाव का अभाव—जैसे इस जीव में मनुष्यगति का स्वभाव नहीं है, वैसे ही तिर्यञ्च गति नामक नामकर्म के उदय से जीव तिर्यञ्च होता है अर्थात् तिर्यञ्च शरीर में जन्म लेता है और तिर्यञ्च भव के योग्य भावों को करता है। आज यह जीव मनुष्य है तो मनुष्य के योग्य परिणाम करता है। मनुष्यों में बैठना, मनुष्यों की जैसी बात करना और जैसे शृङ्गार परिग्रह संचय या अन्य प्रकार के सम्बन्ध व्यवहार जैसे मनुष्यभव में होते हैं वैसे परिणाम बनाता है और मरकर तिर्यञ्च बन गया तो कोई तिर्यंच शृङ्गार तो नहीं करता। कोई तिर्यंच परिग्रह का संचय नहीं करता। जैसे मनुष्य परस्पर में रिश्तेदारी का व्यवहार रखते हैं क्या वैसा सम्बन्ध तिर्यञ्चों में नहीं होता? होता है। जैसे ये मनुष्य सम्बन्ध मानते हैं वैसे ही तिर्यञ्चों में भी होता है, किन्तु वहाँ रिश्तेदारी का व्यवहार नहीं है। तिर्यञ्चों में तिर्यञ्च जैसा भाव है। गाय, बैल हो गए तो गाय, बैल में ही ममत्व का भाव होगा। गाय, बैल जैसा भी भोजन का परिणाम होगा। तिर्यञ्च के भाव होना, तिर्यञ्चगति में जन्म होना यह सब भी जीव का स्वरूप नहीं है।

जीव में देवगति का अभाव—देवगति नामक नामकर्म के उदय से जीव देव देह को धारण करता है। वहाँ सर्वसिद्धि ऋद्धि रहती हैं, भूख प्यास की वेदनाएं नहीं होती, देवांगनावों में उनका रमण होता और उनके योग्य वहाँ भाव चलता है किन्तु वह कुछ भी इस जीव का स्वरूप नहीं है। जीव तो सहज पने सत्त्व के कारण जैसा स्वरूप रखता है वह जीव है। इतनी झलक किसी क्षण हो जाय तो बेड़ा पार है। इतनी झलक हुए बिना जीव को सारी विडम्बनाएं हैं और व्यर्थ ही परिग्रह संचय करके चेतन अचेतन का ममत्व करके अपना यह समय गुजार रहा है। तो चारों प्रकार की गतियों के भावों के स्थान भी जीव के नहीं हैं। यह औदयिक भाव है।

जीव की कषायभावों से विविक्तता—यह प्रकरण चल रहा है जीव के शुद्ध भाव का। जीव का वास्तविक स्वरूप क्या है, उसका उसके ही कारण से कैसा स्वरूप है उसे बताते हुए आचार्यदेव कह रहे हैं कि जीव के न क्षायिक भाव के स्थान हैं, न क्षायोपशमिक भाव के स्थान हैं, न औदयिक भाव के स्थान हैं और न औपशमिक भाव के स्थान हैं। चारों कषायें औदयिक भाव हैं। जीव के स्वरूप हों तो जीव को शांति के ही कारण बनें। जीव का स्वरूप जीव को अशांति का कारण नहीं होता। किसी भी पदार्थ का स्वरूप उस पदार्थ को बरबाद करने के लिए नहीं होता। स्वरूप तो पदार्थ का अस्तित्व बनाए रखने के लिए है अथवा हैं, दूसरी बात यह है कि कषाय भाव अस्थिर भाव हैं।

जीव में कषायभावों की अप्रतिष्ठा—कोई क्रोध बहुत समय तक नहीं कर सकता। कोई घण्टाभर क्रोध करे—ऐसा तो नहीं देखा जाता है। कभी कोई क्रोध में बना भी रहे तो भी सूक्ष्म वृत्ति से उसके अन्दर नम्बर बदलता रहता है। क्रोध, मान, माया व लोभ—इन चार कषायों में से कोई एक कषाय भी अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा नहीं टिक सकती। कोई क्रोध कर रहा होगा तो अन्तर्मुहूर्त में ही क्रोध परिणाम बदल जायेगा, मान आदिक

हो जायेंगे। किसी भी कषाय में हो, वह कषाय अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा नहीं चलती है, किन्तु ज्ञानभाव यह सदा चलता रहता है। कोईसी भी कषाय हो, ज्ञान सदा रहता है। इससे यह सिद्ध है कि कषाय जीव का स्वरूप नहीं है, किन्तु ज्ञान जीव का स्वरूप है। क्रोध गुस्से का नाम है, मान अहंकार का नाम है, माया छल-कपट को कहते हैं और लोभ पर को अपनाने को कहते हैं। यह मेरा है अथवा उसकी तृष्णा लगी हो, यह सब लोभ है। ये चार कषायें क्रोध, मान, माया, लोभ नामक मोहनीय कर्म की प्रकृति के उदय से होती है। इस कारण कषायभावों के स्थान भी जीव के स्थान नहीं हैं।

जीव में वेदभाव का अभाव—लिङ्ग भाव अर्थात् पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुसंकवेद। परिणाम भी वेदनामक मोहनीय कर्म के उदय से होते हैं, ये परिणाम दु:ख के लिए होते हैं, स्वरूपविस्मरण के कारण हैं, जीव को अपने शील से चिगाकर कुशील की स्थिति में बनाए रखता है। ये जीव के स्थान नहीं हैं।

मिथ्यात्व की विभावमूलता—मिथ्यादर्शन तो सर्व बरबादियों का मूल है। इन सब विभावों की उच्च सत्ता मिथ्यात्व है। जीव अपने स्वरूप को भूले और किसी परपदार्थ में अपना स्वरूप माना करे बस, इस भ्रम पर वे सर्व क्रोधादिक कषाय और सर्व विभाव इस मिथ्यात्व की भित्ति पर खड़े हुए हैं। जहां मिथ्यात्व हटा कि केवल कषाय भाव की फिर स्थिति नहीं रहती है, वह मिटने के ही सम्मुख रहता है। भले ही संस्कारवश कमाए जाने के कारण कुछ काल मिथ्यात्व के अभाव में भी रहे, किन्तु वे कषायें अब आत्मा में प्रतिष्ठा नहीं पाती। कषाय भी है, किन्तु वह ज्ञानी उन कषायों से विविक्त सहज चिदानन्दस्वरूप अपने आत्मा में आत्मत्व की प्रतीति रखता है। जैसे कोई दूसरा विपत्ति का कारण तब बनता है, जब उसे अपनाए। इसी तरह ये कषाय भाव विपत्ति के कारण तब बनेंगे, जबकि कषाय भाव को अपनाए। ज्ञानी पुरुष उदय में आई हुई कषायों को अपनाता नहीं है, किन्तु वियोग बुद्धि से उन्हें भोगता है। ये आए हैं कषाय भाव निकलने के लिए, सो निकल जाओ।

जीव में मिथ्याभाव का अभाव—भैया ! सब ज्ञान की महिमा है। गुप्त सरल सहज अपने स्वरूपरूप जो ज्ञानवृत्ति है, उसकी ही सारी मंगलमय महिमा है, किन्तु वे ही किए जा रहे है पर माना अपने आपको कुछ और है। बैंकों में करोड़ों रुपयों का हिसाब रखने वालों के द्वारा उनकी रक्षा की सब बातें की जा रही हैं, किन्तु वहाँ बैंकर को यह भ्रम नहीं होता कि यह सब मेरा स्वरूप है, मेरी चीज है, मेरा वैभव है। वह अपने को तो जानता है लोकपद्धति में, उतना ही विश्वास बनाए हुए है। पर रक्षा उसी प्रकार से है, जैसे धनी मालिक के द्वारा होती है। इसी प्रकार ज्ञानी जीव कहीं गृहस्थ में अव्यवस्था नहीं मचा डालता है। जब तक घर में रहता है, तब तक सब व्यवस्था बनाए रहता है, किन्तु अपने शुद्धस्वभाव की ओर ही है कि मैं तो इन सबसे न्यारा केवल ज्ञानमात्र हू—ऐसे ज्ञानीसंत के उपयोग में आए हुए निजअन्तस्तत्त्व के यह औदयिक भाव स्थान नहीं है—ऐसी प्रतीति में पड़ा हुआ है।

जीव में औदयिक अज्ञानभाव और असिद्धित्वभाव का अभाव—ज्ञान के कम होने का नाम अज्ञान है। यह औदयिक अज्ञान है। क्षायोपशमिक अज्ञान के खोटे ज्ञान का नाम कुज्ञान है और ज्ञान की कमी रूप औदयिक अज्ञान का नाम औदयिक अज्ञान है। यह ज्ञानभाव 12वें गुणस्थान तक होता है। यह ज्ञान की कमी रूप, अभावरूप अज्ञान भी जीव का स्वरूप नहीं है। असंयम—संयमरूप प्रवृत्ति न होना, विषयों में निरर्गल बने

रहना—ऐसी जो विषयकषायों की वृत्तियां हैं, वे असंयम कहलाती हैं। असंयम भाव जीव का स्वभाव नहीं है, स्वरूप नहीं है। असिद्धभाव—सिद्ध न होना, संसार में बने रहना अथवा कर्मसहित रहना आदि भी जीव का स्वभाव नहीं है। यह असिद्धपना 14वें गुणस्थान तक माना गया है। जब तक कर्म कुछ भी शेष हैं, तब तक उसे असिद्ध माना है।

उपाधिवश लेश्यावों का लेप—6 लेश्याएं कृष्ण नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या, ये परिणाम भी जीव के स्थान नहीं है, जीव के स्वभाव नहीं है। ऐसा सोचते हुए यह भाव करना चाहिए कि यह लेश्या मेरा भाव नहीं है। होती हैं। जैसे सिनेमा का पर्दा स्वच्छ है, सफेद है पर उपाधि जब सामने आती है, फिल्म जब सामने चल रही है तो उस पर्दे पर वे चित्र विचित्र सब रंग आते हैं। आए, मगर पर्दे का स्वभाव नहीं है कि वह चित्रित हो जाय। उस पर्दे पर विचित्र होने का स्वभाव नहीं है। इसी तरह यह आत्मस्वरूप का ज्ञान स्वच्छ है, पर उपाधि का जब सन्निधान है तब इस जीव में नाना विषय कषायों के परिणाम होते हैं। वे विषयकषायों के परिणाम जीव के स्वभाव नहीं हैं। जो पुरुष अपने आपको स्वरूपदृष्टि करके अभी भी मुक्त निरख सकते हैं। वे ही जीव पर्याय अपेक्षा भी मुक्त हो सकेंगे। जो यह जानते हों कि मैं तो ऐसा ही मलिन कुछ हू, वह मलिन ही रहा करता है। जिसे अपने स्वभाव की उत्कृष्टता का पता नहीं है, वह स्वभाव विकास नहीं कर सकता।

पराश्रयता में क्लेश की अनिवार्यता—स्वभावाश्रय का काम करना हम आप लोगों को पड़ा है और सच पूछो तो इसीलिए हम आप मनुष्य हैं—ऐसा भाओ। काम के लिए मनुष्य नहीं है और काम तो चार दिन की चाँदनी फिर अंधेरी रात है। मिल रहे हैं ये और मानों इस ही भव में बड़े धनी थे, अब धनी नहीं रहे—ऐसी भी स्थिति आ जाए तो भी उससे क्या बिगड़ा? पहिले साधारण थे, अब धनिक हो गए तो इससे अपनी महिमा नहीं जाननी चाहिए, अपने में हर्षमग्न न होना चाहिए। ये सुख दुःख और सम्पत्ति विपत्ति तो एक समान बेड़ी हैं। चाहे लोहे की बेड़ी पड़ी हो, परतन्त्रता दोनों में समान है। आप यहाँ देख लो कि चाहे लाखों का वैभव हो और चाहे 100 रु. वाला खोमचा लगाकर गुजर बसर करता हो, परतन्त्रता दोनों पुरुषों में एक समान है। ये लखपति पुरुष क्या स्वतन्त्र नहीं हैं? नहीं। क्या वे स्त्री-पुत्र, धन-वैभव आदिक से कल्पनाओं द्वारा बंधे हुए नहीं हैं। क्या ये दूसरों के प्रसन्न रखने की चेष्टा नहीं करते हैं? करते हैं। गरीबों से भी अधिक करते हैं। परतन्त्रता सर्वत्र ही समानरूप से विद्यमान है। चाहे कुछ भी सुख दुःख हो, सम्पदा हो या वैभव हो।

आत्माश्रयता के अर्थ मानवजन्म—भैया ! अब तो समझों कि हम इस गुंतारे के लिए मनुष्य नहीं हुए हैं, किन्तु अपने आत्मा की स्वभाव दृष्टि को दृढ़ करके उसमें स्थिरता बनाकर अपना कर्मभार दूर कर लें। जो काम अन्य भावों में नहीं किया जा सकता वह काम मनुष्यभव में कर लें। अन्य सब काम तो अन्य भवों में भी किए जा सकते हैं। बच्चों का प्यार क्या गाय बनकर नहीं किया जा सकता, क्या पक्षी बनकर नहीं किये जा सकता? रही यह बात कि ये दो पैर के पक्षी हैं। अरे ! तो जैसे बच्चे होंगे, उन्हीं में ही प्रेम करने लगेगा। क्या उदरपूर्ति, खाना-पीना, मौज करना, डकार लेना और पैर पसारकर सोना आदि क्या पशु बनकर नहीं किया जा सकते? पशुओं से बढ़कर हममें कौनसी बात हो गई है? इस पर जरा ध्यान तो दें, वह हो सकती है रत्नत्रय की होने वाली बात। समागम में आए हुए सब जीवों को उनके ही भाग्य पर छोड़ दें, अन्तरङ्ग के

विश्वास के साथ अर्थात् उनसे अपना भार न मानें। आप उनके पालने के कारण भी हो रहे हों। यदि वे जानें कि भार इनका मुझ पर कुछ नहीं है। इनका उदय ही है, इसलिए यह सब हो रहा है। यों अपने को निर्भार मानकर जो निजस्वरूप की सेवा में रहेगा, उसे उजाला मिलेगा, प्रभुस्वरूप का दर्शन होगा, वे अपने आपकी प्रगति कर सकेंगे। जो अपने स्वरूप को भूले हुए हैं और जो बाह्य को ही सब कुछ मान रहे हैं, उन सबका कुछ सुधार नहीं हो सकता है।

जीव में लेश्यान्त सर्वऔदयिकभावों का अभाव—ये छहों प्रकार की लेश्याएं क्या हैं? ये बाह्यपदार्थविषयक कुछ कल्पना ही तो हैं। कृष्णलेश्या में पुरुष क्रोधी, बकवाद करने वाला, गालीगलौज देने वाला सबका अप्रिय बनता है। नीललेश्या में यह-यह जीव अपने विषयों का तीव्र अनुरागी रहता है। कपोतलेश्या में यह जीव मान, प्रतिष्ठा, यश की धुनि बनाए रहता है। पीत शुक्ललेश्या में शुभ भाव होते हैं, किन्तु ये सभी के सभी भाव उदयस्थान हैं। कर्मों के उदय का निमित्त पाकर हुए हैं। ये जीव के स्वभाव भाव नहीं हैं।

जीव में औपशमिकभावस्थानों का अभाव—इसी प्रकार औपशमिक भाव दो प्रकार के होते हैं—औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक चारित्र। यद्यपि ये जीव की निर्मलता के भाव हैं, फिर भी ये कर्म के उपशम का निमित्त पाकर होते हैं और रह भी नहीं सकते। इसलिए औदयिक के समान औपशमिक भाव के स्थान भी जीव के नहीं हैं। जीव तो इन चारों भावों से परे शुद्धपारिणामिक भावरूप है, अपने ज्ञानानन्दस्वरूप है। सो अपने आपकी जिसे पहिचान है, वह अपने को आनन्द से भोगता है और कर्मों के भार से दूर होता है।

जीव की शुद्धपारिणामिकभावस्वरूपता—जीव के निज तत्त्वों में से चार तत्त्वों का वर्णन हुआ है—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और औपशमिक। अब पंचम भाव जो पारिणामिक है, उसका वर्णन करते है। जीव के भाव कहने से भाव के दो अर्थ लेना—गुण और पर्याय। चार भाव तो सब पर्यायरूप ही थे, वे गुणरूप नहीं हैं। पारिणामिक भाव तो गुणरूप हैं और उनमें से भी शुद्ध जीवत्व शुद्धगुणरूप है और अशुद्ध जीवत्व, भव्यत्व और पारिणामिक आदि पर्यायों की योग्यता रूप हैं। जीवत्व भाव उसे कहते हैं कि जिसके कारण यह जीव चैतन्यस्वरूप करके जीवित रहे अथवा व्यवहार जीवत्व उसे कहते है कि जिस भाव के कारण यह जीव 10 द्रव्य प्राणोंकर जीवित था, जीवित है अथवा जीवित रहेगा। भव्यत्व भाव रत्नत्रय के पाने की योग्यता को व अभव्यत्वभाव रत्नत्रय के प्राप्त करने की योग्यता न होने को कहते हैं। इनमें से जीवत्व नाम का पारिणामिक भाव भव्य और अभव्य दोनों में एक समान रूप से रहता है। भव्यत्व नामक पारिणामिकभाव भव्य जीवों के ही होता है और अभव्यत्व नामक पारिणामिक भाव अभव्यजीवों के ही होता है। इस प्रकार पारिणामिक भाव का भी संक्षेप में वर्णन हुआ।

क्षायिकभाव की कार्यसमयसाररूपता—अब इन 5 भावों में से यह विचार करें कि मोक्ष का कारण कौनसा भाव है? क्षायिकभाव तो मोक्ष स्वरूप है, कार्यसमयसाररूप है वह तो मोक्ष का कारण नहीं है किन्तु मोक्ष रूप है। उसमें जो पहिली अवस्था के भाव है जबकि सभी क्षायिक भाव नहीं उत्पन्न हुए किन्तु जैसे क्षायिक सम्यक्त्व हुआ है तो वह मुक्ति का कारणरूप भाव है। यह कार्यसमयसाररूप क्षायिक भाव केवलज्ञानी पुरुषों के होता है, तीर्थकर प्रभु के होता है, जो तीन लोक के जीवों में आनन्द की खलबली मचा देने वाला तीर्थंकर

नामक प्रकृति से उत्पन्न हुआ है ऐसे केवलज्ञानसहित तीर्थनाथ के भी क्षायिकभाव है और सामान्य केवली के भी क्षायिकभाव है और भगवान् सिद्ध के भी क्षायिक भाव है।

क्षायिकभाव की सावरणयुक्तता—यह क्षायिक भाव सावरण जीवों में होता है अर्थात् आवरण सहित जीवों में क्षायिक भाव होता है। पूर्ण निरावरण सिद्ध भगवान् है। सिद्ध भगवान् में क्षायिकभाव कहना नैगमनय की अपेक्षा है साक्षात् में क्षायक को नहीं कह सकते क्योंकि क्षायिक का वास्तविक अर्थ यह है कि कर्मों के क्षय का निमित्त पाकर जो भाव उत्पन्न होता है उसे क्षायिकभाव कहते हैं। तो कर्मों के क्षय का तो एक ही समय है नहीं, सिद्ध भगवान् में क्या कर्मों का क्षय हो रहा है? वहाँ कर्म है ही नहीं और अरहंत भगवान् में भी एक बार घातियाकर्मों का क्षय होने के बाद क्या उनके घातियाकर्मों का निरन्तर क्षय होता रहता है? नहीं होता है। तो क्षय का निमित्तमात्र पाकर होने वाले भाव का नाम क्षायिक भाव है। सो क्षायिक भाव का नाम वास्तव में क्षय के निमित्त होने के समय है। पश्चात् भी क्षायिकभाव कहना यह नैगमनय से कहा जाता है। चूकि पहिले क्षायक हुआ था और उस क्षय के कारण यह भाव प्रकट हुआ, वह सदृश परिणमता हुआ चला आ रहा है अत: क्षायिक है, ऐसा उपचार से कहा जाता है और जिस काल में क्षायक भाव उत्पन्न हो रहा है उस काल में यह जीव आवरण सहित है। चार अघातिया कर्मों का आवरण लगा है, देह का आवरण लगा है, तो ऐसे आवरण सहित जीवों में क्षायिक भाव होने के कारण यह भी मुक्ति का कारण नहीं है। यहाँ मुक्ति का कारणरूप भाव मुक्त होने से एक समय पहिले का ले लो।

मुक्तिकारणता—औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव तो संसारी जीवों के ही होते हैं। मुक्त जीवों के तो होते नहीं है। मुक्त जीवों के उपचार से भी औपशमिक भाव नहीं कहा गया है। एक दृष्टि से ये चारों भाव मुक्ति के कारण नहीं हैं किन्तु एक पारिणामिक भाव जो उपाधि रहित है, निरावरण है, आत्मस्वभावरूप है, निरञ्जन है, उत्कृष्ट है, ऐसा जो चित्स्वभावरूप, जीवत्वरूप जो पारिणामिक भाव है, उसकी भावना करने से यह जीव मुक्ति को प्राप्त होता है। तब एक दृष्टि से मुक्ति का कारण कोई भी भाव नहीं रहा। पारिणामिक भाव तो अपरिणामी है, कार्यकारण से भेद से रहित है, उसे मुक्ति का कारण नहीं कहा जा सकता है। शेष जो चार भाव हैं, वे सावरण जीवों के होते हैं। तब फिर निर्णय क्या करना कि पारिणामिक भाव की भावना मोक्ष का कारण है और यह भावना औपशमिक, क्षायिक और क्षयोपशमिक भावरूप होते हैं, सो इस दृष्टि से ये तीन भाव मोक्ष के कारण हैं।

स्वभावाश्रय की मुक्तिकारणता—औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव की मुक्तिकारणता का स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि अपने आपका जो सनातन अहेतुक चैतन्यस्वभाव है, इस चैतन्यस्वभाव की आराधना मुक्ति का कारण है। अपना उपयोग बाह्यपदार्थों में न चले और रागद्वेष का कारण न बने तो यह उपयोग अपने स्वभाव में लग सकता है। जहां उपयोग अपने स्वभाव को छोड़कर खुद को भी सामान्यरूप कर डाले। बस ! ऐसे उपयोग की सामान्य बर्तना मुक्ति का कारण है। इन संकटों से छूटना है व ये संकट बाह्यपदार्थों में दृष्टि गड़ाने से आते हैं। संकट वास्तव में कुछ है ही नहीं। संकट मात्र इतना ही है कि हम बाह्यपदार्थों की परिणति को देख करके अपने आपमें गुन्तारा लगाया करते हैं। ये इष्ट अनिष्ट की भावना से दु:खी हो रहे हैं।

अज्ञानहठ के परिहार में हित—जैसे कभी कोई बालक ऐसी हठ कर बैठता है कि यह अमुक यहाँ नहीं बैठे। अरे ! उस बालक का क्या बिगड़ गया? किन्तु तब तक वह चैन नहीं लेता, जब तक वह उठकर उस स्थान से चला न जाए। जैसे जिससे कोई सम्बन्ध नहीं है, उस वस्तु के प्रति वह अज्ञानी बालक हठ करता है। इसी तरह यह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि भी परपदार्थों की परिणतियां निरखकर अपनी हठ बनाए रहता है और उसमें दु:खी होता रहता है। केवल अपने स्वरूप को निरखें और धारण में यह रखें कि मैं सबसे न्यारा स्वतन्त्र स्वरूप सत्तामात्र परिपूर्ण तत्त्व हू। इसको फिर करने का क्या काम है?

ज्ञानानन्दात्मक आत्मस्वरूप के आश्रय का प्रताप—भैया ! अपना परिपूर्ण भाव जो अपने में सनातन सत् अहेतुक स्वभाव विराजमान है, उसके आलम्बन से मुमुक्षु जीव पञ्चमगति को प्राप्त होते हैं, प्राप्त होंगे और प्राप्त हुए थे। इस कारण परमआनन्द के निधान उस पञ्चमगति की प्राप्ति की जिन्हें वाञ्छा है, उनका एक ही मात्र स्वभावाश्रय का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हू, ज्ञानानन्दमात्र हू। ज्ञान और आनन्द दोनों परस्पर में अविनाभावी हैं। यदि यह कह दिया जाए कि मैं ज्ञानस्वरूप हू तो भी उसका अर्थ यह है कि मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हू, और कभी यह कह दिया जाए कि मैं आनन्दस्वरूप हू तो भी उसका अर्थ यह है कि मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हू। इसकी साधना करने वाले पञ्च आचारों के पालनहार आचार्य उपाध्याय और साधु परमेष्ठी होते हैं। ये तो परिपूर्ण अधिकारी होते हैं, किन्तु जो गृहस्थजन हैं, वे भी इस पारिणामिक भाव की दृष्टि के अधिकारी होते हैं।

सहजसत्यन्याय—अहो ! कैसा यह न्याय है अपने आपके अन्तर का कि जहां दृष्टि मुड़ी और सबसे भिन्न ज्ञानमात्र अपने आपको तका कि वहाँ इसके संकट दूर हो जाते हैं और बाह्यपदार्थों में इष्ट अनिष्ट बुद्धि हुई कि यह संकटों से घिर जाता है? सर्वसंकटों से मुक्त होने के लिए एकमात्र यह उपाय है कि अपने आपके स्वभाव की दृष्टि रक्खें। अभी कोई दुष्ट पुरुष किसी बड़े घराने के आदमी को गाली देता हो और वह भी कुछ गाली देने को तैयार हो तो लोग समझाते है कि तुम बड़े कुल के हो, तुम्हारे कुल का ऐसा स्वभाव नहीं है कि दुष्ट के साथ दुष्ट बन जाओ। इसी प्रकार से ज्ञानीजन अपने आपको समझाते है कि तुम्हारा तो भगवान् की तरह चैतन्यस्वभाव है, तुम ज्ञायकमात्र हो, तुम्हारा स्वभाव ही ऐसा है। बाह्यपदार्थों में इष्ट और अनिष्ट बुद्धि बनाते फिरना तुम्हारा स्वभाव नहीं है। संसार में रुलने वाले जीव इष्ट अनिष्ट भावों में बहे जा रहे हैं।

परमार्थशरण का शरण स्मरण—भैया !हम सब जीवों को शरण है तो अपना स्वभावपरिज्ञान शरण है। जैसे जिस सिंह को स्वभावविस्मरण हो गया। बचपन से ही गडरियों की भेड़ों के बीच में पलता रहा हैं। इस कारण जब तक उसे अपने स्वभाव का विस्मरण है, तब तक गडरिये के वश में है। वह गडरिया जहां चाहे कान पकड़कर उसे बाँध देता है, किन्तु ज्यों ही उसे किसी कारण से स्वभाव का स्मरण हो आया, दूसरे सिंह को दहाड़ते हुए देख लिया, छलांग मारते हुए देख लिया किसी भी प्रकार से उस सिंह को स्वरूप स्मरण हो जाए तो फिर वह परतन्त्रता में नहीं रह सकता। वह छलांग मारकर स्वतन्त्र हो जाता है। इसी प्रकार संसारी जीव को अपने स्वभाव का विस्मरण है, इस कारण वह परतन्त्र है। इसे बैठे ही बैठे कुछ भीतर आता जाता कुछ नहीं है बाहर से, किन्तु अपने आप ही कल्पनाएं मचाकर दु:खी हुआ करता है। सो आकिञ्चन्य भाव बनाकर

अपने आपमें विराजमान् अपनी प्रभुता के दर्शन करके उसकी ही दृष्टि रखकर मुक्ति का मार्ग अपना बनाना चाहिए।

विधिनिषेध से अनवस्थित और अवस्थित वस्तुनिर्णय—वस्तु का निर्णय सप्रतिपक्ष भाव में होता है। किसी भी वस्तु को जब हम आँख से देखते हैं तो भीतर में यह श्रद्धा रहती है कि यह पदार्थ यह है, यह पदार्थ अन्यरूप नहीं है। बोलने चालने का भी मौका नहीं पड़ता है। अगर कोई विवाद करे तो बोला जाता है, पर प्रत्येक पदार्थ को देखते ही उसके सम्बन्ध में अस्ति और नास्ति की पद्धति से परिज्ञान होता है। जब मैं अपने बारे में अस्ति से सोचता हू तो मैं ज्ञानमात्र ही ध्यान में रहता हू। जब नास्ति से सोचता हू तो मैं देह से न्यारा, रागद्वेष से न्यारा और मन, वचन से न्यारा सर्व से विविक्त हू—ऐसा अपने आपके ध्यान करने के लिए और अधिक शब्द न सोचें जायें तो इतना ही सोचा जाए कि मैं देह से भी न्यारा ज्ञानमात्र हू इसे बड़ा अध्यात्म मन्त्र समझिये।

मुमुक्षु का अन्तर्भावना विहार—अपने आपके मर्म तक पहुंचने के लिए सुगम भावना है तो यही है कि मैं देह से भी न्यारा ज्ञानमात्र हू। कोई विरुद्ध भावना न भायी जाये और ऐसा ही अपने आपको निरखा जाय तो देह से न्यारा हू—ऐसी देह की भी चर्चा छूटकर केवल ज्ञानमात्र हू, केवल ज्ञानमात्र हू—ऐसी भावना रहेगी। वह नास्ति वाला पक्ष दूर हो गया, अब केवल अस्ति वाला पक्ष रहा। मैं ज्ञानमात्र हू, पर जैसे-जैसे इस ज्ञान की अनुभूति में प्रवेश होता है तो मैं ज्ञानमात्र हू—ऐसी भी धारणा उसकी छूट जाती है और वहाँ फिर ज्ञानानुभव का ही आनन्द अनुभवा जाता है। यों अपने में आकिञ्चन्य भाव बढ़ाकर और ज्ञानमात्र हू, इस प्रकार की भावना करके पारिणामिक भाव की उपासना करे तो इस पारिणामिक भाव की उपासना के प्रसाद से इन समस्त मुमुक्षु जीवों को मुक्ति की प्राप्ति होती है।

शुभ भावों की शिव व विषम परिस्थितियां—दान, पूजा, उपवास, शील, व्रत, तप ये मन की प्रवृत्तियां हैं। ये शुभ प्रवृत्तियां हैं ये अशुभ भावों को पछारने वाली प्रवृत्तियां है। इन शुभ भावों में लगने वाले पुरुष को विषयों की इच्छा और अन्य पदार्थ विषयक कषाय नहीं उत्पन्न होता है। तो तीव्र कषायों से और विषय वाञ्छावों से बचाने वाली, इस आत्मा की रक्षा करने वाली परिणति है शुभ भावों की परिणति। सो शुभ भाव तो हमें पापों से बचा देते हैं, किन्तु वे शुभ भाव भोगियों के भोग के कारण हैं। उन भावों से पुण्य बंध होता हैं जब पुण्य का उदय आया तो इसे भोग के साधन प्राप्त होते हैं। उस काल में यदि विवेक है, सावधानी है, ज्ञान सजग है तब तो इसकी कुशलता है और विवेक न रहा तो भोगों को पाकर अधोगति होती है। भोगों में आसक्त रहने वाला पुरुष सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता बल्कि 7 वें नरक का नारकी सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है। धर्म की दृष्टि में भोगों में आसक्ति हुआ मनुष्य सप्तम नरक के नारकों से भी पतित है।

शुद्धभाव में सर्वत्र निरापदता—भैया ! पुण्य का उदय आने पर यदि ज्ञान नहीं रह सका तो इसकी दुर्गति होती है। तो शुभ भावों की तो ऐसी कहानी है। अशुभ भावों की कहानी स्पष्ट ही है। पाप के परिणाम हों, विषय भोगों के भाव हों, दूसरों को नष्ट करने का परिणाम होता हो तो यह साक्षात् पापरूप भाव है। वर्तमान में भी तीव्र क्षोभ है और इसके उदयकाल में भी तीव्र क्षोभ है और इसके उदयकाल में भी उसे तीव्र क्षोभ होगा। पर एक धर्मभाव की परिणति अर्थात् पारिणामिक भावरूप परमतत्त्व के अभ्यास की परिणति ऐसी

शुद्धपरिणति है कि इस भाव की भावना में निष्णात हो जाय कोई योगी तो वह संसार से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस कारण शुभकर्म भी छोड़ने योग्य है और अशुभकर्म भी छोड़ने योग्य हैं। एक शुद्ध सहज क्रिया सहज स्वभाव की दृष्टि और उसही के रमणरूप क्रिया ही एक उपादेय हैं।

भावों का दान उपादान—शुभ अशुभ परिणति छूटने का यह क्रम है कि पहिले अशुभ भाव छूटता है फिर शुभ भाव छूटता है और शुद्ध तत्त्व का आश्रय होता है। पश्चात् उस शुद्ध तत्त्व का आश्रय करने रूप भी अंत: श्रम नहीं रहता है। फिर धर्म आदिक द्रव्यों की तरह स्वयमेव ही शुद्ध आत्मावों में स्वभावपरिणमन चलता है। यहाँ प्रकरण चल रहा है कार्यसमयसार और कारणसमयसार का। कार्यसमयसार तो है अरहंत और सिद्धदेव का परिणमनरूप शुद्ध विकास और कारणसमयसार है वह चैतन्यस्वरूप, जो चैतन्यस्वरूप ही तो अरहंत और सिद्ध के शुद्ध विकास को प्राप्त हुआ है। वह कारणसमयसार सब जीवों में निरन्तर अंत: प्रकाशमान् है। कोई इसको देख सके तो देख ले, कोई नहीं देख सकता तो न देखे, मगर कारणसमयसार अर्थात् आत्मा का स्वरूप चित्स्वभाव निश्चल है।

कार्यसमयसार व कारणसमयसार की उपासना—भैया ! अपने में दोनों समयसारों का आराधन करना है। कार्यसमयसार अर्थात् अरहंत सिद्धदेव के अंतरङ्ग परिणति, उसकी भी सेवा करना, उसकी भी पूजा प्रतीति करना और कारणसमयसार की भी पूजा करना—इन दोनों में भी कारणसमयसार की उपासना तो इस जीव का स्वयं का सब कुछ स्वरूप है। कारणसमयसार भी यह स्वयं है और कारणसमयसार की उपासना भी यह स्वयं है, किन्तु कार्यसमयसार तो प्रभु है, पर विषय है और उनकी उपासना करना, यह एक अपना परिणमन है और यह भेदरहित है। पूजने वाला यह मैं और पूजने में आया हुआ है अरहंत सिद्धरूप परद्रव्य। सो अरहंत सिद्ध की जो पूजा है वह वास्तविक मायने में अपनी पूजा है। उस पूजा के द्वारा अपने आपके स्वरूप को पहिचान कर कारणसमयसार का साधक बन जाय और वैसा कारणसमयसार कार्यसमयसार की कल्पना से रहित केवल एक ज्ञान सामान्य रूप अपना परिणमन करें।

गृहस्थों का धार्मिक कर्तव्य—अपना कल्याणमय परिणमन बनाने के लिए कर्तव्य यह है कि दोनों समयसारों की हम पूजा करें और उसमें भी गृहस्थावस्था में जो 6 आवश्यक कर्तव्य बताए गए हैं उन 6 आवश्यक कर्तव्यों में बराबर सावधान रहें।

देवपूजा—देवपूजा प्रात: उठकर स्नान कर शुद्ध होकर जिसको जितनी फुरसत जैसी सुविधा मिले उसके अनुसार दर्शन करे, पूजन करे। दर्शन तो एक स्वाधीन पूजन है अथवा निरालम्ब पूजन है। द्रव्य सालम्बन पूजन है और भावमात्र से पूजन करें तो वह निरालम्ब पूजन है। द्रव्य का आश्रय इस कारण लिया जाता है कि उसमें समय अधिक व्यतीत हो और उस प्रकार की पूजा में अधिक समय तक हम प्रभु की याद रख सकें और इतने अधिक समय तक धर्ममय जीवन चले। तो जिसको जैसी सुविधा हो वह वैसी और उतनी पूजा करे।

गुरूपास्ति, स्वाध्याय व संयम—दूसरा कर्तव्य है गुरुवों की उपासना करना। जैसे उनके चित्त का प्रासाद बन सके उस प्रकार वैयावृत्ति करना, उनसे शिक्षा ग्रहण करना यह सब है गुरूपासना। स्वाध्याय—ग्रन्थ पढ़कर, ग्रन्थ सुनकर अथवा उपदेश देकर अथवा पाठ याद करके किन्हीं भी विधियों से ज्ञान की वृद्धि करना सो

स्वाध्याय है। संयम अपने भोजनपान आदिक कार्यों में कुछ न कुछ संयम बनाए रहना जिससे स्वच्छन्द होकर न भूलें। प्राणियों की रक्षा करना, देखकर चलना, किसी जीव का घात न हो जाय, न्याय से रहना, किसी मनुष्य पर अन्याय न करना, अपने इन्द्रिय विषयों में स्वच्छन्द न प्रवर्तना यह सब संयम है।

तप और दान—समय-समय पर जितना जब ख्याल रहे, जितना बन सके अपनी इच्छा तोड़ना। जैसे कोई इच्छा हुई कि आज हमें खीर खाना है तो उसके बाद ही यह नियम करें कि आज हमारा खीर का त्याग है, क्यों ऐसी विरुद्ध इच्छा हुई? अरे जो भोजन मिल गया ठीक है उसके लिए उद्यम करना, परिश्रम करना और फिर फल इतना है कि स्वाद लिया, थोड़ा पेट भरा। एक उदाहरण की बात कही है। विषयों के सम्बन्ध में कोई इच्छा जगे तो उसका नियम कर लेना, क्यों ऐसी इच्छा जगी? अथवा गृहस्थ के दो तप हैं। जो आय हो उसके भीतर ही व्यवस्था बनाकर गुज़ारा करके धर्मबुद्धि में प्रवर्तना और अधिक संचय की इच्छा न करना। दूसरे जिस समय संयोग है उस संयोग के काल में भी ऐसी भावना रखना कि उनका कभी न कभी वियोग होगा। ये दो तप गृहस्थों के लिए बताए हैं और अंतिम कर्तव्य है दान। योग्य कार्य में, उपकार में अपना धन व्यय करना। ये 6 कर्तव्य गृहस्थों के हैं। इनसे पाप कटते हैं, शुभ भाव बनते हैं और शुद्ध दृष्टि करने की पात्रता बनती है।

गाथा 42

चउगइभवसंभमणं जाइजरामरणरोग सोगा य।
कुलजोणिजीवमग्गणठाणा जीवस्स णो संति।।42।।

क्या हू और क्या हो गया—इस जीव के चार गतियों का भ्रमण नहीं है। न जन्म है, न बुढ़ापा है, न मरण है, न रोग है, न शोक है, न कुल है, न योनि है, न इसके योनि स्थान है, न मार्गणा स्थान है। यहाँ इस बात पर ध्यान दिलाया जा रहा है कि अपने आपमें यह सोचें कि ओह मैं क्या तो था और क्या हो गया? मैं अपने स्वरूप से अपने आप की शक्ति के कारण एक शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हू, किन्तु अनादिकाल से पर-उपाधि के सम्बन्ध में क्या हो गया हू, इसकी विडम्बना हो रही है। मनुष्य बनना, तिर्यञ्च बनना और नाना प्रकार के शरीर पाना यह क्या मेरी वृत्ति है, क्या मेरा स्वभाव है? मैं तो जाननहार एक अमूर्त आत्मतत्त्व हू। क्या तो हू और क्या हो गया हू—इस बात पर दृष्टि देना है। भगवान् की भक्ति भी हम इसलिए करते हैं कि हमको यह साक्षात् स्मृत हो जाय कि हे प्रभु !मैं क्या तो था और क्या हो गया? जिस शरीर को देखकर हम अहंकार किया करते हैं। जिस शरीर में आत्मबुद्धि करके हम बाहर ही बाहर उपयोग को घुमाते रहते हैं क्या ऐसी दौड़ धूप करना, ऐसी आकुलताएँ और क्षोभ मचाना मेरा स्वरूप है। अपने स्वरूप की स्मृति के लिए भगवंत का स्मरण किया जा रहा है।

जीव में सर्वविकारों का अभाव—इस गाथा में कुछ परतत्त्वों का निषेध किया गया है। उपलक्षण से यह अर्थ लेना कि इस जीव में किसी भी प्रकार का विकार नहीं है। देखिए विकार भी है और जीव का यह विकार परिणमन है, पर जैसे गर्मी के दिनों में तालाब ऊपर से गरम हो जाता है। उसमें तैरने वाला तैराक पुरुष

ऊपर की तह पर यदि तैरता है तो उसे गरम जल लगता है और डुबकी लगाकर नीचे की तह में पहुंचता है तो उसको जल ठंडा मालूम होता है। इसी प्रकार इस जीव के ऊपरी तह पर अर्थात् औपाधिक रूप पर, विभाव परिणमन पर जब हम दृष्टि रखते हैं तो ये सारी विडम्बनाएं हैं और भोगनी पड़ती है। जब इस तह के और भीतर चलकर अपने शुद्ध सत्त्वमात्र स्वरूप को निरखते हैं तो वहाँ केवल वह ज्ञानप्रकाश मात्र ही अनुभव में होता है। कहां देह है, कहां भ्रमण है, कहां बुढ़ापा है, कुछ भी दृष्ट नहीं होता। उस शुद्ध जीवास्तिकाय पर दृष्टि रखकर इस ग्रन्थ में यह वर्णन चल रहा है और उसी दृष्टि से इस ग्रन्थ में प्रारम्भ से लेकर अंत तक होता रहेगा।

चर्च्चपरिचय की आवश्यकता—भैया ! जिसकी चर्चा की जा रही है उसका नाम न मालूम हो तो उस चर्चा का अर्थ क्या? जैसे कोई आपस में गप्पें की जा रही हों और वहाँ उसकी सारी बातें बखानी जा रही हों, किन्तु व्यक्ति का नाम न लिया जा रहा हो तो उसकी चर्चा का अर्थ क्या? इसी प्रकार ग्रन्थ में सारी चर्चा की जाय, पर किसकी चर्चा है? लक्ष्यभूत सहजस्वभाव कारणसमयसार उसका परिचय न हो तो यह चर्चा कुछ माने नहीं रखती। बल्कि संदेह हो जाता है कि क्या सबका जा रहा है? कहते हैं कि इस जीव का चारों गतियों में भ्रमण नहीं होता। और हो किसका रहा है? अभी मनुष्य हैं, मरकर पशु हुए, मरकर और कुछ हुए तो क्या यह पुद्गल का भ्रमण है? इसमें शंकाएँ हो जाती हैं। हां जिस दृष्टि में रहकर शंका की जा रही है उस दृष्टि में तो सच है कि जीव का चर्तुगति भ्रमण है। किन्तु चतुर्गति के भ्रमण करने का स्वभाव रखने वाला यह जीव ऐसा नहीं है। यह तो शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभावी है।

एकत्वस्वरूप में अन्य का अप्रवेश—चीजें सब इकहरी होती हैं, मिला कुछ नहीं होता है। मिलमां में अनेक चीजें हैं। एक चीज मिली हुई नहीं होती है। यह वस्तु का स्वरूप है। तो जीव भी अकेला है, वह किस स्वरूप है? स्वरूप को परखे तो यही विदित होगा कि वह प्रतिभासमात्र आकाश की तरह अमूर्त कोई एक आत्मा है। क्या वह आत्मा ऐसा अमूर्त निराला अकेला है? हाँ है। यदि वह निराला नहीं है, अकेला नहीं है, किसी दूसरे वस्तु के मेल जैसा स्वभाव है तो उसका सत्त्व नहीं रह सकता है तो ऐसा निराला अकेला चिदानन्दस्वरूप आत्मा में और कुछ नहीं है। उसमें तो वह ही है। तब ज्ञानावरणादिक 8 कर्म इस जीव में कहां रहें? वे तो अचेतन अपने सत्त्व को लिए हुए हैं, रहो। जीव में अब कर्म नहीं रहे। कर्म अलग सत्ता वाले पदार्थ हैं तो जीव में द्रव्य कर्म नहीं स्वीकार किया गया और भावकर्म स्वीकार नहीं किया गया। ज्ञानी पुरुष ही इस मर्म के वेत्ता होते हैं।

स्वरूप में औपाधिकभाव का अस्वीकार—जैसे सिनेमा के पर्दे पर फिल्म के अक्स आते हैं किन्तु जिसे विदित है कि यह तो स्वच्छ सफेद कपड़ा है तो वह उस पर्दे के स्वरूप में चित्रों को स्वीकार नहीं करता। जैसे यथार्थ जानने वाला पुरुष पर्दे पर चित्रमयता नहीं स्वीकार करता है इसी प्रकार जिसको अपने सत्त्व का परिचय है, स्वरूप का भान है वह अपने में भावकर्म का प्रतिबिम्ब होकर भी उन्हें स्वीकार नहीं करता कि मैं रागद्वेष रूप हूं। तो जहां द्रव्यकर्म का और भावकर्म का स्वीकार नहीं हुआ, वहाँ फिर नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव इन चार गतियों का परिभ्रमण कहां है? यह योगीजनों के मर्म की बात है और यह न जानो कि यह साधुजनों के ही परखने की चीज है; यह तो आत्मा के द्वारा परखी जाने वाली बात है। वह चाहे पशु हो,

चाहे पक्षी हो, चाहे गृहस्थ हो, चाहे साधु हो उसको सबको देखने का अधिकार है और वह आत्मस्वरूप उन भव्य जीवों को दृष्ट हो जाता है। जो बात पशु और पक्षी को भी दृष्ट हो सकती है वह बात हमें न दृष्ट होगी, यह कहना युक्त न होगा। हम ही नहीं देखना चाहते हैं सो दृष्ट नहीं है।

अशरण से शरण चाहने का व्यामोह—घर के लोग धन परिवार ये इस जीव को क्या तो शरण हैं और क्या शरण होंगे। यह जीव तो सबसे न्यारा केवल अकेला ही है। इसका कौन तो कुटुम्बी है और इसका क्या वैभव है? आज यहाँ है कहो जीवन में ही संग बिछुड़ जाय चेतन और अचेतन इन सबका। अथवा स्वयं को भी तो मरण करके जाना होगा। फिर इसका कौन साथ निभायेगा? यह जीव सर्वत्र अकेला है, अपने स्वरूप मात्र है; ऐसी बुद्धि आए तो इस जीव का कल्याण है अन्यथा मोह ममता में तो इस जीव को कभी शांति का मार्ग नहीं मिल सकता है। दिखा रहे है यहाँ शुद्ध जीव स्वरूप को। उससे कुछ तो यह ध्यान दो कि ओह क्या तो मैं था और क्या बन गया हू।

स्वदया की ओर ध्यान—भैया ! अपने पर कुछ दया विचार करके जो वर्तमान में बना फिर रहा है उसकी दृष्टि तो गौण करें और मुझमें जो स्वरूप है उसका ही जो स्वकीय भाव है उस पर दृष्टिपात करें। ऐसा करने पर ज्यादा से ज्यादा बुरा क्या होगा कि लोगों में परिचय कम हो जायेगा, लोगों में उठा बैठी कम हो जायेगी, अथवा कदाचित् मान लो धन की आय भी कम हो जाये, प्रथम तो ऐसा होता नहीं, जो शुद्धभाव से धर्म की ओर दृष्टि रखते है उनका पुण्य प्रबल होता है और वैभव प्रकट होता है। कदाचित् मान लो उदय ही ऐसा हो कि व्यापार में ज्यादा मन न लगे, धन में कमी हो गयी, पाप की उदीरणा हो गई, तो यह तो विवेक होगा कि ये मायामय इन्द्रिजालिया पुरुष यही तो कहेंगे कि मुझे पूछता नहीं अथवा अपमान करेंगे, सो इससे क्या यह सब भी स्वप्न की चीज है? इससे कुछ मेरे स्वरूप में बिगाड़ नहीं होता। यदि अपने स्वरूप की दृष्टि प्रबल हुई तो बाहर में कहीं कुछ हो, उससे नुकसान नहीं है, किन्तु लाभ ही है। मोक्ष मार्ग चलता है।

आत्महित की रुचि में बाह्यस्थिति की लापरवाही—एक कथानक है कि गुरु और शिष्य थे। साधु अध्यात्मिक संत था। एक समय किसी छोटी पहाड़ी पर उन्होंने अपना निवास किया। कुछ दिन बाद में देखा कि राजा बड़े ठाठबाट से सेना सजाए हुए आ रहा है। तो संन्यासी ने सोचा कि राजा को यदि हम अच्छे जंचे, राजा के चित्त पर मेरा प्रभाव पड़ा तो फिर मेरे लिए सदा को आफत हो जायेगी। यहाँ सारी प्रजा दुनिया, राजा सभी लोग पड़े रहा करेंगे अथवा बहुत आवागमन बना रहेगा। उससे मेरे को तकलीफ होगी। इस कारण ऐसा कार्य करें कि राजा का चित्त हट जाय और इसे मेरे प्रति घृणा हो जाय। सो गुरु ने अपने शिष्य से कहा बेटा देखो वह राजा आ रहा है। हाँ आ रहा है। राजा पास आयेगा तो तुम उसी समय हमसे रोटियों की चर्चा करने लगना, हम बोलेंगे कि तुमने कितनी रोटी खाई तो तुम बोलना कि हमने इतनी खाई। हम कहेंगे कि इतनी क्यों खाई तो तुम कहना कि कल तुमने भी तो ज्यादा खाई थी, सो आज हमने ज्यादा खाई, ऐसी चर्चा करने से राजा सोचेगा कि साधु महाराज रोटियों के विषय में लड़ते हैं तो ऐसा देखकर राजा चला जायेगा। राजा के आने पर गुरु और शिष्य दोनों में वैसी ही चर्चा हुई, तुमने कितनी रोटी आज खाई? हमने 10 खाई। 10 क्यों खाई? कल तुमने भी तो 10 खाई थी। हमने कल कम खाई थी, सो आज हमने ज्यादा खाई। ऐसी चर्चा सुनकर राजा उसके पास से चला गया। राजा के चले जाने पर उस संन्यासी ने शांति की

सांस ली। कभी-कभी ऐसी बात बन जाती है कि संतजनों को अपमान या अन्य कुछ भी हो तो भी वे उसकी परवाह नहीं करते हैं।

आत्मा की अजररूपता—यह संसार स्वप्नवत् है। यहाँ जिसे अपने सहजस्वभाव की दृष्टि है, उसे दृष्टि में चारों गतियों का भ्रमण नहीं है। मैं तो नित्य शुद्ध चिदानन्दस्वरूप हू, कारणपरमात्मतत्त्व हू। मुझमें द्रव्यकर्म का ग्रहण नहीं है, न द्रव्यकर्म ग्रहण के योग्य विभावों का परिणमन है, इस ही कारण मेरा जन्म भी नहीं है, मरण भी नहीं है, रोग भी नहीं है। अपने आपके अन्तर में शुद्ध ज्ञानप्रकाश का अनुभव करे। किसी अन्यरूप अपने को न देखे तो उसे इस देह का भी मान न रहेगा। फिर बुढ़ापे का अनुभव कौन करेगा? जैसे आंखों से इस देह पर दृष्टि पहुंचती है, वैसे ही आत्मा में कमजोरी भी बढ़ती है। मैं बूढ़ा हो गया हू—ऐसी शरीर पर दृष्टि हो तो अपने आत्मा में भी निर्बलता प्रकट होती है। एक इस शरीर की दृष्टि छोड़ देवे तो फिर बूढ़ा कहां रहा? बूढ़ा तो तब तक है, जब तक देह पर दृष्टि है।

नरजीवन में अन्तिम एक विकट समस्या और उसका हल—भैया ! एक बड़ी विडम्बना है जीवन में कि पहिले बच्चा हुए, फिर जवान हुए, पुरुषार्थ किया, तप किया, धर्मसाधना की या धन कमाया और अन्त में बूढ़े होना पड़ता है और बुढ़ापे में सारी शिथिलता आ जाती है तो बुढ़ापे के बाद मरणकाल आता है। कितनी एक आपत्ति की बात है कि मरते समय बहुत निर्बल अपनी दृष्टि को बनाकर मरना पड़ता है। लेकिन विवेक और सावधानी इस बात की है कि वह अपने को बूढ़ा समझे ही नहीं। हो गया देह। यह देह सदा साथ न रहेगा। यह तो अब भी भिन्न है। इन्द्रिय को संयत किया, नेत्रों को बन्द किया, बाहर कुछ नहीं देखा, स्वयं जिस स्वरूप वाला है, उस स्वरूप पर दृष्टि की। अब वह बूढ़ा नहीं रहा, वह तो चिदानन्दस्वरूप मात्र है, ऐसा अपने आपको आत्मारूप अनुभव करने वाले उस पुरुष के न तो जन्म है, न ही बुढ़ापा है और न ही मरण है, न कुछ रोग है।

आत्मा की निरोगस्वरूपता—ज्ञानी पुरुष की ऐसी अनुपम लीला है कि कैसा ही शरीर में रोग हो, रोग होते हुए भी जहां उसने अन्तर्दृष्टि की और अपने को ज्ञानप्रकाशरूप अनुभव किया, उसके उपयोग में रोग तो हैं ही नहीं। शरीर पर रोग हो तो हो और उपयोग की विशुद्धि के प्रताप से शरीर का भी रोग दूर हो जाता है। शरीर का रोग दूर हो अथवा न हो इसकी ज्ञानी को परवाह नहीं होती। उसे तो केवल एक चाह है कि मैं जैसा स्वच्छस्वभावी हू अपनी निगाह में बना रहूं। मुझसे कोई खोटा कर्म और अपराध कर्म न हो और ज्ञाताद्रष्टा रहकर इस जीवन के ये थोड़े क्षण व्यतीत कर डालू—ऐसा ज्ञानी गृहस्थ हो अथवा साधु हो उसकी भावना रहती है।

गृहस्थ की धर्मरूपता—आज के जमाने में भैया ! गृहस्थ और साधु में अधिक अन्तर नहीं रहा। पहिले समय में तो अधिक अन्तर यों था कि शुद्ध भाव बढ़ाकर श्रेणी चढ़कर मोक्ष जा सकते थे। आज के समय में कोई भावलिङ्गी साधु अधिक से अधिक सप्तम गुणस्थान तक चढ़ सकता है। यह है उस जीव की वर्तमान परिस्थिति और मरण के बाद जो फल होगा उसकी परिस्थिति यह है कि वह ज्यादा से ज्यादा 6, 7, 8वें स्वर्ग तक उत्पन्न हो सकता है। इससे ज्यादा नहीं जा सकता है। क्योंकि उसके अंतिम संहनन हैं और उनमें ही प्राय: छठा ही संहनन है। सो गृहस्थ यदि वास्तविक मायने में धर्म का पालन करता है तो वह गृहस्थ क्या

है? वह तो मनुष्य होकर देवता है। गृहस्थ का धन जोड़ने का ही लक्ष्य हो तो वहाँ गृहस्थ धर्म भी नहीं चलता है। गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य यह है कि चूकि वह अपनी निबलाई से महाव्रती नहीं बन सकता था, अत: गृहस्थधर्म इसी से स्वीकार किया कि कहीं मैं अधिक विषयकषायों में प्रपंचों में न फंस जाऊं। न विवाह करू, न घर में रहूं और साधु भी न होऊं तो विषयों में नौबत आ जाती है इसलिए विषय कषाय तीव्र नहीं हो सके, इसके अर्थ उसने गृहस्थी को स्वीकार किया, धन जोड़ने के लिए गृहस्थ धर्म स्वीकार नहीं किया। दुनिया में विषयकषायों के कीचड़ में अधिक न फंस जाऊ, उससे बचा रहूं, इसके अर्थ गृहस्थ धर्म स्वीकार किया।

सद्गृहस्थ का विवेक—ऐसे ज्ञानी गृहस्थ की वृत्ति यह होती है कि वह न्याय नीति से अपनी आजीविका करता है। उस आजीविका में जो आय हो जाय उसके विभाग बनाता है। जैसे 6 विभाग बने, एक विभाग परोपकार के लिए हो, एक विभाग अपने स्वकीय धर्मसाधना की व्यवस्थावों के लिए हो, एक विभाग वक्त पड़े पर काम के लिए हो, एक दो विभाग गृहस्थी के पालन पोषण के लिए हो, ऐसा भाव करके उनमें हो उसी प्रकार से अपना गुजारा करता है। वह जरूरतें मानकर हिसाब नहीं बनाता है, किन्तु हिसाब देखकर जरूरतें बनाता है। यह फर्क है सद्गृहस्थ में और भोगी गृहस्थ में।

गृहस्थ के आय व्यय का विवेक—भैया ! भोगी गृहस्थ तो जरूरतें मानकर हिसाब बनाता है अजी हमारा इतना स्टेन्डर्ड है, हम ऐसी पोजीशन के हैं, यों खाते-पीते चले आये हैं, इस ढंग का हमारा रहन-सहन है, आय तो हमारी इतनी होनी चाहिए। चाहे कैसा भी हो, इतनी आय के बिना तो हमारा गुजारा चल ही नहीं सकता। अच्छा और जो गरीब पुरुष हैं, जो बेचारे 40ृ 50 रुपये की ही आय रख पाते हैं और 5, 7 घर में सदस्य हैं ऐसे भी होंगे और उनका भी काम चलता है। और कहो उनमें धर्म की लगन हो तो धार्मिक कार्यों में अन्तर भी नहीं डालते हैं, गुजारा तो हर तरह हो सकता है। गृहस्थ धर्म यही है कि अपना हिसाब देखकर जरूरतें बनाएं, उसमें चिंता न हो सके। इसमें लक्ष्य मुख्य यह मिलेगा कि हम धर्मसाधना के लिए जीते हैं और हमने नरजन्म धर्मसाधना के लिए पाया, आराम के लिए नहीं, भोगों के लिए नहीं, दुनिया में अपनी पोजीशन फैलाने के लिए नहीं, किन्तु किस ही प्रकार उस अपने आपके सहज शुद्ध स्वभाव को निरखकर और उस स्वरूप की ही भावना करके अपने में ऐसा विश्वास बना लें व उपयोग बना लें कि मैं चिदानन्द स्वरूप हू।

ज्ञाता व अज्ञाता के साथ व्यवहार का अनवकाश—मेरा किसी दूसरे से परिचय नहीं है, मुझे कोई दूसरा जानता नहीं है, कोई दूसरा मुझे जान जाय तो वह स्वयं ज्ञाता हो गया, स्वयं ब्रह्मस्वरूप में लीन हो सकने वाला हो गया, अब उसके लिए मैं जुदा व्यक्ति नहीं रहा, तब फिर ज्ञाता से व्यवहार क्या और अज्ञानियों से व्यवहार क्या? कोई मुझे नहीं जानता है तो उनसे मेरा व्यवहार क्या? वह जानता ही नहीं है। कोई मुझे जानता है तो वह स्वयं ज्ञाता हो गया। वह स्वयं ब्रह्मस्वरूप सामान्यभाव का रसिक हो गया, अब उनके लिए मैं जुदा व्यक्ति नहीं रहा, फिर ज्ञाता का व्यवहार क्या? ऐसी अपने स्वरूप की भावना भा-भा कर अपने को दृढ़ बना लेता है। परपदार्थों में परजीवों में कैसी ही कुछ परिस्थिति हो, उन परपदार्थों के कारण अपने में

किसी भी प्रकार की उल्झन न डालो। ऐसा धर्म का पालन करते हुए कुटुम्बीजन मित्रजन इन लोगों की सेवा शुश्रूषा करते हुए घर में रहते हुए भी कुटुम्बीजनों से अलिप्त रहो।

दृढात्मभावना में दर्शन—ज्ञानी सद्गृहस्थ इस संसार से विरक्त हो जाता है, मोक्षमार्ग में लग जाता है, किन्तु जो इस संसार में अपने को पर्यायरूप मानकर वहाँ ही अटक जाता है वह उठ नहीं सकता। संन्यास अवस्था में तो दृढात्मभावना होती ही है, किन्तु गृहस्थावस्था में भी चतुर्थगुणस्थान और पंचमगुणस्थान में स्वच्छता के अनेक गुण प्रकट होते हैं। तब हमें अपने धर्म का पालन करते हुए विशेषरूप से अपने स्वभाव की दृष्टि करनी है तथा शक्ति व व्यक्ति के मुकाबले में यह ध्यान में रखना है कि मैं क्या तो था और क्या बनता फिर रहा हू? प्रभुभक्ति करके हमें अपनी भावना दृढ़ बनानी है। हे प्रभो ! तुम जैसा ही तो मेरा स्वरूप है। इस विविक्त आत्मस्वरूप की भावना दृढ़ जिसके होती है उसे तो प्रकट दिखता है कि मेरे न चतुर्गति का भ्रमण है, न जन्म है, न बुढ़ापा है, न मरण है, न रोग है, न शोक है। मैं तो शुद्ध ज्ञायकस्वभाव मात्र हू।

जीव स्वरूप में देहकुल का अभाव—शुद्ध जीवद्रव्य, जो अपने ही सत्त्व के कारण जैसा है उस ही रूप में अपने को निरखने से ज्ञात होता है। सहजस्वभावमय आत्मद्रव्य देह से देहकुलों से परे है। ये देह कितने प्रकार के हैं इनका सिद्धान्त में वर्णन आया है कि समस्त देहों की जातियां एक सौ साढ़े सत्तानवे लाख करोड़ हैं। जैसे एक करोड़, दो करोड़, सौ करोड़, हजार करोड़, लाख करोड़, करोड़ करोड़ चलते हैं ना, तो ऐसे ही एक सौ साढ़े सत्तानवे लाख करोड़ हैं। उनका भिन्न-भिन्न वर्णन इस प्रकार है।

पृथ्वीकायिक जीवों के देहकुल—पृथ्वीकायिक जीव जो कि स्थावरों में एक भेद है, पत्थर, मिट्टी, जमीन के अन्दर की कंकरी, सोना, चाँदी, लोहा, तांबा ये सब पृथ्वीकायिक जीव हैं। खान से बाहर निकलने पर ये जीव नहीं रहते। जब तक खान में है तब तक ये जीव हैं। इनकी देह जातियां 22 लाख करोड़ प्रकार की हैं। जैसे कहने में तो 10, 20 ही आते हैं—तांबा, सोना, लोहा या और धातुवें, पत्थर, मिट्टी, मुरमुरा पर तांबा भी कितनी तरह का होता है, चाँदी भी कितनी तरह की होती है? फिर उनके प्रकारों को ले लो। फिर उन प्रकारों के भीतर भी थोड़ा-थोड़ा फर्क जंचे और भी भेद हो जाते हैं। इस तरह पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर के कुल 22 लाख करोड़ हैं।

जलकायिक व अग्निकायिक जीवों के देहकुल—जलकायिक जीव जो सामान्यतया देखने में 5, 7 प्रकार के जँचते हैं, जैसे चम्बल नदी का पानी सफेद बताते हैं और यमुना नदी का पानी नीला बताते हैं, तो ऐसे ही थोड़े-थोड़े भेद से 5,7 तरह के पानी मालूम पड़ते हैं, पर उस पानी में रंग का फर्क, रस का फर्क और स्पर्श का फर्क, इन सभी फरकों के हिसाब से 7 लाख करोड़ तरह के शरीर हैं। अग्निकायिक जीव जिसके भेद का पता लगाना कठिन है। सब आग है, सब गर्म है, सब भस्म करने वाली है, पर अग्निकायिक जीव के देह भी तीन लाख करोड़ प्रकार के हैं। उनमें रूप का फर्क, तेजी का फर्क—ऐसे ही विविध अन्तर को डालते हुए तीन लाख करोड़ प्रकार के हैं।

वायुकायिक जीवों के देहकृत—वायुकायिक जीव जिनका हमें कुछ स्पष्ट पता भी नहीं पड़ता, हवा लग रही है इतना ही भर जानते हैं, पर उन वायुकायिक जीवों में भी शरीर होता है और उनके देह सात लाख करोड़ प्रकार के हैं। कुछ लोग ऐसा सोचते होंगे कि वृक्ष हिलते हैं तो हवा निकलती है। क्यों जी ! वृक्ष हिलते कैसे

हैं? जब हवा चलती है, तभी तो ये वृक्ष हिलते हैं। मूल बात क्या है कि हवा स्वयं गति का स्वभाव रखती है, हवा स्वयमेव चलती है। वृक्षों के हिलने के कारण हवा नहीं चलती है, पर हां, इतनी बात और भी है कि हवा में स्वयं गति का स्वभाव है और गति स्वभाव वाली यह हवा कृत्रिमता से भी कभी कुछ चलती है। जैसे बिजली के पंखे से कृत्रिमता से हवा चलती है। तो ऐसे वायुकायिक जीवों के शरीर 7 लाख करोड़ प्रकार के होते हैं।

वनस्पतिकायिक जीवों के देहकुल—वनस्पतिकायिक जीव दो ही प्रकार के होते हैं—एक निगोदिया जीव और दूसरी हरी वनस्पति। हरी वनस्पति तो आंखों से दिखने में भी आते हैं, प्रयोग में भी आते हैं, पर ये निगोद जीव न आंखों से दिखने में आते हैं, न प्रयोग में आते हैं। ये सभी के सभी वनस्पतिकायिक कहलाते हैं। इनमें 28 लाख करोड़ प्रकार के देह हैं। अब इस हरी वनस्पति को देखो तो ये भी स्पष्ट समझ में आते हैं कि कितनी तरह के वनस्पति हैं। बरसात में देखा होगा कि कितने प्रकार के पेड़ दिखा करते हैं? कहीं इधर-उधर बगीचों में जाकर देखो कि कितनी तरह की वनस्पति है? ये व अन्य सूक्ष्म वादर सब वनस्पतियां 28 लाख करोड़ प्रकार की होती हैं।

स्वभावदृष्टि का प्रयत्न—भैया ! यह सब इसलिए बताया जा रहा है कि इस भगवान् आत्मा का कैसा तो ज्ञानानन्दस्वभाव है और अपनी ही भूल से इसे कैसी-कैसी देहों को धारण करना पड़ता है? कितनी इसकी विडम्बना हो गयी है? बात रोज कहते हैं, रोज सुनते है, एक बार भी कड़ी हिम्मत करके बाह्यपदार्थों का, परिग्रहों का जो कुछ होना हो, वह हो जावे। क्या होगा? आखिर जो मरने पर होगा, सो ज्यादा से ज्यादा क्या होगा? वियोग हो जायेगा, कुछ भी न रहेगा, पर एक बार कड़ी हिम्मत करके सर्वपरिग्रहों का विकल्प तोड़कर परमविश्राम में स्थित होकर अपने आपके स्वभावरस का स्वाद तो आने दो। तब ही ये विडम्बनाएं सब दूर हो सकेंगी अन्यथा उसी ढर्रा में, ढला में जब से पैदा हुए हैं। जब तक मरणकाल नहीं आता है, तब तक केवल ऐसा ही मोह और राग बसा रहा, एक मिनट को भी, एक सेकण्ड को भी संस्कार मिट न पाये, घर, स्त्री और कुटुम्ब को दिल से न निकाला तो बताओ ऐसी जिन्दगी से जीने के फल में भी आखिर होगा क्या?

अद्भुत धर्मशाला—एक साधु सड़क से जा रहा था। मार्ग में एक सेठ की हवेली मिली। साधु हवेली के दरवाजे पर खड़े हुए चपरासी से पूछता है कि यह धर्मशाला किसकी है? चपरासी बोलता है कि महाराज ! यह धर्मशाला नहीं है, आगे जाइए। साधु ने कहा कि मैं तो यह पूछता हू कि यह धर्मशाला किसकी है? अजी, यहाँ ठहरने को न मिलेगा। साधु ने कहा कि हमें ठहरना नहीं है, हम तो पूछते है कि यह धर्मशाला किसकी है? चपरासी ने कहा कि यह धर्मशाला नहीं है। यह तो अमुक सेठ की हवेली है। इतने में सेठ जी ने बुला लिया। सेठ ने कहा कि महाराज ! बैठो ना। आपको ठहरना है तो यहाँ भी आप ठहर सकते हो, आपकी ही तो हवेली है और धर्मशाला तो आगे है। यदि आप धर्मशाला में ठहरना चाहते हैं तो आगे चले जाइये। साधु ने कहा कि हमें ठहरने की जरूरत नहीं है, हम तो सिर्फ पूछ रहे हैं कि यह धर्मशाला किसकी है? सेठ ने कहा कि महाराज ! यह धर्मशाला नहीं है, यह तो मकान है। सेठ ने साधु से पूछा कि यह किसने बनवाया था? सेठ बोला कि हमारे बाबा ने बनवाया था। वे बनवाकर कितने दिन इसमें रहे थे? अजी, वे तो

बनवा भी न पाये थे कि अधबने में ही मर गये थे। फिर इसके बाद किसने बनवाया? पिताजी ने। वे कितने दिन इसमें रहे थे? वे इसमें पाँच वर्ष रह पाए, फिर गुजर गए। तुम कब तक रहोगे? इतनी बात सुनकर सेठ समझ गया कि संन्यासी जी बड़े मर्म की चर्चा कर रहे हैं। वह सेठ साधु के चरणों में गिर गया। साधु ने समझाया कि धर्मशाला में, जिसमें मुसाफिर रहते हैं, वहाँ नियम तीन दिन का या 7 दिन का रहता है। मुसाफिर को 3 दिन से अधिक ठहरने की आवश्यकता हो तो प्रेजीडेण्ट या सेक्रेटरी को दरख्वास्त देकर 15-20 दिन, महीनाभर और ठहर सकता है। मगर यह धर्मशाला ऐसी है कि जितने दिन का इसमें नियम है, उसके बाद एक सेकण्ड भी नहीं ठहर सकता, मरकर जाना ही पड़ता है।

मोही की अरक्षा—भैया ! हम मस्त हों भले ही कि हमारा घर तो बहुत अच्छा है हमारा आवास अच्छा है, हमारे सारे समागम अच्छे हैं, मगर इनका विश्वास क्या? रोज-रोज तो देखते हैं दूसरों का जो कुछ भी हाल है। जैसे कोई मनुष्य जलते हुए जंगल के बीच किसी रूख पर बैठ ही जाये। बैठा हो और चारों तरफ आग लग गयी हो और रूख पर बैठा हुआ वह आदमी खेल देखा करे देखो चारों और जंगल जल रहा है, वह सांप जला वह हिरण कैसा भागा जा रहा है? वह खरगोश मरा, वह फलां जानवर मरा, यह सब देखकर वह मस्त हो रहा है, उस बेचारे को कुछ खबर नहीं है कि वह आग नियम से यहाँ भी आयेगी और यह पेड़ भी जल जायेगा, मैं भी जल जाऊगा, यह ध्यान नहीं है। इसी तरह इस दुनिया में चारों ओर दिखता है कि वे दु:खी हैं, वे निर्धन हैं, वे रोगी हैं, वे यों मर गये, नाना विपत्तियों से ग्रस्त हम दूसरे जीवों को देखते हैं और अपनी सुध नहीं रखते कि हम कहां के सुरक्षित बैठे है?

परभाव की अविश्वास्यता—भैया ! भले ही उद्यम आज अच्छा हो पर क्या ऐसा उदय जीव का स्वभाव है। क्या यह जीव के साथ सदा रहेगा? अरे इस जीवन का तो पता ही नहीं है कि ऐसा उदय जीवन तक भी निभायेगा या नहीं, आगे की तो कहानी ही क्या कहें? कर्मों से घिरे हैं, विभावों से घिरे हैं, शरीर से बंधे हैं। जरा-जरासी बातों में चित्त चलित हो जाय, विषय-कषाय जग जायें, खुद के स्वरूप को भूलकर विभावों की अग्नि में झुलस रहे हैं और भूल से अपने को मानते हैं कि हम बड़े सुरक्षित हैं। यहाँ यह बताया जा रहा है कि चिदानन्दस्वरूप भगवान् आत्मा के विस्मरण के कारण कैसे-कैसे देहों की विडम्बनाएं इस जीव को सहनी पड़ती हैं?

विकलत्रिक जीवों के देहकुल—स्थावर जीवों के अतिरिक्त अब त्रस जीवों पर दृष्टि डालिए। त्रस जीव दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय व पञ्चेन्द्रिय जीव को कहते हैं। जिसके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय है, जीभ, आँख, कान कुछ नहीं है, केवल देह ही देह हैं, अन्य इन्द्रियां नहीं हैं तो उन्हें एकेन्द्रिय जीव अथवा स्थावर जीव कहते हैं। जिनके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां हैं उन्हें दो इन्द्रिय कहते हैं। दो इन्द्रिय जीव के कितनी जाति के देह हैं? तो सिद्धान्त में बताया है कि दो इन्द्रिय जीवों के 7 लाख करोड़ प्रकार के जीव हैं। सैकड़ों प्रकार के देह तो हम आपको दिखते भी है केंचुवा है, लट है, जोक हैं, सीप है, कौड़ी का कीड़ा, शंख का कीड़ा, चावल का कीड़ा, तो कुछ तो नजर आते ही हैं, और भी अनेकों प्रकार के हैं। उनमें आकार भेद से, रंग भेद से, स्पर्श भेद से इनके शरीर कितनी जाति के हैं? तो वे सब 7 लाख करोड़ जाति के दो

इन्द्रिय जीवों के देह हैं। तीन इन्द्रिय जीवों के 8 लाख करोड़ प्रकार के शरीर हैं। चार इन्द्रिय जीवों के 9 लाख करोड़ प्रकार के शरीर हैं।

तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय जीवों के देहकुल—अब पंचेन्द्रिय जीवों के कुल देखो तो पंचेन्द्रिय जीवों के इस प्रकरण में इतने विभाग बना लें—देव, नारकी, मनुष्य ये तीन तो तीन गति के हैं ही, और तिर्यञ्च गति में जलचर, नभचर और पशु और रेंगने वाले जीव जैसे सांप आदिक यों 7 विभाग बना लो। और इसके क्रम से देह की जातियां कितनी हैं सो समझ लो। जलचर जीव जो पानी में ही रह सकते हैं और पानी में ही रहने में उनको मौज है। ऐसे जीवों की साढ़े बारह लाख करोड़ प्रकार की देह हैं। मछलियाँ ही कितनी तरह की हैं, उनका रंग देखो आकार प्रकार देखो। कछुवा, केकड़ा आदि। जो नभचर जीव हैं वे आकाश में चल सकते है, चील, कबूतर सुवा आदि ये सब नभचर जीव हैं। इन देहों के प्रकार हैं 12 लाख करोड़ और आदि जो चतुष्पद हैं—पशु, हिरण, गाय, बैल, घोड़ा, गधा, खरगोश आदिक इन जीवों के जो देह हैं वे 10 लाख करोड़ तरह के हैं और सर्प आदिक ये 9 लाख करोड़ प्रकार के कुल देह हैं।

नारकी, मनुष्य व देवों के देहकुल—नारकियों के 25 लाख करोड़ प्रकार के देह हैं, मनुष्यों के 12 लाख करोड़ प्रकार के देह हैं। कुछ तो ध्यान में आता ही है। अभी इसी देश में गुजराती, पंजाबी, बंगाली, मध्यवासी इन भूमियों में जो उस कुल परम्परा से उत्पन्न होते आये हैं, आपस में देह नहीं मिलता। उनका आकार रंग ये सब भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। फिर मनुष्यों में लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य भी आ गये। ये लब्धपर्याप्तक, निवृत्यपर्याप्तक, पर्याप्त समस्त मनुष्य 12 लाख करोड़ प्रकार के हैं। देवों में 26 लाख करोड़ प्रकार के कुल हैं।

जीव में सकलदेहकुलों का अभाव—इस प्रकार ये समस्त देह जो भगवान् आत्मा के स्वरूप की उपासना बिना भुगतने पड़ रहे हैं वे सब एक सौ साढ़े सत्तानवे लाख करोड़ हैं। ये देहकुल इस शुद्ध अंतस्तत्त्व के नहीं हैं, मैं वह हू जो इन सर्व प्रकार की देहों से जुदा हू, मात्र चैतन्यस्वभावी हू।

कारणसमयसार की निरन्तर भावना की आवश्यकता—भैया ! आत्महित में इस निज सहजस्वभाव की दृष्टि हमारी बार-बार पहुंचनी चाहिए और जैसे मनुष्य रोज-रोज खाते हैं, अघाते नहीं है, फिर दूसरा दिन आया, फिर खाते हैं, फिर भूख लगती है, फिर तीसरा दिन लगता है, फिर खाते हैं। क्या अपने जीवन में कोई मनुष्य यह सोचता है कि मेरा खाना छूट जाय। यदि किसी बीमारी से यदि खाना बंद हो जाय तो वह दवा करवाता है कि खाना खाने लगें। तो जैसे रोज-रोज खाते हैं और खाते-खाते अघाते नहीं हैं जीवन भर यह क्रम चलता है क्योंकि यह शरीर के लिए आवश्यक है, इसी तरह परमात्मतत्त्व, कारणसमयसार, चित्स्वरूप भगवान् आत्मा की दृष्टि हमें रोज-रोज क्या, घड़ी-घड़ी करना चाहिए।

योगियों का परमयोग—योगीजन इस आत्मस्वभाव की दृष्टि करते-करते कभी नहीं अघाते हैं कि अब हमने बहुत धर्म पालन कर लिया, चलो अब और कुछ मौज से भी रहें। उन्हें तो मौज धर्म में ही मालूम होती है। इसी प्रकार अपने को भी यही जानना हैं कि हमें भी रोज-रोज आत्मा की बात मिलनी चाहिए। पढ़ने से, सुनने से, दृष्टि करने से, चर्चा से, सत्संग से, हर कोशिशों से आत्मदृष्टि का यत्न करें। सर्व संकटों को दूर

कर देने वाला वातावरण है तो आत्म उपासना का वातावरण है। इस आत्मउपासना के महल से चिगे, बाहर गए तो सब ओर रागद्वेष के अंगारे ही रहेंगे, वहाँ शांति न मिलेगी।

शान्ति के वातावरण की महनीयता—यह भगवान् आत्मा स्वयं शांतिस्वरूप है। शांति कहां से लानी नहीं है। बना-बनाकर जो अशांति प्रकट की है उस अशांति को दूर करना है। शांति प्रकट करने के लिए श्रम करने की जरूरत ही नहीं है क्योंकि वह स्वयं स्वभाव ही है। अब वह अशांति हमारी कैसे दूर हो? उसके उद्यम में इस परमार्थ आत्मतत्त्व के सुवास में पहुंचने का ही काम एक युक्त है। धन्य है उस घर का वातावरण जिस घर के पुरुष, स्त्री, बच्चे सभी धर्मप्रेमी हों और एक दूसरे को धर्म में उत्साहित करते हों, मोह ममता के त्याग की शिक्षा देते हों। वह मित्रजनों की गोष्ठी धन्य है जिसमें ज्ञान और वैराग्य मार्ग का ही एक उद्देश्य बनाया गया हो। अन्यथा ऐसे मित्रों की गोष्ठी जो विषयों में लगाने और रागद्वेष की आग भड़काने में लगे रहते हों, ऐसे मित्रों की मित्रता तो बेकार है। बेकार ही नहीं है किन्तु अनर्थ करने वाली है।

गृहस्थ की मुख्य दो कलायें—भैया ! गृहस्थावस्था में सब कुछ कर्तव्य करने पड़ते हैं लेकिन यह ध्यान रखना है कि ''कला बहत्तर पुरुष की तामें दो सरदार। एक जीव की जीवका दूजी जीव उद्धार।।'' अपने को केवल दो बातें करनी है एक उद्धार का मार्ग चले और एक आजीविका बने। इन दो कामों के अलावा जितने भी गप्प-सप्प हैं, उद्दण्डता, स्वच्छन्दता, व्यर्थ का समय खोना, इन्हीं मजाकों से सभी लड़ाइयां और विवाद हो जाया करते हैं। सो इन सबसे दूर रहना चाहिए। इनमें कोई धर्म प्रसार का उद्देश्य है क्या? है तो करो। इसमें कोई आजीविका सम्बन्ध है क्या? तो करो। गृहस्थजनों के लिए ये दो ही तो मुख्य कार्य हैं। पर जहां न तो आजीविका से सम्बन्ध है और न धर्म के लगाव का सम्बन्ध है, केवल गल्पवाद हो, हंसी मजाक हो वह गोष्ठी हितकर नहीं है।

गृहस्थों की सद्गोष्ठियां ऐसी हुआ करती थी कि भाई, आजीविका का कार्य किया। दूकान, सर्विस कुछ भी हो, उससे अवकाश मिला तो आ गए मन्दिर में और बैठ गए। कोई सुहावना सुगम शास्त्र रख लिया। धर्म की चर्चा कर रहे हैं, अब तो प्राय: ऐसी गोष्ठियां नहीं रही। जो एक मन्दिर जाने का नियम है, उस कार्य को छोड़कर और समय में मन्दिर में बैठने में भी आलस्य सा लगता है, मन नहीं चाहता है। फिर भी ऐसे विषमकाल में भी यत्र-तत्र आपको गृहस्थजनों की ऐसी गोष्ठियां मिलेंगी कि जो आदर्श हैं, अनुकरणीय हैं। दो-दो अथवा चार-चार पुरुषों की ऐसी बहुत सी गोष्ठियां कुछ शहरों और नगरों में स्थित हैं, जिन्होंने कुछ ज्ञान सीखने का लाभ लिया है।

ज्ञानपुरुषार्थ—धन और ज्ञान, इनमें से धन जोड़-जोड़कर अन्त में कौनसा आनन्द पावोगे? यह भी विचार कर लो। ज्ञान बढ़ा-बढ़ाकर कैसा आनन्द पावोगे? इसका भी विचार कर लो। इस झूठी इन्द्रजाल, मायामय पर्याय के बाद चूंकि हम सत् है ना, विनाश तो होगा नहीं। तो कहीं न कहीं जायेंगे ही। इस धन के कारण जो लाभ माना है, वह संग नहीं जाएगा और इस ज्ञान के कारण जो लाभ मिलेगा, वह संग जायेगा। विवेकी व्यापारी तो वह है जो बड़ी दूर की बात सोचे। फिर दूसरी बात यह है कि धन की कमाई आपके हाथ पैर के आश्रित नहीं है, आपके परिणामों की निर्मलता की करनी से जो पुण्यबन्ध हुआ है, उसके आधीन है। निर्मल परिणाम है तो लौकिक दृष्टि से और परमार्थ दृष्टि से लाभ ही लाभ है। परिणामों की निर्मलता नहीं है तो वर्तमान में

भी सुख नहीं है और आगामी काल में भी सुख नहीं है। निर्मलता उसे ही कहते हैं जहां ज्ञान और वैराग्य बसा रहता है। सो इस निर्मल आत्मा की सुधि लो और इसकी ही तो उपासना में प्रयत्नशील हो तो ये नाना प्रकार के देहों की विडम्बनाएं सब समाप्त हो जायेंगी।

जीव में योनिस्थानों का अभाव—अभेद भाव से देखे गए इस शुद्ध जीवतत्त्व न तो देह के स्थान हैं और न देह की उत्पत्ति के भेदरूप स्थान हैं। जिन्हें कहते हैं योनि। सर्वत्र यह प्रसिद्ध है कि जीव 84 लाख योनियों में भ्रमण कर रहा है। वे 84 लाख योनियां क्या हैं? जीव के उत्पन्न होने के जो स्थान है, वे स्थान सचित्त, शीत, संवृत और इनके विपरीत अचित्त, उष्ण, विवृत और इनके मिलमां, ऐसी 9 प्रकार की मूल में योनि है और उनके भेद प्रभेद होकर 84 लाख योनियां हो जाती हैं। योनिस्थान व्यवहार में सब जीवों के मनुष्य, पशु पक्षी सबके उत्पन्न होने के स्थान हैं, द्वार हैं और देव और नारकियों के भी उत्पत्ति के स्थान हैं तथा एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय आदिक जीवों के भी उत्पत्ति के स्थान हैं, योनि हैं, किसी के तो स्थान प्रकट हैं और किसी के अप्रकट हैं। वे उत्पत्ति भी इस शुद्ध अन्तस्तत्त्व के नहीं हैं।

एकेन्द्रिय जीव के देहयोनिभेद—सब कितने योनि स्थान होते हैं? सिद्धान्त में बताया है पृथ्वीकायिक जीवों के 7 लाख जातियां हैं। जाति का अर्थ जन्म से है, योनि से है, जन्मस्थान के भेद स्थान से है। जलकायिक जीवों के 7 लाख योनियां हैं, अग्निकायिक जीवों के 7 लाख योनियां हैं, वायुकायिक जीवों के 7 लाख प्रकार के जन्मस्थान हैं और नित्यनिगोदी जीव तो आज तक निगोद में से नहीं निकले हैं, अनादि से निगोदभव में ही हैं। वे भी तो प्रतिक्षण जब उनके आयुक्षय का समय होता है, उत्पन्न होते रहते हैं, मरते रहते हैं। उनकी योनियां हैं सात लाख। जो निगोद से कभी निकल आये थे, पर अब निगोद में पहुंच गये हैं, उन जीवों के 7 लाख योनियां हैं। हरी जो वनस्पतिकाय है, चाहे वह सप्रतिष्ठित हो, चाहे वह अप्रतिष्ठित हो, उन वनस्पतियों के 10 लाख योनि भेद हैं। यह जीव अनादिकाल से ऐसे निष्कृष्टभव में रहा, जहा इसका शरीर दिख ही नहीं सकता। एक श्वास में 18 बार जन्म और मरण करता रहा—ऐसा है इस जीव का आदि निवास जहां अनन्तकाल व्यतीत हो जाता है और जीव का अन्तिम निवास है मोक्ष निवास, जहां अनन्तकाल व्यतीत हो जाते हैं।

वर्तमान पहुंच की महनीयता—निगोद से निकलकर अन्य स्थावरोंरूप हुआ, फिर दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवों में पहुंचा। जब मनुष्य हो जाये तो यह कितनी उन्नति का स्थान है? इतने ऊंचे आकर भी यदि हम नहीं चेतते तो उसका परिणाम यही तो प्रकट है कि जहां से निकलकर विकास किया है। विकास कम होकर वहीं का वहीं यह जीव पहुंच सकता है। अब जाएगा कहां? जो उत्कृष्ट भव में आ गया, मनुष्य हो गया और फिर भी अपनी अन्त:क्रिया न सुधरे तो इससे आगे और क्या बढ़ेगा? इससे नीचे ही आएगा।

आत्मदेव का आशीर्वाद व एक दृष्टान्त—एक साधु महाराज थे। उनके पास एक चूहा फिरा करता था। वह चूहा साधु के प्रति इतना विश्वास रखता था कि वह चूहा उनके चरणों के निकट ही पड़ा रहता था। एक बार एक बिलाव ने उसे धमकाया तो बेचारा बहुत डरा। साधु ने उसे यह आशीर्वाद दिया कि बिडालो भव। तू भी बिलाव हो जा। अब वह बिलाव हो गया। अब वह बिलाव को डर न रहा। अब झपटा उस पर कुत्ता, तो

साधु ने आशीष दिया कि श्वान भव। तू भी कुत्ता बन जा। लो वह कुत्ता बन गया। अब उस कुत्ते को डराया व्याघ्र, तेंदुवा, चीता ने, तो आशीष दिया व्याघ्रो भव। व्याघ्र को फिर सिंह ने डराया तो साधु ने आशीष दिया कि सिंहों भव। तू भी सिंह बन जा। वह सिंह बन गया। अब उसे डर किस बात का? उस सिंह को लगी बहुत कड़ाके की भूख, उसे कहीं शिकार न मिला तो सोचा कि इन साधु महाराज से अच्छा शिकार और कहां मिलेगा? तो उस साधु महाराज पर झपटने की सोचने लगा। साधु ने फिर आशीष दिया कि पुनः मूषको भव। फिर से तू चूहा बन जा। वह फिर चूहा बन गया। अरे जिसका आशीष पाकर इतनी बलवान् पर्याय तक पहुंच गया, उस पर आक्रमण करने का फल यही हुआ कि वह चूहा का चूहा ही रह गया। ऐसे ही हम आप जीव जिस आत्मदेव का आशीष पाकर विकास करते-करते आज मनुष्य हुए हैं और मनुष्य बनकर नाना कलावों से, चतुराई से विषय और कषायों के पोषण करने में लग गये और विषय कषायों के आक्रमण इस आत्मदेव पर ढा दिए तो इसको अन्तर से पुनः यह आशीष मिलेगा कि पुनः निगोदों भव। फिर से तू निगोद बन जा और जायेगा कहां?

प्रभुदर्शन का मूल ज्ञानभावना—भैया !हम विशेष ध्यान नहीं देते कि आखिर होगा क्या सम्पदा का, वैभव का, समागम का? जिसमें इतनी आसिक्त है कि प्रभुता के दर्शन करने का भी अवकाश नहीं है, मंदिर में आने मात्र से प्रभु के दर्शन नहीं हो जाते, किन्तु जब अहंकार और ममकार नहीं होता और उसके फल में आत्मविश्राम आने लगता है तो वहाँ प्रभु के दर्शन होते हैं। हमारा वातावरण ऐसा विशुद्ध हो, किसी ये द्वेष भरा न हो सबसे एक समान प्रेमपूर्वक बर्ताव हो, अन्तर में यह श्रद्धा न हो कि इतने लोग तो मेरे हैं और ये पराये हैं। वैभव से हमारा ममत्व का लगाव न हो। भले ही परिवार की रक्षा करनी पड़ती है फिर भी ज्ञान यह बना रहे कि मेरे आत्मस्वरूप के अतिरिक्त अन्य सब न कुछ हैं। हैं वे। उनका स्वरूप उनमें है। मुझसे पृथक् हैं। ऐसी ज्ञानभावना से अपने आपके अन्तर की स्वच्छता बर्ते तो वहाँ प्रभुता के दर्शन होते हैं।

व्यामोही को प्रभुदर्शन का अलाभ—जो रागद्वेष भरी बात बोलकर इसको पारिवारिक ममता में फंसाए रहते हैं वे इस मोही को हितकर लगते हैं अथवा कोई रागभरी बात भी नहीं बोलते और न कोई सेवा सुश्रुषा की ही बात कहते, उल्टा उपेक्षा कर दो चार गाली ही सुनने को मिलती हैं, फिर भी मोहवश यह व्यामोही पुरुष उनमें ही रमा करता है। मान न मान मैं तेरा मेहमान। दूसरे प्राणी इसे कुछ नहीं मानते हैं फिर भी मानो या न मानो, तुम तो मेरे सब कुछ हो। ऐसा व्यामोह जिस अन्तर में पड़ा हो उसे प्रभुता के कहां दर्शन हो सकते हैं?

मान न मान मैं तेरा मेहमान—एक बाबा को घर में नाती-पोते पीट देते थे, झकझोर देते थे, सिर पर बैठ जाते थे तो वह बाबा दरवाजे पर बैठकर रोने लगा। इतने में आए एक संन्यासी महाराज। पूछा कि बाबा क्यों रोते हो? कहा कि घर के नाते पोते बड़े कुपूत हैं, हमें बहुत हैरान करते हैं, हमें पीटते हैं। तो संन्यासी बोला कि अच्छा हम तुम्हारा सब दुःख मिटा दें तो। तो बाबाजी हाथ जोड़कर कहते हैं कि महाराज तुम धन्य हो। हमारे इस दुःख को मिटा दो। बाबा ने यह समझा कि संन्यासी जी ऐसा मंत्र फूकेंगे कि सभी नाती पाते हाथ जोड़े 24 घंटे हमारे सामने खड़े रहेंगे। परन्तु संन्यासी क्या बोला कि तुम घर छोड़ दो, हमारे साथ चलो,

तुम्हें हमारे संग कोई तकलीफ न होगी, तुम्हारे सारे क्लेश छूट जायेंगे। तो बाबा कहता है कि हमारे नाती पोते हमें कुछ भी करें, मारें पीटें, आखिर हमारे नाती पाते तो नहीं मिटते। वे तो हमारे हैं ही। मान न मान मैं तेरा महिमान। जबरदस्ती मानते रहते हैं कि तुम हमारे अमुक हो, व्यामोह की स्थिति ऐसी होती है।

मनुष्यत्व का सदुपयोग—भैया ! कुयोनियों से निकलकर आज मनुष्यत्व पाया तो इसका सदुपयोग तो करना चाहिए। इसका सदुपयोग यही है कि ऐसे पाये हुए उत्कृष्ट मन के द्वारा अपने आपके सहजस्वभाव चैतन्यभाव ज्ञानानन्दस्वरूप अपनी भावना बनाए, एक बार सब विकल्पों का परित्यागकर अपने शुद्ध ज्ञानानुभव का दर्शन करें, यही है इस पर्याय का उच्च सदुपयोग। इस अंतस्तत्त्व के दर्शन बिना यह जीव कैसी-कैसी कुयोनियों में पैदा होता आया है? उसके वर्णन में सुनियेगा।

सर्वयोनिभेद—उन एक इन्द्रिय जीवों से यह जीव निकल सका तो दो इन्द्रिय में उत्पन्न हुआ। दो इन्द्रिय जीवों के 2 लाख योनियां होती हैं। यह 84 लाख योनियों का वर्णन बताया जा रहा है। कैसे हो गयी 84 लाख योनि—एकेन्द्रिय जीवों के 52 लाख योनियां है याने उत्पत्ति स्थान प्रकार है। तीनइन्द्रिय जीवों के 2 लाख योनियां, चार इन्द्रिय जीवों के 2 लाख योनियां, दो इन्द्रियों के 2 लाख योनियां, देवों के चार लाख योनियां, नारकियों के 4 लाख, मनुष्यों के 14 लाख, शेष तिर्यञ्चों के 4 लाख योनियां हैं।

देवों की उपपादशय्या—देवों की उत्पत्ति के स्थान शय्या की तरह हैं। किसी देव देवी के भोग से देवों के गर्भ रहता हो और उससे देव और हों, ऐसा नहीं है। देवों के वैक्रियक शरीर हैं, दान और तप में जिनकी बुद्धि लगी रहती है वे मरकर देवों में जन्म लेते हैं। मन्दकषायी पंचेन्द्रिय तिर्यंच भी देव बन सकते हैं सो वहाँ उत्पाद शय्याएं बनी हैं। वहाँ 2-4 सेकण्ड में एक जैसे अत्यन्त छोटा बच्चा लेटा हुआ खेलता है ऐसे ही वहाँ देव शरीर की रचना बन जाती है। नामकर्म का उदय निमित्त है और जीव की इस प्रकार की करनी है। देव अन्तर्मुहूर्त में ही युवावस्था सम्पन्न हो जाते हैं, वे उत्पाद शय्याएं अचित्त हैं, किन्तु उनमें शीत उष्ण का भेद अधिक है और इन भेद प्रभेदों से वे उत्पाद शय्या स्थान, देवों की योनियां 4 लाख प्रकार की हैं।

नारकी जीवों के उपपादस्थान—नारकी जीवों के चार लाख प्रकार के उत्पत्ति के स्थान हैं। नारकियों में भी मां-बाप नहीं होते हैं। सब नारकी नपुंसक होते हैं, वैक्रियक शरीरी हैं। अपने शरीर में ही वे औजार बना लेते हैं। उनको यह रोष आया कि मैं अमुक को तलवार से मारू तो उन्हें अलग से तलवार नहीं उठानी पड़ती है, इच्छा करते ही हाथ तलवार का आकार धारण कर लेता है। इस ही तरह का उनका शरीर है। नर्कस्थान को पूर्ण दु:खों का स्थान सभी ने बताया है। उन नारकों में जन्म किस प्रकार होता है? जैसे मान लो ऊपर छत हो, उस छत के निचले पर्त पर जैसे बिजली का पंखा लगाने के लिए हुक्क लगा देते हैं इस ही प्रकार से इस पृथ्वी के बिलों में बिलों के ऊपरी भाग से तिखूटे, चौखूटे, टेढ़ा, गोल ऐसे स्थान बने हुए हैं। वहाँ थोड़े ही समय में यह नारकी का शरीर बन जाता है और वह नारकी औंधे ही जमीन पर गिरता है। जमीन पर गिरते ही सैकड़ों बार गेंद की तरह उछलता है फिर सारे नारकी उस पर आ धमकते हैं और वह नारकी बलिष्ट बनकर सबसे भिड़ने लगता है। नारकियों के उत्पत्ति स्थान 4 लाख प्रकार के हैं।

पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च व मनुष्यों के योनिस्थान—पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च जीवों के चार लाख योनियां हैं। देव, मनुष्य, नारकी को छोड़कर जितने भी संसारी जीव हैं वे सब तिर्यञ्च हैं, उनमें जो पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च हैं उनकी चार लाख योनियां हैं और मनुष्यों की 14 लाख योनियां हैं।

शुद्ध अन्तस्तत्त्व में योनियों का अभाव—ये सब योनियां इन सभी जीवस्वरूपों में नहीं हैं। यह तो अपने सत्त्व से ज्ञानरूप रचा हुआ है। इस शुद्ध अंतस्तत्त्व के ये योनियां नहीं हैं, और शुद्ध अंतस्तत्त्व के ज्ञान के बिना यह जीव व्यवहारी बनकर चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता है। अब भी हम आप सब उन्हीं परिस्थितियों में हैं, लेकिन इस योनि कुल देह वैभव इन सबसे रहित शुद्ध ज्ञायकस्वभाव की प्रतीति रखे तो ये सब विडम्बनाएं टल सकती हैं।

कर्तव्यकार्य—भैया ! जो काम करने को पड़ा है, वह तो कुछ भी काम नहीं किया जा रहा है और जो काम बिल्कुल व्यर्थ का है, उसमें ही रात-दिन जुटे रहते हैं। करने का काम यह है कि अपने को इस रूप अवलोकते रहें कि मैं ज्ञानभाव, आनन्दभाव मात्र हू। कौन कहता है कि मैं मनुष्य हू? मेरे लिए मैं मनुष्य नहीं दिख रहा हू। मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र चेतन हू—ऐसी प्रतीति रखने का काम पड़ा हुआ है। जैसा कल्याण चाहिए, जैसा धर्महित चाहिये—ऐसे इस काम को तो किया नहीं जा रहा है और व्यर्थ के ऊधम मचाएँ जा रहे हैं। मैं मनुष्य हू, ऐसी पोजीशन का हू, अमुक गांव का हू, अमुक मजहब व गोष्ठी का हू। और कहां तक कहा जाये? उन विकल्पों के असंख्यात तो भेद हैं। कुछ तो इसके कहने में आ पाते हैं, कुछ नहीं आ पाते हैं। कुछ विकल्प तो अनुभव में आ पाते हैं और कुछ अनुभव में नहीं आ पाते है—ऐसे अनगिनते विकल्पोंरूप अपने को मान लेने में यह जीव लगा है और एक विशुद्ध ज्ञानभाव, आनन्दभावरूप अपने आपकी श्रद्धा नहीं कर पाता है। यही कारण है कि जीव आज इतनी विडम्बना और क्षोभ में पड़ा हुआ है।

धर्म बिना मनुष्यभव की तुच्छता—भैया ! वैभव पाया तो क्या विडम्बना, झंझट, चिंताएं आदि सभी आपदाएं तो गरीबों की भांति ही बनी हैं? मनुष्य हुए तो क्या हुआ? विषयभोगों की वाञ्छाएं, इन्द्रियों के विषयों की पूर्तियां तो उन पशु और पक्षियों की भांति ही तो बनी हैं। मनुष्य में व पशुओं में कोई अन्तर है तो धर्मधारण का अन्तर है। एक धर्म नामक तत्त्व अपने में न रहे तो पशुओं में और मनुष्य में फिर कुछ अन्तर नहीं रहता, बल्कि मनुष्य से पशु अच्छे हैं। पशुओं की चाम हड्डी काम में आती हैं। ये दूसरों के किसी प्रकार आराम देने के काम में आते हैं और वर्तमान में भी तो अनेक खूबियाँ हैं। जैसे कोयल का सुरीला राग है। मनुष्य अच्छे राग से गाये तो लोग उपमा देते हैं कि इसका कण्ठ तो कोयल जैसा है। उपमा में जिसको उदाहरण में लिया, वह बड़ा हुआ या मनुष्य का कण्ठ बड़ा हुआ? कोई बड़ा शूर हो, उसके वक्षस्थल आदि सब पुष्ट हों, कमर अत्यन्त पतली हो तो उसे यह कहते हैं कि यह सिंह के समान शूरवीर है। इसमें सिंह शूरवीर हुआ या मनुष्य? सिंह ही शूरवीर हुआ। इस मनुष्य की और पशु पक्षी की तुलना में पशु पक्षी बड़े हैं। मनुष्य में एक धर्म तत्त्व न हो तो कवियों ने चूंकि वे मनुष्य थे, इसलिये कह दिया कि मनुष्य पशु के बराबर है, नहीं तो यह कहना था कि यह पशु से हीन है।

धर्मपालन—धर्म क्या है, कहां पालना है? यह धर्म अपना है व अपने में पालना है। अपना ही स्वरूपमात्र एक अपनी नजर में रहे—ऐसी स्थिति बनाये तो वहां धर्म का अभ्युदय है। यह आत्मा के नाते से बात की जा

रही है। जब इस परमार्थ हित कार्य में नहीं लग सकता है, पर ख्याल है इसका तो, अब जो मन, वचन, काय की चेष्टाएं बनेंगी, वे व्यवहारिकता बनेंगी, वे चरणानुयोग पद्धति की बनेंगी, उसे ही लोग पहिचानते हैं। सो लोक में उस व्यवहारिकता को धर्म कहा है, पर वे व्यवहारिकताएं भी इस परमार्थिक हित के अविरोध को लिये हुए हो तो वह व्यवहार धर्म है। ऐसा देव का स्वरूप हमारी दृष्टि में रहे कि जिस स्वरूप का स्मरण करके हम उस सहजस्वरूप में उस स्वरूप को मग्न करके एकरस हो सकें, लो वह हो गया देव। इस स्वरूप को पाने के लिए जो उद्यम करता है, वह ही तो गुरु कहलाता है। उन गुरुवों का रंग, ढंग, स्वरूप, चाल ढंग, चर्या ऐसी विविक्तता को दिखाने वाली होनी चाहिए या ऐसी निरपेक्षता को लिए हुए हो कि जो उन्हें इस परमार्थ ज्ञानस्वरूप में मग्न करने का बार-बार मौका दे। निरारम्भ अवस्था और निष्परिग्रह अवस्था ही ऐसी अवस्था है कि यह जीव आत्मस्वभाव की चिंतना में बार-बार लग सकता है।

शुद्ध अन्तस्तत्त्व के जीवस्थानों का अभाव—देखो इस शुद्ध अन्तस्तत्त्व को जो अपने लिए परमशरण है, एकस्वरूप है, निष्पक्ष है, केवल यह आत्महित की समस्या को ही हल करने वाला है—ऐसा एक इस निज अद्वैत, निज एकत्व के स्वरूप का भान किसी क्षण तो हो, फिर ये सब देह, भोग के साधन, सब विडम्बनाएं इसकी दूर हो सकती हैं। इस शुद्ध अन्तस्तत्त्व के कोई जीवस्थान नहीं है। जैसे वादरएकेन्द्रिय, सूक्ष्मएकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय, संज्ञीपञ्चेन्द्रिय और ये होते हैं पर्याप्त अवस्था में तथा अपर्याप्त अवस्था में अर्थात् जन्मकाल में, शिथिल अवस्था में होते हैं और पश्चात् पर्याप्त अवस्था में होते हैं। जिस प्रकार से कोई जीव अपर्याप्तावस्था में ही मर जाते हैं, पर्याप्त नहीं हो पाते हैं, वे लब्धपर्याप्त हैं।

स्वभाव की सहजता व शाश्वतता—कोई जीव अपर्याप्तावस्था में ही मर जाते हैं, पर्याप्त नहीं हो पाते, वे लब्ध्यपर्याप्त हैं। जैसे पानी की कुछ भी स्थिति हो, गंदा हो, गरम हो, रंग मिश्रित हो, सब परिस्थितियों में जल के स्वभाव की जब चर्चा करेंगे, दृष्टि करेंगे तो वहाँ यों दृष्टि होगी कि जल निर्मल है, शीतल है। स्थितियां कुछ भी हों, जब स्वभाव को बतावेंगे। तो स्वभाव तो सहजभावरूप होता है। न रहे उस जल के साथ, पर उपाधि का संग, न रहे उस जल में उपाधि का निमित्त पाकर पर भाव का प्रसंग, तो जल किस रूप में रह सकेगा—ऐसी सम्भावना से समझ में आ सकता है, जल का स्वभाव भाव। न रहे मुझसे देह का संग, न रहे कर्मों का संग और न रहे इन उपाधियों का निमित्त पाकर उठने वाले रागद्वेषादिक का प्रसंग, तो यह मैं किस स्वरूप में रहा करूगा, ऐसी सम्भावना के द्वार से यह सहजस्वभाव परखा जाता है।

जीव में देहसम्बन्धी सर्वस्थानों का अभाव—उस सहज स्वभावरूप मुक्त आत्मतत्त्व के ये कोई जीवस्थान नहीं हैं। कौन कहता है कि मेरे देह लगा है। अरे मैं ही अपने घर से निकलकर दरवाजे से बाहर में झांकने लगूं तो मालूम पड़ता है कि मेरे देह लगा है और फिर दरवाजे से मुड़ कर भीतर की ओर उन्मुख होकर अन्तर में विहार करूं तो वहाँ यह विदित नहीं होता कि मेरे देह है, इसलिए अन्य सम्बन्ध, अन्य रिश्ते, अन्य विडम्बनावों की वहाँ कहानी ही क्या है? इस जीव के देहसम्बन्धी न कुल है, न जातियां हैं और न देहों के प्रकार हैं। इन समस्त विडम्बनावों से परे शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप यह मैं आत्मतत्त्व हू, इस प्रतीति द्वारा सब विडम्बनाएं दूर हो जाया करती हैं।

जीव में परतत्त्वों का अभाव—जीव के अपने आपके सत्त्व के कारण जो इसमें सहजस्वरूप पाया जाता है उसको दृष्टि में रखकर यह सब वर्णन सुनाना है कि ऐसे शुद्ध जीवास्तिकाय में किसी भी प्रकार के परभावों का प्रवेश नहीं है। इस जीव ने बाह्यपदार्थों में आत्मीयता करके जो विकार की रचनाएं की हैं इन रचनावों से यह जीव चतुर्गति में भ्रमण करता है। अन्य समागम इसके है कुछ नहीं, न कुछ था, न कुछ होगा। किन्तु मोह का ऐसा प्रताप है कि जिस काल में बाह्यपदार्थों का समागम है उस काल में यह उस समागम से न्यारा अपने सहजस्वरूप को नहीं पहिचान सकता है? मिलेगा कुछ नहीं। कैसी व्यवस्था है? जैसे स्वप्न होते हुए की स्थिति में जो कुछ देखा जा रहा है यह सब यहाँ कुछ नहीं है, ऐसा ज्ञान नहीं कर सकते हैं। ऐसे ही मोह की अवस्था में जो कुछ समागम प्राप्त हुए हैं ये मेरे कुछ नहीं हैं, ऐसा वहाँ श्रद्धान नहीं कर सकते हैं।

स्वप्न की परिस्थिति—भैया ! जैसे स्वप्न की बात सदा नहीं रहती, जगने पर आखिर मिटना ही पड़ता है और मिटने के बाद फिर इसे यह निर्णय होता है कि ओह यह सब दृश्य झूठा था । इस ही प्रकार समागम की बात सदा नहीं रहता, मिटना पड़ता है। मिटने के बाद फिर कुछ पता पड़ता है कि ओह यह मायाजाल था, मेरा कहीं कुछ न था। तो थोड़ा ख्याल तो आता है परन्तु मोह की नींद अभी नहीं हुई है, इस कारण इन समागमों को यह अपनाने लगता है।

यथार्थ ज्ञान बिना कल्पित विवेक की अविवेकसमता—जैसे कोई ऐसा ही स्वप्न आ जाय कि उस स्वप्न में तो बहुत बुरी अहितकर बातें देखी और स्वप्न में ही कुछ हल्के ढंग से ऐसा समझ जाय कि यह स्वप्न है तो क्या ऐसी समझ स्वप्न में हो सकती है? कभी हो भी सकती है, लेकिन अपना संस्कार होने से फिर दूसरे स्वप्न की बातें देखने लगे तो उस पिछले स्वप्न को स्वप्न में स्वप्न मानना क्या यथार्थ है? ऐसे ही मोह में समागम के बिछुड़ने पर जो कुछ विवेक यह करता है कि ऐसा ही उदय था और अन्य विकल्प करता है तो उस समागम का उसके क्या त्याग है? अरे जब तक समागम के बीच रहकर सच्चा विवेक नहीं जगता, जब तक अपने सहज स्वरूप का परिचय नहीं होता तब तक वास्तविक जगना नहीं कहलाता। इस मोह की नींद से हटा हुआ पुरुष अपने अंतस्तत्त्व में देख रहा है कि इसके ये जीवस्थान नहीं हैं।

शुद्ध जीवास्तिकाय में गति मार्गणा स्थानों का अभाव—इस शुद्ध जीवास्तिकाय में मार्गणा के भी स्थान नहीं हैं। जीव की पहिचान के उपाय 14 प्रकार से जैन सिद्धान्त में बताये हैं। कोई नरक गति के जीव हैं, कोई तिर्यञ्च गति के हैं, कोई मनुष्यगति के हैं और कोइ देवगति के है। इन चार गतियों से रहित एक सिद्ध अवस्था है। ज्ञानी जीव जानता है कि इस शुद्ध जीवास्तिकाय में अर्थात् ज्ञायकभाव का लक्षण लेकर देखे गए निज जीवास्तिकाय में न ये चारों गतियां हैं और न गतिरहित अवस्था है। इसके स्वरूप में तो एक ज्ञानभाव है। वह न गति सहितपना देख रहा है और न गति रहितपना देख रहा है। वह तो लक्षण देख रहा है।

शुद्ध जीवास्तिकाय में इन्द्रियमार्गणास्थानों का अभाव—दूसरी खोज है इन्द्रियमार्गणा। इन्द्रियां 5 होती हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। किसी जीव में एक ही इन्द्रिय है—स्पर्शन मात्र। जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति। कोई जीव दो इन्द्रिय वाले हैं—स्पर्शन, रसना वाले हैं, जैसे लट, केचुवा, जोंक, शंख, कौड़ी, सीप आदिक। कोई जीव स्पर्शन, रसना, घ्राण इन इन्द्रियों से सहित हैं—जैसे कानखजूरा, बिच्छू, चींटी, चींटा, खटमल आदिक अनेक जीव हैं। कोई स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु इन चार इन्द्रियों करि

सहित हैं—जैसे मक्खी, भुनगा, बर्र, भौंरा, मच्छर, टिड्डी, पतंगा। कोई जीव पांचों इन्द्रियों करि सहित है—जैसे मनुष्य, देव, नारकी और पशु, पक्षी, जलचर आदिक। कोई जीव ऐसे भी है कि पांचों ही इन्द्रियां नहीं है जैसे सिद्ध भगवान्, किन्तु एक जीव के लक्षण को ही निहारने वाले और जीव के लक्षणरूप ही इस जीव का परिचय करने वाले ज्ञानी संत कह रहे हैं कि इस शुद्ध जीवास्तिकाय में न तो एकेन्द्रियपना है, न दो इन्द्रियपना है, न तीन इन्द्रियपना है, न चार इन्द्रियपना है और न पाँच इन्द्रियपना है और इन्द्रिय से रहित जो एक शुद्ध अवस्था है, परिणमन है वह भी नहीं देखा जा रहा है। असाधारण लक्षण के रूप से जीव को देखा जा रहा है तो ज्ञानानन्द स्वभाव रूप ही जीव दिखने में आ रहा है, उसमें क्या तो है और क्या नहीं है? यह कुछ नहीं दिखता है।

शुद्ध जीवास्तिकाय में कायमार्गणस्थानों का अभाव—जीव की तीसरी खोज है कायमार्गणा—काय 6 होते हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस। ये शरीर के आधार पर भेद किए जा रहे हैं। और कोई जीव ऐसे होते हैं कि छहों काय से परे हो गए, पर जीव को जहां देखा जा रहा है वहां जीव की बात देखी जायेगी, जीव में क्या है और क्या नहीं है यह देखा जायेगा। परमार्थदृष्टि में जीव के कायमार्गणा स्थान नहीं हैं। वस्तु में क्या है, क्या नहीं है इसका वर्णन व्यवहारनय में चलता है, पर निश्चयनय से जब जीव का स्वरूप निहारा जा रहा है तो वहाँ जीव का लक्षण जो ज्ञानादिक स्वभाव है उस पर दृष्टि है। ऐसे ज्ञानानन्द स्वभावरूप शुद्ध जीवास्तिकाय के ये कायमार्गणा भी नहीं है।

वस्तु की निश्चयव्यवहाररूपता—देखिये स्याद्वाद के उपाय से वस्तु के स्वरूप को किस ठौर पहुंचाया जा रहा है? माया का क्या स्वरूप है, परमार्थ का क्या स्वरूप है—यह निश्चय और व्यवहार दोनों नयों से परखा जा रहा है। परमार्थ और व्यवहार की चर्चा अन्यत्र भी है, किन्तु एक ही पदार्थ में परमार्थता निहारना और व्यवहार निहारना यह खूबी जैनसिद्धान्त में बतायी है। व्यवहार दृष्टि से परखें हम बाहर की बातें तो वहाँ सत्त्व की परमार्थता नहीं रही, व्यवहारात्मकता ही रही।

ज्ञानानुभूति की निर्विकल्पता—इस आत्मतत्त्व को जब परमार्थ की दृष्टि से देख रहे हैं तो क्या देखा जाता है? अनेकांत अथवा वेदांत। कैसा अनेकांत? जहां एक भी धर्म नहीं है ऐसा अनेकांत। जीव के शुद्धस्वभाव की दृष्टि में न तो वहाँ कुछ है—ऐसा तका जा रहा है और न वहाँ कुछ नहीं है—ऐसा भी तका जा रहा है अथवा वहाँ विकल्पों का अंत हो गया है। परमार्थस्वरूप आत्मतत्त्व के परिज्ञान के, अनुभव के काल में अब ज्ञानविकल्प नहीं चलता है। यों समझिये कि जैसे भोजन बनाते हुए काल तक तो अनेक बातें और विकल्प चला करते थे। अब अमुक चीज लाओ, यह लो और डालो, आंच तेज करो, यह मसाला लाओ, ठीक न सिका, अभी और सिकना चाहिये। सर्वविकल्प किए जा रहे थे भोजननिर्माणकाल तक। उस भोजन का जब अनुभवन करते हैं, तब एक चित्त होकर एक स्वाद में ही दिल पूरा बसाकर उसका ही आनन्द व्यामोही लोग लूटते हैं। वहाँ यह ख्याल नहीं करते कि इसमें यह चीज ठीक पड़ी है। यदि यह विकल्प करें तो ऊँचा एकरस का स्वाद नहीं आ सकता है। यों ही वस्तुस्वरूप के परिज्ञान के निर्माणकाल तक तो निश्चयव्यवहार का सर्वविकल्प किया और उसकी सिद्धि की, किन्तु जब अनुभवन काल आया। उस परमार्थस्वरूप का तो

उस काल में इस जीव के जीव का विकल्प न रहा अर्थात् कल्पना न रही—ऐसे अनुभवन में आए हुए शुद्ध जीवास्तिकाय में मना कर रहे हैं कि इसमें कार्माणवर्गणा नहीं है।

यथार्थज्ञान की अनुपेक्षा—यह ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व न नारक है, न तिर्यंच है, न मनुष्य है, न देव है और न ये सिद्ध है। यह तो ज्ञानानन्द स्वरूप है। ज्ञानानन्दस्वभाव की लगन लग जाए, रुचि जग जाए, प्रतीति हो जाए तो ये संसार के संकट न रहेंगे। इतना दुर्लभ अवसर पाकर लाभ तो इस बात में है कि मोह नाम पर रंच भी मलिनता न रखी जाए। कुछ-कुछ में काम नहीं बनता है। कुछ मोह बना रहे, कुछ धर्म भी करते रहें, उसमें कार्य नहीं बनता है, उससे भला तो शायद इस बात में होगा कि मोह हां खूब कर डाले 24 घण्टे। पेट अफर जाए मोह करते-करते तो फिर धर्म की ओर आने लगें। पर सारा जीवन ऐसा ही बिताया तो क्या हाथ पाया? यहाँ यह नहीं कह रहे हैं कि घर द्वार सब त्याग करके धर्मपालन करिये। यदि कोई सच्चाई और ईमानदारी से धर्मपालन कर सके तो भला है, पर ऐसे भी रहा तो क्या ज्ञान रखने में भी कोई कष्ट होता है? घर में रहो तो ठीक है। व्यापार करना है, परिवार से बोलना है और इस तरह से करना चाहिए, कर्तव्य है ठीक है, पर मैं अपने चतुष्टय से सत् हू, ये जीव अपने चतुष्टय से सत् हैं, मेरा इनमें अत्यन्ताभाव हैं, अन्तर की परिणति से इसमें कुछ नहीं बनता। ऐसा वस्तु का स्वरूप है ना, तो ऐसी जानकारी रखने में भी क्या कष्ट होता है?

निर्मोहिता की अनुपेक्षा—भैया ! वस्तु की स्वतन्त्रता का भान रखना ही तो निर्मोहता है। मोह तो कतई छोड़ना चाहिए, चाहे गृहस्थ हो, चाहे कोई हो। रही राग की बात। तो राग जब जैसे छूटेगा, छूटने दो। राग के छोड़ में इतनी स्वाधीनता नहीं है या यह कहो कि वश नहीं चलता है। मोह का त्याग जहां यथार्थ ज्ञान हुआ, हो जाता है। मोह नाम है दूसरों को अपना स्वरूप मानना। दूसरों से अपना सुख दु:ख मानना, यह है मोह का स्वरूप। गृहस्थावस्था में भी कितनी बड़ी सुगमता की बात है? राग नहीं छूटता है तो न छूटे, कर्तव्य किया जाता है तो करो और करना चाहिए, जब तक गृहस्थावस्था में हैं, किन्तु यथार्थ बात से मुंह न फेरिये। सर्वजीव स्वत: सिद्ध परिपूर्ण सत् स्वरूप हैं और मेरे से सब जीव अत्यन्त जुदे हैं। जितने जुदे बाहर के लोग हैं, गैर माने हुए लोग हैं, उतने ही पूरे जुदे घर में बसे हुए लोग हैं। अपनी सीमा, अपना स्वरूप अपनी दृष्टि में रखो और सम्यक्त्व की भावना से अपना पोषण करो। इस शुद्ध जीवास्तिकाय में कार्यमार्गणास्थान नहीं है।

शुद्ध जीवास्तिकाय में योगमार्गणास्थानों का अभाव—चौथी पहिचान है जीवों की योगमार्गणा। जीव के प्रदेश में जो परिस्पन्द होता है, क्रिया होती है, वह योग है। यह योग तो जीवात्मक हैं, किन्तु उस आत्मप्रदेश परिस्पन्दरूप योग के प्रवर्तन में मन, वचन, काय की प्रवृत्ति कारण होती हैं। योग जीव का स्वभाव नहीं है, हलन चलन क्रिया करते रहना जीव का स्वभाव नहीं है। यह मन जब अनेक प्रकार विकल्प करता है, वचन अपनी चेष्टा करते है, काय अपनी प्रवृत्ति में है तो उसका निमित्त पाकर जीवप्रदेश में परिस्पन्द होता है तो ऐसे कारण 15 प्रकार के हैं। मूल में तीन हैं—मनोयोग, वचनयोग और काययोग।

मनोयोग व वचनयोग के भेद—जीव का मन 4 प्रकार का होता है—कोई सांचा मन है, कोई झूठा मन है, कोई मिलमां मन है, कोई अनुभय पाने तटस्थ मन है। तो ये चार प्रकार के मन हैं, जिनसे चार मनोयोग हो जाते है। ऐसे ही चार प्रकार के वचन होते हैं—कोई सत्य वचन है और कोई झूठ वचन है, कोई मिलमां

वचन है। यहाँ न कोई सांचा है और न यहाँ कोई झूठा है याने अनुभय है। ऐसे चारों प्रकार के वचनों का वचनयोग हो जाता है।

सत्य, असत्य, उभय, अनुभय का विवरण—सच बात तो सब ही जानते हैं कि इसे सच कहते हैं। झूठ भी सब जानते हैं कि इसे झूठ कहते हैं, पर सच और झूठ दोनों मिले हुए हों—ऐसे भी वचन हुआ करते हैं। इसे लोग पहिचानते हैं। छल-कपट करना, दूसरों को धोखे में डालना—ये सब तो मिलमां वचन से ही होते हैं। केवल सच बोलने से कोई धोखे में नहीं आएगा और निरा झूठ बोलने से भी कोई धोखे में न आएगा, सावधान हो जाएगा, पर सांचा और झूठ का जो मिलमां वचन है, उससे लोग धोखे में आ जाते हैं। सो इसका भी परिचय है, पर जो न सत्य है, न झूठ है, अनुभय है—ऐसा भी कोई वचन है क्या? इसका भी हम आप रात दिन प्रयोग करते हैं। जैसे आप किसी से बोल रहे हैं कि हे भाई ! आओ। तो इतने जो शब्द हैं, वे झूठ हैं या सच हैं? न सच हैं और न झूठ। यह तो एक बुलाने का वचन है। कोई कहे कि सच है तो थोड़ी देर में यह देखेगा कि बुलाने से यदि न आया तो झूठ हुआ। कोई कहे कि झूठ है व बुलाने से आ गया तो वह सच है। झूठ सच की परख पा सकना अन्य क्रिया पर नहीं होती, वह तो उन्हीं वचनों से होती है। जिस प्रकार से यदि किसी का बुलावा कर दिया कि तुम्हारा हमारे घर पर कल नेवता है तो इतने ये जो भी शब्द हैं, वे न सच हैं और न झूठ हैं। यह तो एक आमन्त्रण वचन है।

त्याग का मनबहलावा—किसी शहर में शाम को आरती हुआ करती थी। उसमें ऐसा रिवाज था कि लोग घी की बोली बोला करते थे कि लिखो हमारे नाम 20 सेर घी, हमारे लिखो1 मन घी, हमारे लिखो दो मन घी। अर्थ यहाँ यह है कि 20 सेर घी के मायने सवा रुपया। एक देहाती भी तिली की गाड़ी भरकर तिली बेचने के लिये जा रहा था। मार्ग में मन्दिर आने पर मन्दिर में वह दर्शन करने चला गया। वहाँ आरती हो रही थी। उसने देखा कि यहाँ के लोग बड़े उदारचित्त हैं, कोई एक मन घी बोली में बोलता है, कोई दो मन घी बोली में बोलता है। उसने सोचा कि हम क्या बोलें? विचार कर वह बोली में बोला कि लिखो हमारी एक गाड़ी तिली। जब बोली समाप्त हुई तो कहा कि लो रख लो हमारी एक गाड़ी तिली। लोगों ने कहा कि यहाँ तो घी की बोली होती है। 20 सेर घी के मायने है 20 आने पैसे अर्थात् मैने 20 आने चढ़ाये, 1 मन घी के मायने हैं कि ढाई रु. चढ़ाये गए। अब 20 सेर घी होता है 200 रुपये का। उस देहाती ने कहा कि अच्छा पंचों ! तुम हमारी गाड़ी भर तिली ले लो, हमने तो चढ़ा दी। पञ्चों ने गाड़ी भर तिली ले ली।

त्याग के मनबहलावे वाले को उत्तर—अब उस देहाती को घर में रात भर नींद न आयी उसने सोचा कि अच्छा पंचों को भी अब मजा चखाना चाहिए, जो कि ऐसी झूठ बोली करके मंदिर में आरती करते हैं। लिखो 20 सेर घी, लिखो 1 मन घी, ऐसा कहते है और सवा रुपये, 2।। रुपये चढ़ाते हैं। सो सोचा कि इन्हें भी मजा चखाना चाहिए। वह पहुंचा उसी शहर के मन्दिर में बोली बोलने वाले सब लोगों से कहा कि कल हमारे यहाँ सारी समाज की चूल्हे का न्योता है, कोई अपने-अपने घर चूल्हा न जलाना, सबका निमंत्रण है। सबने निमंत्रण मान लिया। दूसरे दिन सब लोग उसके यहाँ पहुंचे। उसने वहाँ क्या करवाया कि घर में इधर-उधर लकड़ी जलवाकर धुवाँ करवा दिया। लोगों ने जाना कि खूब पुड़िया पक रही हैं। उसने पातल मंगा ली थी। सो सबको पातल परोसवा दीया, और पातल परोस जाने के बाद वह कहता है कि पंचों अब सब लोग

जीमों। सब लोग मुंह ताकें। सबने कहा कि पातल में कुछ धरो तब तो जीमें। उसने कहा कि महाराज जैसे आपके मंदिर में आरती की बोली बोली जाती है वैसी ही हमारी पंगत है, सब लोग इसे स्वीकार करो। तो यह एक बात छल की कही गई है इस कथानक में, ऐसा ही कुछ एक उभय वचन होता है, वही भ्रम, छल इसका कारण बनता है। तो चार प्रकार के वचन होने से चार वचन योग हुए।

काययोग का भेद—काय योग होते हैं 7 प्रकार के। काय कहते हैं शरीर को, शरीर होते हैं चार तरह के—औदारिक, वैक्रियक, आहारक और कार्माण। मनुष्य, तिर्यञ्च के शरीर का नाम औदारिक शरीर है और वही शरीर जन्मकाल में कुछ सेकेण्डों तक जब तक उसमें बढ़ने की ताकत नहीं आती है तब तक कहलाता है औदारिकमिश्र। इसी तरह देव और नारकियों के भी शरीर का नाम है वैक्रियक शरीर और उनके जन्मकाल में जब तक उनका शरीर पर्याप्त नहीं होता कुछ सेकेण्ड, तब तक कहलाता है वैक्रियकमिश्र। आहारक शरीर होता है बड़े ऊंचे ऋद्धिधारी साधु पुरुषों के। जब उन्हें कोई तत्त्व में शंका होती है तो उसके समाधान में अपने उपयोग को डुबाते हैं तब एक हाथ के विस्तार वाला स्वच्छ धवल पवित्र एक आहारक शरीर निकलता है, वह मनुष्य की तरह अंगोपांग वाला होता है और वहाँ जाता है जहा प्रभु विराजमान् हों। दर्शन करते ही उसकी शंका का समाधान हो जाता है। यह आहारक शरीर जन्मकाल में जब तक बढ़ता नहीं है तब तक उसे आहारक मिश्र कहते हैं। इस तरह ये 6 होते हैं, और एक हुआ कार्माण शरीर, जो मरने के बाद जन्म स्थान पर पहुंचने से पहिले विग्रह गति में अपना प्रताप दिखाता है। ऐसे इन 7 शरीरों के निमित्त से जो भोग होते हैं उन सबको काययोग कहते हैं।

अयोग सहित सर्व योगमार्गणास्थानों का आत्मतत्त्व में अभाव—इस तरह 15 योग हुए और ऐसे भी जीव हैं जो इन योगों से रहित हैं। चौदहवें गुणस्थान वाले और सिद्ध भगवान् ये समस्त 16 प्रकार के योग मार्गणा के स्थान इस शुद्ध जीवास्तिकाय में नहीं हैं। ऐसा यहाँ जीव के शुद्ध स्वरूप के निहारने के सम्बन्ध में आचार्यदेव बता रहे हैं, कि वह तो शुद्ध एक ज्ञानानन्द स्वभाव मात्र है उसे कहीं बाहर न देखो, किन्तु अपने आपके ही अन्तर में परखो। इस चेतनतत्त्व में चेतने के ही सत्त्व के कारण जो सहजस्वभाव होता है उस सहजस्वरूप की दृष्टि में लखे हुए आत्मतत्त्व में मात्र ज्ञानानन्द स्वभाव ही विदित होता है, पर उपाधि के सम्बन्ध से जो विचित्र स्थितियां हो जाती हैं वे स्थितियां वस्तु के स्वभाव में नहीं हैं। इस कारण निश्चय नय से जीव के ये कोई मार्गणा स्थान नहीं हैं।

आत्मतत्त्व में वेदमार्गणा का अभाव—अब जीव की 5 वीं खोज होती है वेदमार्गणा। समस्त जीव वेद की दृष्टि से चार भागों में विभक्त हैं, कोई पुरुषवेदी है, और कोई स्त्रीवेदी है, कोई नपुंसकवेदी है और कोई वेदभाव से रहित है। वेद कहते हैं कामवासना को। पुरुष के साथ रमणभाव हो उसको स्त्रीवेद कहते हैं और स्त्री के साथ रमण का परिणाम हो सो पुरुषवेद है, और जहां दोनों बातें हों वह नपुंसक वेद है, और जहां किसी प्रकार का कामसंस्कार भी नहीं रहता उसे अपगतवेद कहते हैं। अब इन सब जीवों में खोजो, नारकी जीव तो नपुंसकवेदी ही होते हैं। वे भावों में भी नपुंसक और शरीर से भी नपुंसक होते हैं। देवी देवतावों में कोई नपुंसकवेदी देव न होगा, पुरुषवेदी होगा अथवा स्त्रीवेदी होगा। वहाँ भाव वेद भी वहीं है और द्रव्य वेद

भी वही है। मनुष्य और तिर्यञ्च में विषमता है कि शरीर से तो कोई स्त्रीवेदी हुआ, उसमें स्त्री चिन्ह हुआ और परिणाम में पुरुषवेद जागृत हुआ।

द्रव्यवेद व भाववेद की विषमता—भैया ! कुछ-कुछ तो ऐसी घटनाएं भी सुनने को मिलती हैं कि कोई जन्म से लड़की था और पश्चात् डाक्टर ने उसकी खोज करके पुरुषवेदी बना दिया। हो सकता है उसका भाववेद पहिले से पुरुष ही था और गुप्तरूप में कुछ रचना भी द्रव्यवेद की इस तरह हो। तिर्यञ्च में और पुरुष में इस बात की विषमता पायी जाती है कि शरीर का वेद और कुछ है और भाव का वेद और कुछ है। यह वेदमार्गणा की स्थिति जीव में स्वभाव से नहीं है। पर यह उपाधि का सन्निधान पाकर हुई है।

आत्मतत्त्व में कषायमार्गणा स्थानों का अभाव—अब छठवीं खोज है कषायमार्गणा की। समस्त आत्मा 26 प्रकार में कषायमार्गणा की दृष्टि से बंटे हुए हैं। अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ; 16 प्रकार के ये कषाय है; हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद ये 9 नोकषाय हैं और कुछ जीव ऐसे हैं कि कषायों से परे हैं, अकषाय हैं।

अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण कषाय—अनन्तानुबंधी कषाय वह कहलाता है कि जिस क्रोध, मान, माया, लोभ के होते संते इस जीव को सम्यक्त्व नहीं जग सकता, आत्मस्वरूप की प्रतीति नहीं बन सकती, ज्ञान का अनुभवन नहीं हो सकता। ऐसे तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ जहां होते है उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। अप्रत्याख्यानावरण कषाय अनन्तानुबंधी से बहुत हल्की होती है। इस कषाय के रहते हुए सम्यक्त्व रह सकता है, आत्मज्ञान की बात चल सकती है और कदाचित् क्षणों को आत्मरमण की उसकी योग्यता चलती है, किन्तु ये कषाय देशव्रत नहीं होने देते, व्रत में नहीं बढ़ने देते, सम्यक्त्व तो हो सके, पर संयम किसी भी प्रकार से नहीं हो सकता। ऐसे ये क्रोध, मान, माया, लोभ हैं।

प्रत्याख्यानावरण व संज्वलन कषाय—प्रत्याख्यानावरण कषाय में देशव्रत जग सकता है, पर सकलसंन्यास नहीं हो सकता है। बाह्यपरिग्रह सब छोड़ दिया और आभ्यंतर परिग्रह का भी त्याग करके जैसा नग्नरूप शरीर से है ऐसा ही नग्नरूप भीतर में बन सके, किसी भी परपदार्थ की लपेट जिस ज्ञान में नहीं हो सो ऐसा महाव्रत नहीं हो पाता है। प्रत्याख्यानावरण के होते हुए देशव्रत हो जायेगा, सम्यक्त्व जग जायेगा, पर महाव्रत नहीं हो सकता। संज्वलन कषाय ऐसा होता है। जैसे पानी में लाठी से लकीर खींच दी जाय तो वह लकीर उस ही काल तो दिखती है बाद में नहीं बाद में वह जल एकरस हो जाता है। ऐसा ही जहां अत्यन्त मंद कषाय रह गया, ऐसे साधु संतों के जहां सकलसंन्यास हो गया और आभ्यंतर परिग्रह का त्याग है किन्तु कषाय अब भी विद्यमान है, वह है अत्यन्त हल्की संज्वलन कषाय।

नव नोकषायें—जगत के जीवों में यह एक कषाय का संकट लग गया इस संकट का बड़ा विस्तार है, पर थोड़ासा जान लीजिए कि 16 प्रकार के कषायों में यह जीव पड़ा हुआ है और 9 कषाय होती हैं। हंसने की अन्तर में गुदगुदी बनी रहे, इष्ट विषय से प्रीति रहे, अनिष्ट विषय से अप्रीति रहे, शोक, भय, पर से घृणा करने का भाव रहे और तीन वेदों का वर्णन तो पहिले आ ही चुका हैं। ये सब कषायें संसार के जीवों को परेशान कर रही हैं।

अकषाय अवस्था—कषायरहित जीव 10 वें गुणस्थान के बाद में होता है और प्रभु परमात्मा चाहे शरीरसहित परमात्मा हो, चाहे अशरीर परमात्मा हो, किसी के कषाय नहीं रहती। भगवान् में किसी तरह की इच्छा नहीं जागती। इच्छा जगह तो मलिनता का दोष है। इच्छा अच्छी चीज तो नहीं है। वह तो समस्त जीव का ज्ञाताद्रष्टा रहता हुआ अनन्त आनन्दरस में लीन रहा करता है। बड़े पुरुष, बड़े आदमी स्वयं कुछ लोगों का काम करके उपकार करें तो उनसे उपकार न होगा, किन्तु आदर्शरूप बन रहें तो उनके दर्शन और उनकी निकटता से अनेक लोग उपकार प्राप्त कर लेते हैं। प्रभु परमात्मा विश्व के ज्ञाताद्दष्टा अनन्त आनन्दरस में मग्न, अत्यन्त शुद्ध, राग, द्वेष, इच्छा, जन्ममरण किसी भी प्रकार का जहां दोष नहीं हैं—ऐसे शुद्ध चिदानन्द की जहां पूर्ण व्यक्ति है—ऐसा प्रभु अकषाय होता है। यह ध्यान भी इस शुद्ध आत्मतत्त्व में नहीं है।

ज्ञानस्वरूप में सर्वकषायमार्गस्थानों का अभाव—भैया ! शुद्ध जीवास्तिकाय में कषाय के स्थान तो हैं ही नहीं, मगर कषायरहितपना इस तरह की बात भी इस ब्रह्मस्वरूप में विदित नहीं होती है, वह आपेक्षिक कथन है। किसी पुरुष से कहा जाए कि तुम्हारा बाप तो कैद से मुक्त है तो वह भला नहीं मानेगा, बुरा मानेगा। अरे बुरा क्यों मानते हो। मुक्त की ही तो बात कही है। तुम्हारे पिता जेलखाने से मुक्त हो गये हैं, इसमें यह बात छिपी हुई है कि यह पहिले कैद में पड़ा था। इसी तरह इस ब्रह्मस्वरूप में यह बात लेना कि यह कषायमुक्त है, कषायरहित है। यहाँ क्या स्वरूप का अप नहीं हैं। हम तो शुद्ध ज्ञानानन्दमात्र हैं। यद्यपि कषायरहित है भगवान् पर भगवान् को यों कहा जाए कि ये कषायरहित हैं तो उसमें यह बात पड़ी हुई है कि इनके कषाय थी, वह अपराध था, वे संसार में रुलते थे, तब तो स्वरूप नहीं जाना गया। यह तो एक विशेषता बताई गयी है। यह जो भी शुद्ध स्वरूप है, उस रूप में तके गये इस ब्रह्म में कषाय और यह अकषाय सकल कषाय मार्गणा स्थान नहीं है। वह तो एक प्रकार से केवल ज्ञानस्वरूप है।

अन्तस्तत्त्व के ज्ञानमार्गणास्थानों का अभाव—इसी प्रकार से इस आत्मतत्त्व में ज्ञानमार्गणा के भी स्थान नहीं है। अब देखिये कैसी सहजस्वभाव में दृष्टि मग्न की जा रही है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान, केवलज्ञान और तीन कुज्ञान—ये 8 प्रकार के ज्ञान के स्थान इस शुद्ध जीवास्तिकाय में नहीं हैं। केवल ज्ञानस्वभावमात्र से लक्षण किया जा रहा है इस जीव का। उस ज्ञानस्वभावरूप के देखने पर कोई परिणमन की दृष्टि नहीं रहती। केवलज्ञान यद्यपि समस्त विश्व को जानने वाले ज्ञान का परिपूर्ण परिणमन है सर्वज्ञता, किन्तु जब जीव का लक्षण तका जा रहा है, सहजस्वभाव निरखा जा रहा है और सहजस्वभावमय ही यह मैं आत्मतत्त्व हू—ऐसा जहां निर्णय हुआ है, वहाँ अशुद्ध परिणमन तो प्रतिष्ठा पाते ही नहीं हैं, पर शुद्ध परिणमन भी उसमें जमे हुए नहीं हैं। यदि शुद्ध परिणमन जीव का स्वभाव होता तो अनादिकाल से यह शुद्ध परिणमन होना ही चाहिए था। किसी भी प्रकार के ज्ञान के तरंगों रूप व व्यक्तियों रूप स्थान इस आत्मतत्त्व के नहीं हैं।

अन्तस्तत्त्व में संयममार्गणास्थानों का अभाव—भैया ! इसे आत्मतत्त्व कहो, अंतस्तत्त्व कहो, शुद्ध जीवास्तिकाय कहो अथवा ब्रह्म कहो, सभी तो एकार्थक शब्द हैं। इस जीव में, इस अन्तस्तत्त्व में संयममार्गणा के भी स्थान नहीं हैं। संयम 5 प्रकार के होते हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय व यथाख्यात चारित्र।

सामायिक, छेदोपस्थापना संयम—समतापरिणाम में रहना, रागद्वेष की तरंगों में न आना सामायिक नाम का संयम है। यह संयम उत्कृष्ट योगीसंतों के प्रकट होता है। वे साधु पुरुष उत्कृष्ट इस सामायिक संयम में लगकर भी कदाचित इसी मन, वचन, काय की प्रवृत्ति में आते हैं उपदेश देते हैं या जीव के प्रति सद्भावना बनाते हैं अथवा शरीर से जीव रक्षा करते हैं या अनेक चर्चायें करते हैं—ऐसी स्थिति में वे सामायिक से डिग गए, रागद्वेष से रहित समतापरिणाम से गिर गए, दोष हो गया, ऐसी प्रमाद अवस्था में अथवा उपकार अवस्था में, विकल्प अवस्था में आने के बाद फिर उन विकल्पों को तोड़कर उस सामायिक में ही लगने का यत्न करना आदि जो अन्त: पुरुषार्थ है, उसका नाम है छेदोपस्थापना। यह भी सब कुछ साधुसंतों के होता है।

परिहारविशुद्ध, सूक्ष्मसाम्पराय व यथाख्यातचारित्र—परिहारविशुद्धसंयम के प्रताप से शरीर में हल्कापन आ जाता है अथवा ऐसा अतिशय प्रकट हो जाता है कि देखभाल से यद्यपि वे संत चलते हैं, फिर भी किसी जीव पर पैर पड़ जाए तो उस जीव को रंच भी बाधा नहीं होती है। सामायिक व छेदोपस्थापना संयमों में रहकर जब यक जीव कषायों को दूर कर देता है, मात्र एक सूक्ष्मलोभ की अव्यक्त तरंग रहती है, उस सूक्ष्म तृष्णा की तरंग को दूर करने के लिए जो अन्त:पुरुषार्थ चलता है, उसे सूक्ष्मसाम्पराय संयम कहते हैं। ये कषायें भी जब समाप्त होती हैं तो यथाख्यात चारित्र हो जाता है। जैसा इस आत्मा का सहजस्वभाव है, वैसा ही प्रकट हो जाता है।

राग की प्रबलता—इन कषायभावों में सबसे प्रबल कषाय है राग। द्वेष तो किसी वस्तु के राग के कारण आया करता है। जिस पदार्थ में राग है उस पदार्थ में विघ्न हो जाय मिलने का तो जिसका निमित्त पाकर विघ्न हुआ है उस पर द्वेष जग जाता है। उस द्वेष की जड़ राग है। द्वेष मिटाना सरल है पर राग मिटाना सरल नहीं है। सब लोग अंदाज किए जा रहे हैं। किसी से झगड़ा न करें, पड़ौसियों से द्वेष न करें, यह बात तो बन जायेगी और कुटुम्ब से राग न करें, यह बात तो न बनेगी कठिनाई पड़ती हैं। अच्छा कुटुम्ब का भी राग छोड़ दिया, घर छोड़ दिया, जंगल में रहने लगे या साधु सत्संग में रहने लगे, पर वहाँ भी सम्मान अपमान का ख्याल रह सकता है। यह मैं हू, यह मेरी पोजीशन है, यह राग चल सकता है और राग भी यह मिटे तो मिटते-मिटते अंत में भी कोई अपने परिणमन से सम्बन्धित कुछ राग रह जाता है।

राग आग के बुझाने का उपाय—यह राग आग है, इस राग आग ने इन समस्त संसारी जीवों को झुलसा रखा है। इस रागरूपी आग की ज्वाला से बचाने में समर्थ हैं तो सम्यग्ज्ञान के मेघ समर्थ हैं। सम्यग्ज्ञान के मेघ की वर्षा हो तो यह राग आग शांत हो सकती है। उनमें लगी हुई आग को घड़ों से पानी भर-भर कर बुझायें तो आग नहीं बुझ सकती है और घड़ों की तो बात क्या कहें, ये म्यूनिस्पिल्टी के फायर विभाग की मोटरें भी चली जायें तो भी नहीं बुझ सकती। वन में लगी हुई आग को बुझाने में मेघ समर्थ हैं। पानी बरस जाय तो वह आग बुझ जायेगी। इसी तरह इस राग की आग को बुझाने के लिए अथवा राग आग की जो जलन उठी है इस जलन को कम करने के लिए न तो मित्र लोग समर्थ है न अन्य कोई उपाय समर्थ है। एक सम्यग्ज्ञान की झलक हो, यहाँ तो मैं पूरा का पूरा ज्ञानस्वरूप मात्र सुरक्षित हू, उसकी झलक आए तो यह राग आग बुझ सकती है। ज्ञानमेघ ही राग आग को बुझाने में समर्थ हैं।

ज्ञानस्वरूप में सर्वसंयममार्गण स्थानों का अभाव—ज्ञान में भला ज्ञान वही है जो ज्ञान-ज्ञान के स्वभाव का ज्ञान करता हो, उससे उत्कृष्ट ज्ञान अय कुछ नहीं है। उस ज्ञानस्वरूप की दृष्टि से परखे हुए इस जीव को बताया जा रहा है कि इसमें ये कोई मार्गणा स्थान भी नहीं है। हाँ तो ये हुए संयममार्गणा में संयम के भेद। यथाख्यात चारित्र आत्मा का शुद्ध व्यञ्जन परिणमन है। ऐसा भी शुद्ध परिणमन उस जीवस्वरूप में नहीं है। वह तो ज्ञानानन्द स्वभावमात्र है। जिसे अपरिणामी हो, ध्रुव कहो और व्यापक कहो। व्यापक कहना भी उस स्वरूप की महिमा घटाना है। व्यापक कहने से तो यह बात बनी कि यह फैला, बहुत दूर तक फैला। व्यापकपने की भी सीमा बनी। जहा तक सज् है वहाँ तक यह फला, पर वहाँ इस सीमा को भी नहीं देखा जा सकता। व्यापक और अव्यापक के विकल्प से परे है यह शुद्ध आत्मस्वरूप। इसे कहा जाय कि यह एक है। यह भी आत्मस्वरूप की महिमा घटाने वाला वचन है। एक है, इस प्रकार का विकल्प तरंग भी तब रहता है जब आत्मा ज्ञानानुभूति में नहीं है और शुद्ध आत्मस्वरूप का परिचय उसको नहीं है।

ज्ञानानुभूति में आत्मदर्शन—आत्मा का दर्शन वहाँ ही है भैया ! जहां ज्ञानानुभूति चल रही हो। किसी ने कहा देखिए जरा यह दशहरी आम कैसा है? तो वह क्या करेगा? हाथ में लेगा और खा लेगा। अरे यह क्या कर रहे हो? अरे तुम्हीं तो कहते हो कि देखो। तो देखने को ही तो कहा, खाने को तो नहीं कहा। अरे तो आत का देखना मुंह से ही हुआ करता है, आंखों से नहीं होता है। किसी चीज के परिचय का क्या तरीके हैं वे सब तरीके न्यारे-न्यारे हैं। जो चीज केवल देखने के लिए है उसका भोग नेत्र से है। कोई कहे कि देखो जी यह कितना बढ़िया सेन्ट है, तो क्या वह बाहर खड़े-खड़े तकता रहे कि वह है सेन्ट? अरे सेन्ट का देखना नाक से हुआ करता है अन्यथा परिचय ही नहीं हो सकता। किसी से कहा देखो जी यह रिकार्ड कितना सुन्दर है? तो बस देखता ही रहे अगल-बगल तो क्या उसे उस रिकार्ड का पता पड़ेगा कि कैसा है? नहीं पड़ सकता। उसके शब्द जब कान में पड़ेंगे तब पता पड़ेगा। देखो जी यह आत्मस्वरूप कैसा है? अरे अभी नहीं देख पाया। एक है यह—ऐसी विकल्प तरंग भी जब तक उठ रही है तब तक नहीं देखा जा रहा है। यह आत्मस्वरूप मन के विकल्प से नहीं निरखा जाता है। यह तो मन का विकल्प है कि वह एक है, व्यापक है, अपरिणामी है, ध्रुव है। इन सब विकल्पों से परे है।

आत्मतत्त्व की खण्डज्ञानागोचरता—यह आत्मतत्त्व इन सब विकल्पों से परे है तब फिर और है क्या यह? उसके बताने को शब्द नहीं है। जैसे मिठाई मीठी है उसको स्पष्ट बताने के शब्द नहीं हुआ करते हैं। उसे तो मुख में डालो और समझ जावो कि कैसी है मिठाई? इस ही प्रकार आत्मा को समझाने वाले, दिखाने वाले कोई शब्द नहीं होते हैं, उसे तो ज्ञानद्वार से जानते हुए समझ जावो कि मैं कैसा हू? मिठाई खाये हुए पुरुष की मिठाई के खाने का वर्णन सुनाया जा यतो उसकी समझ में आता है, अपरिचित को सुनावो तो उसकी समझ में नहीं आता है। ऐसे ही जो शास्त्रों में आत्मा के शब्द हैं वे हम आपकी समझ में आ रहे हैं। ऐसे उस शुद्ध अंतस्तत्त्व संयममार्गणा के स्थान भी नहीं हैं।

अन्तस्तत्त्व की संयममार्गणा स्थानों से विविक्तता—संयममार्गणा में संयम के अलावा, असंयम, संयमासंयम व तीनों से रहित भी लेना। क्योंकि खोज है ना तो खोज में विपरीत बात भी कही जाती है, तो संयममार्गणा में संयम लेना और संयमासंयम लेना तथा जहां व्रत नहीं है, व्रत का परिणाम ही नहीं है वह है असंयम। यह भी

संयममार्गणा के भेदस्थान में है। जैसे मनमाना खाना, फिरना, उद्योग करना, यहाँ कुछ भी संयम नहीं है। मध्य की अवस्था संयमासंयम है सो ये 7 हुए, किन्तु प्रभु को क्या बताएं? क्या प्रभु संयम पालता है? नहीं। तो क्या असंयम में रहता है? नहीं। तो क्या संयमासंयम में है। नहीं। वह स्वच्छ ज्ञानानन्द स्वभाव का अनुभवन करने वाला सर्वपदार्थों से बाहर है। ऐसी बाहर वाली स्थिति भी इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप में नहीं है, फिर अन्य संयम और असंयम की तो चर्चा ही क्या करें? ऐसे निर्लेप आकाशवत् अमूर्त इस अंतस्तत्त्व में संयममार्गणा का स्थान नहीं है।

आत्मतत्त्व में दर्शनमार्गणास्थानों का अभाव—इसी प्रकार इस शुद्ध जीवास्तिकाय में दर्शनमार्गणा का स्थान नहीं है। दर्शन कहते हैं जानने की शक्ति को प्रबल बनाने को। आंखों से देखने का नाम दर्शन नहीं है। आंखों से जो समझ में आता है वह सब ज्ञान है। जैसे कान द्वारा ज्ञान, नाक द्वारा भी ज्ञान, रसना द्वारा भी ज्ञान, छूकर भी ज्ञान, इसी तरह आंखों द्वारा भी ज्ञान हुआ करता है। इसका नाम दर्शन नहीं है। इन्द्रिय द्वारा जो ज्ञान होता है, नया ज्ञान होता है, उस नये ज्ञान के होने से पहिले जो एक आत्मस्वरूप होता है जिससे नये ज्ञान के उत्पन्न करने की शक्ति प्रबल है, उस आत्मस्पर्श को कहते है दर्शन।

अन्तस्तत्त्व की दर्शनभेद से विविक्तता—प्रभु में दर्शन और ज्ञान एक होती साथ है, क्योंकि वहाँ अनन्त शक्तियां मौजूद है। जहां अनन्त शक्ति प्रकट नहीं है ऐसे जीव में पहिले दर्शन होता है फिर ज्ञान होता है, फिर उस ज्ञान के बाद जब नया ज्ञान होगा, तब फिर दर्शन होगा, फिर नया ज्ञान होगा। तो ऐसा आत्मप्रकाशक, आत्मप्रतिभासमात्र दर्शन है, दर्शन के उपचार के अनेक स्थान है, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, केवलदर्शन। केवलदर्शन प्रभु के होता है। संसारी जीवों के यथा योग्य दर्शन होता है। इस शुद्ध सहज स्वभावमय आत्मब्रह्म में दर्शनमार्गणा के भी कोई स्थान नहीं है।

ज्ञानस्वरूपभावना—इस प्रकार इस मार्गणास्थान के निषेध के प्रकरण में निषेध के उपाय द्वारा जीवतत्त्व का वर्णन किया जा रहा है और शुद्धभाव को बताया जा रहा है कि यह मैं शुद्ध ज्ञायकस्वरूप हू। किसी का ताऊ, किसी का बाबा, किसी का बहनोई, किसी का साला ये तो बहुत दूर की बातें हैं। जब मैं मनुष्य भी नहीं हू तो उनकी तो कहानी ही क्या है? मैं तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप हू।

लेश्यामार्गणा—अब जीव के अंतरङ्ग परिणामों की पहिचान लेश्यामार्गणा द्वारा करायी जाती है। कषाय से अनुरंजित प्रदेश परिस्पंदवृत्ति को लेश्या कहते हैं। ये लेश्याएं 6 प्रकार की हैं—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, पीतलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ल लेश्या। इनके नाम ऐसे रंगों पर रखे गए हैं जिन रंगों से यह शीघ्र विदित हो जाता है, कि इनका परिणाम अधिक खोटा है, इनका परिणाम खोटा कम है, इनका और कम है, इनका भला है। काला, नीला, चितकबरा, पीला, पद्म और सफेद इन रंगों के नाम से ही यह जाहिर हो जाता है कि सबसे खोटा परिणाम कृष्ण लेश्या में है और उत्तरोत्तर खोटा कम रह जाता है। पीत लेश्या एक विशुद्ध परिणाम है और उसके बाद उत्तरोत्तर विशुद्धि बढ़ती जाती है। इसी कारण पहिली तीन लेश्यावों को अशुभ लेश्या कहते हैं और अंत की तीन लेश्यावों को शुभ लेश्या कहते हैं।

दृष्टान्तपूर्वक लेश्यापरिणामों की तीव्रता व मंदता का निरूपण—जिस जीव के कृष्णलेश्या होती है उसका अत्यन्त दुष्ट परिणाम होता है आगे-आगे कम क्रूर हो जाता है। शुभ में उत्तरोत्तर विशुद्ध परिणाम होता है। इन 6 लेश्यावों के परिणाम बनाने के लिए एक वृक्ष चित्र बताया है। 6 आदमी किसी गांव को जा रहे थे। रास्ते में एक फला हुआ आम का पेड़ मिला, जैसे आजकल फले हुए पके हुए होते हैं। भूख सबको लगी थी। सोचा कि 10-15 मिनट जरा यहाँ आमों से जरा पेट भर लें फिर चलेंगे। उनमें से एक पुरुष के मन में यह आया कि इस पेड़ को जड़ से काट कर उखाड़ लें, सारा पेड़ गिर जायेगा, फिर मनमाना खूब आम खायेंगे। एक के मन में आया की जड़ से काटकर क्यों फैंको, जहां से शाखाएं हैं उसके ऊपर से काट लें तो शाखायें गिर जायेंगी। फिर खूब मनमाना फल खायेंगे। दूसरे के मन में आया कि सारी शाखायें गिराने से क्या फायदा है। कोई एक शाखा गिरा लें उससे ही पेट भर जायेगा। चौथे के मन में आया कि बड़ी शाखायें क्यों गिरायें? छोटी टहनी ही तोड़ ले फिर खूब खाएं। पांचवें के मन में आया कि टहनियां ही क्यों तोड़े ऊपर चढ़कर जो पके-पके आम होंगे उन्हें तोड़कर खा लेंगे। छठे के मन में आया कि नीचे ही तो इतने बढ़िया सरस आम पड़े हुए हैं, क्यों पेड़ पर चढ़े? इन्हें ही खाकर पेट भरें। तो जैसे उन 6 आदमियों के आशय में क्रूरता और विशुद्धता थी, इसी प्रकार चढ़ाव और उतार के साथ इन 6 प्रकार की लेश्यावों के परिणाम होते हैं।

कृष्णलेश्या के चिह्न—जिस जीव के कृष्ण लेश्या होती है वह अत्यन्त प्रचंड क्रोधी होता है, यह उसकी पहिचान है। मनुष्य हो अथवा अन्य कोई हो। जिसके ऐसा परिणाम हो उसके कृष्णलेश्या है। यह कृष्णलेश्या वाला जीव बैर जीवन में नहीं छोड़ता है, और कितने ही तो मरकर भी दूसरे भव में बदला लेते है। तो बैर न छोड़ने का परिणाम कृष्णलेश्या में होता है। यह जीव इतना मनचला उद्दण्ड होता है कि इसके वचन कभी प्रिय निकलते ही नहीं हैं। मंडनशील वचन निकलते हैं, खोटी गाली गलौज देकर निकलते हैं। इसके हृदय में न धर्म का परिणाम है, न दया का परिणाम है। जितने हिंसा कर्म करने वाले हैं और जीवों को व्यर्थ ही सताने वाले हैं उनके मन में दया भाव कहां है? कृष्णलेश्या का ऐसा ही तो परिणमन होता है। वह अत्यन्त दुष्ट होता है, उससे किसी की भलाई नहीं होती है। किसी कारण वह कुछ रूपक भी नेतागिरी का, धर्मात्मा बनने का, बड़ा परोपकार जाहिर करने का नाटक रचे तब भी उसका जीवन कभी न कभी अतिनिकट में दूसरों का अनर्थकारी ही होगा। यह मौका पाकर धोखा देने से नहीं चूकता। ऐसा अत्यन्त क्रूर परिणाम कृष्णलेश्या का होता है।

नीललेश्या के चिह्न—नील लेश्या में कुछ तो कृष्णलेश्या से कम हुआ। पर यह भी अशुभ लेश्या है। यह नीललेश्या वाला जीव ज्ञानहीन होता है, बुद्धि प्रतिभा नहीं होती है। प्रत्येक कार्य में, उपकार में मंद रहता है, विषयों का लोलुपी होता है। उसे खाने से मतलब है दूसरों की परवाह नहीं। अपने आराम से मतलब दूसरे का कुछ हो अपना ही अपना तकता है, ऐसा खुदगर्ज हैं नीललेश्या के परिणाम वाला जीव। अहंकार और मायाचार भी इसमें तीव्र बसा रहता है। आलसी होता है, दूसरों को ठगने में चतुर दूसरों की निन्दा करने की प्रकृति रहती है। धन धान्य वैभव सम्पदा के जोड़ने में उसको रुचि लगी रहती है, ऐसा परिणाम नीललेश्या में होता है।

कापोतलेश्या के चिह्न—तीसरी है कापोतलेश्या। यह भी अशुभ है किन्तु नीललेश्या से कुछ कम क्रूरता है, पर है क्रूर ही आशय। कापोत पीला(नीला नहीं है, कुछ काला, नीला, चितकबरा रंग रहता है। ऐसे कापोत की तरह चितकबरा क्रूर नाना प्रकार के परिणामों वाला कापोत लेश्या का जीव होता है। यह रूठ जाता है, दूसरों की निन्दा करता है, दूसरों के दूषण गिनता है। शोक और भय आदि करने की उसकी प्रकृति रहती है। दूसरों की ईर्ष्या करता है। कोई मुझसे बढ़ा चढ़ा न हो जाय, ऐसा उनका परिणाम रहता है। धन में, प्रतिष्ठा में, अधिकार में, विद्या में कोई मुझसे बड़ा न हो, जो बढ़ता हो उससे ईर्ष्याभाव रखे और इतना ही नहीं, दूसरों के अपमान का यत्न करता है, अपनी प्रशंसा करता रहता है। कोई सुने या न सुने पर मैं ऐसा हू, मैं ऐसा हू, मेरे बाप ऐसे थे, मेरे पर बाबा ने यह किया। मैं-मैं, मेरा-मेरा ही सदा जाहिर किया करता है, दूसरों की ईर्ष्या करे इतना ही नहीं है किन्तु अपनी प्रशंसा भी अपने ही मुख से किया करता है। ऐसी ही कापोतलेश्या के परिणाम वाले जीव की दशाएं हैं। किसी दूसरे का विश्वास नहीं करता। किसी के मामले में, व्यवहार में, धरोहर में, किसी भी वायदे में अथवा यह मेरा भला ही भला सोचेगा, ऐसा किसी के प्रति कापोतलेश्या वाले जीव को विश्वास नहीं रहता है।

कापोतलेश्या वाला जीव खुद दूसरों के लिए अविश्वसनीय हैं। किसी को भी मौका पड़ने पर वह दगा देता है, तो ऐसा ही वह दुनिया को देखता है। इस कारण किसी दूसरे पर उसका विश्वास नहीं जमता। यह कापोतलेश्या परिणाम वाला जीव अपनी प्रशंसा स्तुति का अधिक रुचिया होता है तब तो वह अशुभ लेश्या है। यह रण में अपना तक भी चाहता है। मेरा देश में नाम हो जायेगा, मैं शहीद कहलाऊँगा। इस परिणाम से रण में मरण तक की भी चाह करता है। उसकी अगर स्तुति करो तो वह मनमाना धन भी दे देता है। होते हैं कितने ही लोग ऐसे। और बड़ी सभाएं लगायें, जुलूस निकलवायें तो वह लाख दो लाख रुपये दान में दे देता है। तो कापोत लेश्या का ऐसा परिणाम होता है कि गुण दृष्टि बिना मात्र प्रशंसा से खुश होकर मनमाना धन भी दे दिया करते है। क्या करने योग्य है, क्या करने योग्य नहीं है ऐसा विवेक अन्तर में नहीं रहता, ऐसा ही अशुभ परिणाम कापोतलेश्या वाले जीव के होता है। ये तीन अशुभ लेश्याएं हैं।

पीतलेश्या के चिह्न—अब पीतलेश्या का परिणाम निरखो। यह शुभ लेश्या है। पीतलेश्या वाला जीव यह करने योग्य है, यह नहीं करने योग्य है इसको भली प्रकार जानता है। जब इस कापोतलेश्या वाले जीव को अपनी कषायों के कारण यह विवेक नहीं रहा कि क्या करना योग्य है क्या न करना योग्य है? जो करने आया सो कर डाला, किन्तु यह पीत लेश्या वाला जीव विशुद्ध परिणामों की ओर है। क्या अपने को सेवन करना चाहिए, इसकी पहिचान रखता है, सब जीवों को समानता से निरखता चलता है। कोई ऐसा कार्य नहीं करता, जिसमें व्यक्त पक्ष जाहिर हो, सबको समान भावों से देखता है, दया और दान में इसकी प्रीति होती है। पीतलेश्या वाले का परिणाम बताया जा रहा है। जीवों के प्रति उसे दयाभाव होता है। किसी को भूखा प्यासा या किसी विपत्ति से सताया देखे तो जहां तक शक्ति चलती है, उसका उद्यम रहता है कि इसका क्लेश दूर हो। धन जोड़ने, संचय करने की वृत्ति नहीं होती है। यह दूसरों से इज्जत नहीं चाहता है, वह स्वयं सुखी रहता है, दूसरों को भी सुखी रखने की सोचता है। यह ज्ञानी पुरुष समझता है कि जैसे कुवे से यह पानी आता है और कितना ही पानी निकलता है, फिर भी कम नहीं होता है, इसी प्रकार इस चंचला लक्ष्मी

की बात है। काम में लिया जाए, दूसरों के उपकार में लगाया जाए तो उससे वैभव की कमी नहीं आती। भले परिणाम से बांधे हुए पुण्य के उदय में यह वैभव मिला है तो इस वैभव को उपकार में भले कार्यों में लगाओ तो वैभव घटेगा नहीं। भले ही किसी के पूर्वकृत तीव्र पापों का उदय आया हो कि घट भी जाए यह सब वैभव, मगर ये सब शुभ परिणाम और दया तथा दान समस्त वैभव को घटाने के कारणभूत नहीं हैं, ऐसा दया और दान का जिसका स्वभाव पड़ा हुआ हो, वह पीतलेश्या वाला ज्ञानी होता है।

पद्मलेश्या के चिह्न—5 वीं लेश्या हैं पद्मलेश्या। पद्म कहते हैं कमल को। जैसे कमल में सैकड़ों पत्ते होते हैं—ऐसा कोई विशिष्ट जाति का कमल देखा होगा, उसका रंग पूर्ण सफेद तो नहीं होता, पूरा पीला भी तो नहीं होता, किन्तु ऐसा होता है कि मानों अब जरासी देर में यह पूरा ही सफेद हो जाने वाला है। इस तरह की विचित्र सफेदी को लिए हुए पद्म होता है। ऐसे ही रंग से उपमा दी गई है पद्मलेश्या वाले जीव की। पद्मलेश्या वाला जीव त्यागवृत्ति वाला होता है कल्याणस्वरूप भद्र। किसी को छल व धोखा उससे पहुंच ही नहीं सकता। वह अपने कर्मों में सावधान रहता है। साधु और गुरुजनों के बीच में सत्संग में लवलीन बहुत विशुद्धि की ओर बढ़ने वाला यह पद्मलेश्या वाला जीव होता है।

शुक्ललेश्या के चिह्न—अन्तिम लेश्या है अत्यन्त विशुद्ध परिणाम वाली शुक्ललेश्या। इसके चित्त में कोई पक्ष नहीं होता है, यह भोग की भी आकांक्षाएँ नहीं करता, निदान बन्ध इसके नहीं है। सब जीवों में इसका समान परिणाम है। रागद्वेष, स्नेह सब शुक्ललेश्या वाले जीव के नहीं होते हैं। इन 6 लेश्याओं से संसार के जीव दबे हुए हैं।

लेश्यामार्गणास्थानों के अधिकारी—नारकी जीवों में पहिली 3 खोटी लेश्याएं होती हैं। देवों में अन्त की तीन शुभ लेश्याएं होती हैं। कदाचित् जो खोटे देव हैं—यक्ष राक्षस आदिक, भवन व्यन्तर, ज्योतिषी आदि के अपर्याप्त अवस्था में अशुभ लेश्या भी हो सकती है। तिर्यंचों में 6 प्रकार की लेश्या होती है, किन्तु एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय तथा असंज्ञीपञ्चेन्द्रिय के जीवों के तीन अशुभ लेश्याएं ही हो सकती हैं। मनुष्य के छहों लेश्याएं हैं। इसके अतिरिक्त कोई जीव ऐसे भी हैं, जिनके छहों लेश्याएं नहीं हैं, वे हैं भगवान्।

शुद्ध जीवास्तिकाय में लेश्यामार्गणास्थानों का अभाव—भैया ! लेश्या परिणाम का होना अथवा लेश्या परिणाम का न होना आदि प्रकार के भेदरूप जो लेश्यामार्गणा के स्थान हैं—ये स्थान इस ब्रह्मस्वरूप में नहीं होते। अपने आपके सहजसत्त्व के कारण जो स्वभाव बना हुआ है, वह स्वभावलेश्याओं के विकल्प से परे है। वह तो शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभावमात्र है। लेश्यामार्गणा स्थान इस शुद्ध जीवास्तिकाय में नहीं होते।

भव्यत्वमार्गणा के भेद—अब अगली खोज चल रही है भव्यत्वमार्गणा द्वार से। कोई जीव भव्य होता है, कोई अभव्य होता है और कोई न भव्य होता है, न अभव्य होता है, दोनों विकल्पों से परे है। भव्य उन्हें कहते हैं, जिनका भविष्य बहुत उत्कृष्ट होने को है अर्थात् सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्ररूप परिणाम जिसका हो सकता है—ऐसी शक्ति है। हो न हो, पर यह नियम है कि व्यक्त होने की जिनमें योग्यता है, उन्हें तो कहते हैं भव्य जीव। जिनमें रत्नत्रय का परिणमन व्यक्त होने की योग्यता ही नहीं है, उन्हें कहते हैं अभव्य जीव। पर सिद्धभगवान् न भव्य हैं और न अभव्य हैं। जैसे 10 क्लास पास हुए बच्चे को कोई यह कहे कि इसमें 8 वीं, 9 वीं, 10 वीं कक्षा की योग्यता है तो वह कहना व्यर्थ है, क्योंकि वह तो उत्तीर्ण हो चुका है। जिसका मोक्ष

हो गया है, रत्नत्रय का चरमविकास हो गया है, उसके सम्बन्ध में यह ऐसा हो सकता है, यह कहना ठीक नहीं बैठता।

भव्यत्वमार्गणास्थानों का विवरण व उनका जीवस्वरूप में अभाव:—भव्य जीव भी दो प्रकार के होते हैं—एक ऐसे जो कभी भी मोक्ष में नहीं जा सकेंगे, फिर भी भव्य कहलाते हैं। उनमें रत्नत्रय के व्यक्त होने की योग्यता ही नहीं हैं और जो निकट में जायेंगे, वे तो हैं ही भव्य। अभव्य वे कहलाते हैं, जिनमें रत्नत्रय प्रकअ होने की योग्यता ही नहीं है। इस प्रकार से इस संसारी जीव को तीन शक्लों में देखो—दूरातिदूरभव्य, निकटभव्य और अभव्य। जैसे बन्ध्या स्त्री होती है तो उसके पुत्र होने की योग्यता ही नहीं है। यों समझ लीजिए कि अभव्य को, जिसमें रत्नत्रय की योग्यता ही नहीं है। हालांकि बन्ध्या स्त्री में ऐसी बात नहीं है कि पुत्र होने की योग्यता नहीं है अन्यथा वह स्त्री स्त्री ही न कहलायेगी, पर उसमें पुत्र प्रकट होने की योग्यता नहीं है और एक सुशील, विधवा महिला में पुत्रत्व की योग्यता है, किन्तु वह सुशील है, ब्रह्मचारिणी है, उसके पुत्र होगा ही नहीं। योग्यता तो अवश्य है; और एक साधारण महिला जिसके पुत्र होंगे। जैसे एक मूंग होती है कि उसे पानी में घण्टों भिगोय रहो, पर वह पत्थर जैसी ही रहती है। यह भी आंखों देखी बात है। इसी प्रकार अभव्य जीव हैं कि कितना ही समागम मिले, कितने ही उसके साधन जुटें, फिर भी वह सीझता नहीं है। सीझने का ही नाम सिद्ध है। यह खिचड़ी सिद्ध हो गई, चावल सिद्ध हो गए अर्थात् पक गए, यों ही आत्मा सिद्ध हो गया अर्थात् पक गया, चरमविकास को प्राप्त हो गया। ऐसे ये भव्यमार्गणा के स्थान हैं। इस तरह जीवों की मार्गणाएं पहिचानी जाती हैं, किन्तु ये स्वयं आत्मस्वरूप नहीं है। आत्मा तो ज्ञानानन्दघन सहज चैतन्य ज्योतिस्वरूप है।

सम्यक्त्वमार्गणा के भेदस्थानों का जीवस्वभाव में अभाव—इसके बाद सम्यक्त्वमार्गणा द्वारा जीवों की खोज चल रही है। सम्यक्त्व कहते हैं सम्यग्दर्शन होने को। आत्मा का जैसा सहजस्वभाव है, ज्ञानानन्दमात्र अक्षुब्ध निराकुल अनन्तआनन्दरसकरि परिपूर्ण जो आत्मस्वभाव है, उस आत्मस्वभाव का परिचय होना, अनुभवन होना, रस आ जाना आदि सब कहलाता है सम्यग्दर्शन। यह सम्यग्दर्शन उत्पत्ति के निमित्त के भेद से तीन प्रकार का है—क्षायकसम्यक्त्व, औपशमिकसम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व। जहां सम्यक्त्व रञ्च नहीं है, उसे कहते हैं मिथ्यात्व। जहां सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की मिश्रित दशा है उसे कहते हैं सम्यक्मिथ्यात्व। मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व मिट जाने पर भी थोड़ी जो भी कसर रह जाती है, जिससे सम्यक्त्व नहीं बिगड़ता है, नष्ट नहीं होता है, मगर उसमें कुछ सूक्ष्म दोष रहते हैं। ऐसी दशा को कहते हैं सम्यक्प्रकृति के विपाक वाली दशा। यों वह सम्यक् प्रकृति वाली दशा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में शामिल हो जाती है। छठवीं दशा एक ऐसी है कि सम्यक्त्व तो छूट गया और मिथ्यात्व में न आ पाया इसका नाम है सासादनसम्यक्त्व। सम्यक्त्वमार्गणा से ये 6 भावस्थान जुड़े रहते हैं—क्षायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सासादन। ये 6 प्रकार के स्थान हैं। इनमें कुछ भले हैं, कुछ बुरे हैं फिर भी हैं जीव की दशाए। ये छहों प्रकार के सम्यक्त्व मार्गणास्थान इस शुद्ध ब्रह्मस्वरूप में नहीं हैं। ये तो चैतन्यस्वभाव रूप हैं।

शुद्ध जीवास्तिकाय में संज्ञित्वमार्गणास्थानों का अभाव—एक खोज है संज्ञित्वमार्गणा की। कोई जीव संज्ञी है, कोई असंज्ञी है और कोई ऐसे है कि न संज्ञी कहलाते हैं और न असंज्ञी कहलाते हैं। संज्ञी जीव उन्हें कहते

हैं जिनके मन हो। संज्ञी जीव नियम से पंचेन्द्रिय ही होते हैं। चार इन्द्रिय या और कम इन्द्रिय वाले जीवों में मन नहीं पाया जाता है। जिसके मन हो उसे संज्ञी कहते हैं। मन का अर्थ है जिस शक्ति के द्वारा यह हित और अहित का निर्णय कर सके, हित की शिक्षा ग्रहण कर सके, अहित की बात छोड़ सके—ऐसा जहां विवेक पाया जाय उसे कहते हैं मन। पंचेन्द्रिय लेकर चारइन्द्रिय तक के जीव सभी असंज्ञी होते हैं और पंचेन्द्रिय में से कोई तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय बिरले ही असंज्ञी हो सकते हैं। शेष सब तिर्यञ्च, समस्त मनुष्य और सभी देव ये संज्ञी जीव होते हैं, किन्तु भगवान् चाहे वह सशरीर परमात्मा हो अथवा अशरीर परमात्मा हो उन्हें न संज्ञी कहा, न असंज्ञी कहा। वे संज्ञी तो यों नहीं है कि उनके केवलज्ञान है, अब मन से कार्य नहीं होता। असंज्ञी यों नहीं कि वे अविवेकी नहीं। ये तीनों प्रकार के मार्गणास्थान इस शुद्ध ब्रह्मस्वरूप में नहीं हैं। ऐसे इस शुद्ध भाव के अधिकार में जीव के शुद्ध स्वरूप की पहिचान करायी जा रही है।

आहारकमार्गणा—मार्गणावों में अंतिम मार्गणा है आहारकमार्गणा आहारक का अर्थ है आहार करने वाला, पर भोजन का आहर करने वाला नहीं, किन्तु शरीरवर्गणा का आहार करने वाला। कोई उपवास करे तो लोग समझते हैं कि यह इस समय अनाहारक है, आहार नहीं करता है। पर अनाहारक, तो मरने के बाद जन्म स्थान पर नहीं पहुंचता उस बीच रास्ते में होता है। इस समय चारों ओर से आहार ही आहार किए जा रहे हैं। पैर से आहार कर रहे हैं, पेट, पीठ, हाथ सब ओर से शरीरवर्गणा, आती है। यह शरीरवर्गणा का आहारक है। आहार के आहारवर्गणा को ग्रहण करने वाले का नाम है और जो आहारवर्गणा का ग्रहण नहीं कर रहा है उसका नाम अनाहारक है। मरण के पश्चात् जो जीव सीधी दिशा में सीधी पंक्ति में जन्मस्थान पर पहुंचता है, तो वह अनाहारक नहीं होता है। किन्तु मोड़ लेकर जाना पड़े, इस तरह विग्रहगति होती है तो वहाँ अनाहारक होता है। प्रतरलोकपूरणसमुद्घात में भी जीव अनाहारक होता है।

गगनश्रेणियां और विग्रहगति के मोड़—इस आकार में ऊपर से नीचे, पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण प्रदेशप्रमाण मोटी पंक्तियां हैं, श्रेणियाँ हैं। जैसे जिस पर नक्शा बनाया जाता है ऐसा कोई मोटा कार्ड आता है तो उसमें बारीक-बारीक ऊपर से नीचे, अगल से बगल ठीक सीध में लकीरें रहा करती हैं। इस आकाश में स्वभावत: ऐसी श्रेणियाँ हैं। कोई जीव पूरब से मरकर उत्तर में उत्पन्न होता है तो सीधा विदिशा में न जायेगा। पहिले वह उत्तर की सीध तक पश्चिम की ओर जायेगा, फिर मुड़कर उत्तर में जायेगा। तो वहाँ उसे एक मोड़ लग जाता है ऐसे-ऐसे इस जगत् में तीन मोड़ ही हो सकते हैं।

शुद्धजीवास्तिकाय के आहारकत्व व अनाहाराकत्व के स्थानों का अभाव—मो सहित गमन करने वाले जीव की अनाहारक अवस्था होती है। वहाँ उन वर्गणावों का ग्रहण नहीं है। पूर्व शरीर का त्याग कर दिया अन्य शरीर के स्थान पर अभी पहुंचा नहीं है ऐसे बीच के पंथ में अनाहारक अवस्था होती है। दूसरी अनाहारक अवस्था होती है केवल समुद्घात में। जब लोकपूरण समुद्घात आता है उस समय उससे पहिले की प्रतर अवस्था में व बाद की प्रतर अवस्था में और बीच के लोकपूरण की स्थिति में अनाहारक होता है। वहाँ भी तीन समय अनाहारक रहता है। बाकी तो सभी संसारी जीव आहारक रहा करते हैं। चौदहवां गुणस्थान ही एक ऐसा गुणस्थान है जिसमें पुरे काल अनाहारक रहता है और सिद्ध भगवान् तो अनन्तकाल तक अनाहारक होते हैं। आहारक मार्गणा के ये स्थान भी इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्व में नहीं हैं।

इस ग्रन्थ का लक्ष्य—इस ग्रन्थ में प्रारम्भ से लेकर अंत तक केवल एक दृष्टि रखी गयी है जीव के शुद्ध ज्ञायकस्वरूप की। उसका ही आलम्बन मोक्षमार्ग है, उसके ही आलम्बन में रत्नत्रय है। उसका ही आलम्बन वास्तविक धर्म है। ऐसे उस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप को आत्मा माना है। उस आत्मा में ये कोई विकार भाव नहीं हैं, यह सब देखा जा सकेगा शुद्धनिश्चय नय के बल से। केवल आत्मा को आत्मा के सत्त्व के कारण आत्मा का जो शाश्वत स्वभाव है उस स्वभावमात्र आत्मा को आत्मा मानकर फिर समझना कि इस मुझ आत्मा में जीवस्थान, मार्गणास्थान, क्षायिकभावस्थान, अन्यभावस्थान आदिक कुछ नहीं हैं। ऐसे समस्त परभावों से परे औदायिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक भाव से परे इस परमार्थभूत ज्ञायकस्वभावी जीव में ये कोई अनात्मतत्त्व नहीं हैं।

अमोघ शरण—हे भव्य जीव ! एक इस चैतन्यशक्ति के अतिरिक्त समस्त परभावों को छोड़कर चैतन्य शक्तिमात्र प्रतिभासस्वरूप इस आत्मतत्त्व को ही स्पष्ट रूपे से ग्रहण करो। यह उपयोग कहां रमाया जाय कि इसे शरण प्राप्त हों, इस खोज में छान तो डालिए दुनियाँ, क्या उत्तर मिलता है? परिजन के संग से क्या इसे शांति मिलती है? यदि कोई परिवार का सदस्य मन के बहुत अनुकूल चलता है तो उसमें यह गर्व हो जाता है कि मैं मालिक हू और यह मेरे आधीन है। इस भाव के कारण फिर रंच भी मन के प्रतिकूल कुछ चेष्टा पायी गयी तो वहाँ इतनी बड़ी अशांति मान लेता है यह व्यामोही जीव कि जितनी अशांति गैर परिवार के लोगों के द्वारा अनेक अपमान या अनेक प्रतिकुलता की जाने पर भी नहीं मानता। जब तक उपादान में निर्मलता नहीं जगायी जाती है तब तक इस जीव को कहीं शांति नहीं है।

उपादान के अनुकूल चमत्कार—जैसे मल को सोने के घड़े में भर देने से क्या उसकी बदबू दूर हो जायेगी? उसमें तो गंदगी और बदबू की एक प्रकृति ही पड़ी हुई है। ऐसे ही अज्ञान ग्रस्त पर्यायमुग्ध इस आत्मा के देह को या बाह्य वातावरण को कितने ही अच्छे शृङ्गारों से सजाया जा यतो क्या यह दु:ख मिटकर सुख शांति हो सकती है? स्वयं में ही ज्ञान जगाना होगा, दूसरे जीवों की स्वतंत्रता का आदर करना होगा। तब परस्पर का ऐसा सुन्दर व्यवहार बन सकता है कि अधिक विह्वलता न होगी। जहां अपने को खुद ही अहंकारी बनाया जा रहा है, कुछ सत्त्व ही नहीं सोचा जाता है वहाँ इसको चैन नहीं होती है। बड़े योगी पुरुष क्यों सदा निराकुल रहते हैं और अपने आपमें प्रसन्न रहा करते हैं, वे अपने ही स्वरूप के समान सर्व जीवों का स्वरूप जानकर सबमें एक रस बन गए हैं, उन्होंने व्यक्तित्व के दरवाजे तोड़ दिये हैं। हालांकि आवांतर सत्त्व कभी मिटता नहीं है। सत्त्व तो वही वास्तविक है पर स्वरूपदृष्टि से समझे गये सामान्य जातिरूप चैतन्यस्वभाव की ऐसी दृढ़तर दृष्टि बनी है कि इस दृष्टि में व्यक्तित्व की दीवालें ढा दी जाती हैं, तब यह योगी सबमें समान बन करके स्वयं में ही एकरस हो जाता है। यही तो कारण है कि उसके प्रसन्नता बनी रहती है।

स्वतन्त्रता का आदर—भैया ! परिवार के लोगों पर अथवा समाज के लोगों पर अपना शासन रखते हुए में इस कारण बेचैनी हो जाती है कि इसने यह नीति अपनायी हैं कि मान न मान, मैं तेरा महिमान। यदि सब विवेक से काम लें, अपनी स्वतन्त्रता का मान करें, दूसरे की स्वतंत्रता का आदर करें तो यह जीव व्याकुल नहीं हो सकता। एक चैतन्यशक्तिमात्र आत्मतत्त्व को जानकर इस ही निज स्वरूप में मग्न होकर ऊपर चलने वाले, सारे विश्व के ऊपर चलने वाले इस अन्तर परमात्मतत्त्व का चयन करो। जैसे चरने वाले पशु घास चर

तो लेते हैं, पर उनकी जड़ नहीं उखाड़ा करते हैं। ऐसे ही यह प्रभुवर इस सारे विश्व के ऊपर चलता तो रहता है, परन्तु किसी वस्तु का स्वरूप नहीं मिटा देता। उनके और अपने सत्त्व में संकरता नहीं ला देता। प्रभु की ही क्या जगत् के सभी जीवों की ऐसी प्रकृति है। त्याग पर का कोई नहीं कर सकता, किसी को कोई ग्रहण नहीं कर सकता। किसी का स्वरूप अपने स्वस्वरूप कोई न कर सकेगा। ऐसे स्वतन्त्र चैतन्य सत्तामात्र निजआत्मतत्त्व में विश्राम करो।

आत्मप्रस्तर—देखो यह मेरा जीव उतना ही है, जितना कि चैतन्य शक्तिकर व्याप रहा है। मैं कहीं बाहर नहीं हू, मैं अपने स्वरूप और अपने प्रदेश में ही हू। इस चैतन्य शक्तिभाव के अतिरिक्त जिने भी भाव हैं, वे सर्वभाव पौद्गलिक हैं। उपाधि की अपेक्षा करके प्रकट हुए है। मैं औपाधिक भावरूप नहीं हू, मायामय इन्द्रजाल नहीं हू—ऐसी सर्व ओर से दृष्टि हटाकर अपने आपके ज्ञायकस्वरूप में अपने को लीन करो। जो पुरुष 'निरन्तर इस अखण्ड ज्ञानस्वभावरूप मैं हू' ऐसी भावना किया करता है, वह पुरुष इस समस्त संसार के मायामय विकल्पों और विपदाओं को प्राप्त नहीं होता।

निरापदस्वरूप—भैया ! जरा दु:खों को बटोरकर सामने तो रखो, कितने दु:ख हुआ करते हैं? धन न रहा, परिवार के इष्टजन न रहे अथवा जो-जो कुछ भी बाधाएं जगत् में मानी जाती हों, शत्रु लोग मेरी ओर कड़ी निगाह किए हुए हैं, सोच लो कितनी विपदाएं हो सकती है? उन सबका ढेर अपने सामने लगा लो और जरा अपने भीतर आकर यह देखो कि यह तो मैं आकाशवत्, अमूर्त, निर्लेप, ज्ञानमात्र, सबसे निराला, किसी से भी न रुकने वाला, न छिदने वाला, न जलने वाला, ऐसा यह मैं आत्मतत्त्व हू, ऐसी दृष्टि बनी कि सर्वविपदावों के ढेर खत्म हो जाते हैं। विपदाएं कुछ है ही नहीं और जहा अपने स्वरूपगृह से निकले, बाहर की ओर गए, पर की ओर झांका कि नहीं भी विपदा है तो भी इसे विपदाओं का पहाड़ नजर आता है।

आपत्ति की कल्पनाएं—बताओ किसे कहते हैं आपत्ति? कोई भी मामूली बात को भी बड़ा बनाकर व्यग्र हो जाता है। अब क्या करूं? कुछ रास्ता ही नहीं मिलता। कोई पुरुष बड़ी-बड़ी बाधाओं को भी कुछ न जानकर कहे कि है क्या यह? बाहरी पदार्थों की परिणतियां हैं। क्या सम्बन्ध है मेरा? जो जहा है वही रहो और रहते ही हैं। सोचने से किसी पदार्थ का गुणपर्याय उससे हटकर अन्तर में नहीं पहुंच जाता। सब अपने-अपने स्वरूप में रहो—ऐसी शुद्ध दृष्टि बनाकर अपने आपको जिसने समझा है, उसके विह्वलता नहीं है। इस कारण अपने सुख दु:ख का निर्णय अपनी समझ पर चलने दो, बाहरी पदार्थों की परिस्थितियों पर सुख दु:ख का फैसला मत करो। ऐसा घर बन जाए, इतना धन हो जाए, मेरी इज्जत बन जाए तो मुझे सुख हो, यों बाहरी स्थितियों पर अपने सुख दु:ख का निर्णय मत करो। बाहर में जहा जो कुछ है, वह उनकी स्थिति है। उन पदार्थों का मुझ में प्रवेश है ही नहीं। मैं तो ज्ञानमात्र यह आत्मतत्त्व शाश्वत विराजमान् हू। यही ब्रह्मस्वरूप है।

यह मैं जिन, शिव, ईश्वर, ब्रह्म, राम, विष्णु, बुद्ध, हरि, हर, सर्वरूप हू। इन शब्दों का जो अर्थ है, वह सब इसमें घटित होता है। लोक में इन नामों वाले किसी व्यक्ति में जो चारित्र बनाया है, उसकी बात नहीं कह रहे है, किन्तु इन शब्दों का जो अर्थ है, वह सब इस आत्मतत्त्व में चरित होता है। यह मैं आत्मा परमशरण हू, अन्यत्र कहां शरण खोजने जाते हो? मैं अखण्ड ज्ञानस्वभावमात्र हू—ऐसी भावना जिसके निरन्तर वर्तती

रहती है, वह संसार के विकल्पों को नहीं पकड़ता, किन्तु निर्विकल्पसमाधि को प्राप्त करते हुए चैतन्यमात्र आत्मा की उपलब्धि करता है।

परपरिणति की भिन्नता—यह आत्मा समस्त परपदार्थों की परिणति से अत्यन्त भिन्न है। दो लड़के 20 हाथ की दूरी पर खड़े हैं। एक लड़के ने जीभ निकालकर चिढ़ाया या अटपट शब्द बोल दिया तो दूसरे लड़के में उसकी क्या बात चली गयी? किन्तु वह दुःखी होता है। उस लड़के की इसमें कोई बात नहीं गई, किन्तु इसने ही ऐसा आशय बना लिया कि यह लड़का मुझे चिढ़ाता है? वह अपने मुंह की तो कसरत करता है। ऐसा ही समझ लो कि संसार के जितने पदार्थ हैं, वे सब अपने स्वरूप की परिणति कर रहे हैं, प्रतिकूल कोई नहीं चल रहा है। जिसमें जैसी योग्यता है, जिसमें जैसा कषाय है, उस कषाय और योग्यता के अनुकूल अपने में अपना परिणमन बनाए है, मेरा उससे कोइ्र सम्बन्ध नहीं है, ऐसा जानने वाले ज्ञानी संत ने परपरिणति से पृथक् अनुपम निष्णात शुद्ध ज्ञायकस्वरूप निजतत्त्व को जान लिया है।

आचार्य देव की अपार करुणा—देखो यह वस्तु का निर्बाध स्वरूप तो कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कृपा करके भव्यजीवों को दिखाया है और उनको भी अपने गुरु से प्राप्त किया था और ऐसी गुरु परम्परा से यह उपदेश चला आया है। जिसमें मूल गुरु तीर्थङ्कर भगवान् हैं। आज जो तीर्थ चल रहा है, जहा हम धर्मपालन करके अपने जीवन को सफल कर रहे हैं। यह तीर्थ अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी का है, जिनकी भक्ति से देव देवेन्द्रों ने मुकुट बनाकर जमीन में पड़कर नमस्कार कर गद्गद् भावना से अपने ही आपके पापों को धोया था—ऐसे महावीर तीर्थंकर देव द्वारा यह उपदेश प्रवाहित चला आया है। जो इस उपदेश को अपने हृदय में धारण करता है, वह इस स्वरूपदृष्टि रूप नौका द्वारा इस भयानक संसार समुद्र से पार हो जाता है।

आत्मावगाहन—भैया ! यहाँ क्या सार है जिस पर पागल हुआ जाए? यहाँ चिंताए, शल्य, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, मनचाही बात न होना अथवा भ्रम में आना इत्यादि बातों के बड़े-बड़े कष्ट हैं—ऐसे कष्ट पूर्ण संसार में किसी भी परवस्तु की आकांक्षा चलना इस जीव का महान् संकट है—ऐसे संकट से बचाने में समर्थ यदि कोई ज्ञान है तो यह आत्मज्ञान ही है। इस आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए सब कुछ परित्याग करना होगा। यही परित्याग करके देख लो। ज्ञानद्वारा परवस्तुओं से भिन्न अपने को जान लो। मेरा कहीं कुछ नहीं हैं, जरा ऐसा उपयोग तो बनाओ कि सचमुच में तुम्हारा तुम्हारे से बाहर कहीं कुछ नहीं है, यदि ऐसा उपयोग बना सकते हो और इसके फलस्वरूप अपने आपके ज्ञायकस्वभाव में प्रवेश कर सकते हो तो लो सारे संकट मिटकर जो आनन्दामृत का अनुभव होगा, वह आप स्वयं ही जान जायेंगे। फिर न पूछना पड़ेगा किसी से कि मेरा धर्म क्या है, मेरा शरण क्या है, मुझे आनन्द किससे होगा? सारी समस्याओं को अपने इस स्वानुभव से हल करना पड़ेगा।

आत्मार्थ सत्याग्रह और असहयोग—देखिए पराधीनता दूर करने के दो ही तरीके हैं—सत्याग्रह और असहयोग। इस आत्मा में कर्मों की, देह की, अन्य साधनों की परतन्त्रता लगी है। इसको दूर करने के लिए अपने सत्व स्वरूप का तो आग्रह करो। मैं तो एक अखण्ड ज्ञायकस्वभावी हू। इसके विपरीत कोई कुछ बहकाए, किसी के बहकाने में मत आओ। ऐसा करो तो सत्याग्रह और मेरे इस अखण्ड ज्ञानस्वरूप के अतिरिक्त अन्य जितने भाव हैं, अनात्मतत्त्व हैं, उनसे मेरा हित नहीं है, कुछ सम्बन्ध नहीं है—ऐसा जानकर

उनका असहयोग कर दो, उनसे प्रीति न रक्खो, उन्हें अपने पास बुलाओ ही नहीं, उनको अपने पास से दूर कर दो। यों इस अनात्मतत्त्व का असहयोग करो तो सत्याग्रह पूर्ण यह असहयोग अवश्य ही सर्वकर्मों की गुलामी से दूर कर देगा।

परमपदार्थ—जिस परमपदार्थ की रुचि से संसार के समस्त संकट टलते हैं, जिस परमतत्त्व के आलम्बन से सर्व औपाधिक भावों को प्रलय होकर विशुद्ध दर्शन मिलता है, जिस सत्यस्वभाव को परिचय बिना नाना परिणतियों को अपनाकर अज्ञानी पुरुष अनादि से अब तक भटकता चला आया है, जिस निज अन्तस्तत्त्व के स्पर्श से मोक्षमार्ग चलता है और मोक्ष होता है, परमकल्याण मिलता है, वह परमपदार्थ, वह शुद्ध अन्तस्तत्त्व और वह निज भाव किस प्रकार है? इस विषय में आचार्यदेव यहाँ बतला रहे हैं—

गाथा 43

णिद्दंडो णिद्वन्द्वो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो ।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा ।।43।।

इस गाथा में यह दर्शाया है कि इस शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त याने स्वयं सहज अपने आप ही यह जिस प्रकार है, जिस स्वभाव में है, उस वाले स्वभाववान् आत्मा के अतिरिक्त जितने भाव हैं, उन समस्त विभावों का अभाव है इस शुद्ध जीवास्तिकाय में। उन विभावों के निषेधरूप कुछ वर्णन चलेंगे।

आत्मा की निर्दण्डस्वरूपता—यह आत्मा निर्दण्ड है। दण्ड तीन होते हैं—मनोदण्ड, वचनदण्ड, कायदण्ड। लोग समझते हैं कि मैं मन से खूब मनसूबे बांधता हू, सही व्यवस्था का कार्यक्रम बनाता हू, मैं प्रबन्ध और व्यवस्था में अधिक चतुराई रखता हू, मेरा प्रतिभास, मेरा विचार बिल्कुल व्यवस्थित चलता है। आचार्यदेव यहाँ बतला रहे हैं कि मन के जितने भी विकल्प हैं, वे सब दण्ड हैं, तेरे स्वभाव नहीं हैं, ऐश्वर्य नहीं हैं, हितरूप नहीं हैं, वे सबके सब दण्ड हैं। शुभ विकल्प हों अथवा अशुभ विकल्प हों, जितनी भी मन की क्रियाएं हैं, सब मनोदण्ड हैं। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि अशुभ विकल्पों में पाप का बंध चलता है और शुभ विकल्पों में पुण्य का बन्ध चलता है, किन्तु विकल्प आत्मस्वभाव के अनुभव के विरुद्ध हैं। जब तक मन के संकल्प विकल्प रहते हैं, तब तक हमारा यह परम सर्वस्व जो निज सहजभाव है और यह जो कारणपरमात्मतत्त्व है, उसका दर्शन नहीं हो पाता है।

शुभ मन का उपकार—फिर भी जब भी इस समयसार के दर्शन होने को होंगे तो उससे पहिले मन के शुभ संकल्प विकल्प होंगे। अशुभ संकल्प विकल्प के बाद आत्मानुभव किसी को नहीं होता। इस कारण यत्न तो यह भी किसी पदवी तक ठीक है कि अशुभ विचार दूर करें और शुभ विचार बनावें। इससे हम आत्मसिद्धि के सम्मुख होंगे और फिर लौकिक बात यह है कि अशुभ विकल्प बनाए रहेंगे तो हमारे वचन और काय की चेष्टा भी अशुभ बनेगी, जो दूसरे जीव के विरुद्ध पड़ेगी और लौकिक आपत्ति इसके ऊपर आएगी। इस कारण भी अशुभ विकल्प न करना। अशुभ विकल्प करने में तत्काल अशांति रहती है। हम आपका बुरा विचारेंगे तो खुद में भी बड़ी अशांति करनी पड़ेगी। शांत रहकर, सुखी रहकर हम किसी का बुरा विचार नहीं

सकते। जब बुरा विचारेंगे तो खुद को बुरा देखना पड़ेगा, तब हम दूसरे का बुरा विचार सकते हैं। भला बुरा विचारने में, अशुभ संकल्प में कौन-सी अपनी सिद्धि है? परेशानी और हैरानी सारी की सारी है। इस लिए अशुभ संकल्प विकल्प का परिहार करके शुभ संकल्प विकल्प में आए लेकिन धर्म के मार्ग में मोक्ष के पथ के लिए आत्मा के हित के अर्थ वहाँ भी यह जानते रहें कि जितनी भी मन की प्रतिक्रियाएं हैं, मन की चेष्टाएं हैं, वे सब मनोदण्ड कहलाती हैं।

निर्दण्डता में आत्मरसास्वादन—यह आत्मस्वभाव मनोदण्ड से परे है। जैसे यह शुद्ध परमात्मदेव आंखों से नहीं दिख सकता, अन्य इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान में नहीं आ सकता, इसी प्रकार यह शुभ परमात्मदेव मन के विकल्पों के द्वारा भी ग्रहण में नहीं आता। भले ही तुम परमात्मतत्त्व की चर्चा कर लो, पर चर्चा करना और बात है, अनुभवन करना और बात है। जैसे मिठाई की चर्चा में और मिठाई के खा लेने में जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर इस आत्मतत्त्व की चर्चा में और आत्मतत्त्व के अनुभव में है। चर्चा में वह रस नहीं आता और कदाचित् मिठाई की चर्चा करते-करते भी एक बूंद थूक भी उतर आए और कुछ अच्छा सा लगे तो वह भी चर्चा का प्रसाद नहीं है। पहिले मिठाई खायी थी, उसका स्मरण हुआ तो चर्चा में थोड़ा रस आया। इसी तरह आत्मतत्त्व की चर्चा करते हुए में जो आपको आनन्द आता है उसे यों समझिये कि आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में अपने चिंतन, मनन, अनुभवन द्वारा जो रसास्वाद लिया उसका प्रसाद है कि आत्मा की चर्चा सुनकर उसमें कुछ प्रसन्नता प्रकट हुई है।

प्रभुमिलनपद्धति—अब इस आत्मतत्त्व का अनुभव मन के विकल्प से परे है। इसके सिद्धान्त में यों समझिये कि जैसे राजा से मिलने का इच्छुक कोई पुरुष चलता है तो दरबार के दरबान से वह कहता है कि मुझे राजा से मिला दो। तो दरबान का काम इतना ही है कि जहा राजा विराजे हों वहाँ निकट स्थान तक पहुंचा देना। बाद में राजा से मिलना, स्नेह बढ़ा, काम निकालना यह सब राजा और दर्शक की परस्पर की बात है। उसमें दरबान क्या करेगा? इसी तरह कारणपरमात्मतत्त्व के दर्शन का अभिलाषी भक्त पुरुष इसके दरबान मन से कहता है कि मुझे उस कारणपरमात्मतत्त्व के दर्शन करा दो, तो यह दरबान मन इस दर्शनार्थी उपयोग को ले जाता है। कहां तक? जहां तक इस समयसार प्रभु के दर्शन हो सकते हों उस सीमा तक वहाँ यह मन छोड़ आता है, लो इस जगह बैठा है परमात्मप्रभु। इस मन का काम यहाँ तक तो चला। अब इसके बाद प्रभु से मिलना और प्रभु में एकरस होना, स्पर्श होना, अनुभव होना, विशुद्धि बढ़ाना, मोक्षमार्ग का काम निकालना, यह तो भक्त और प्रभु के परस्पर की बात है। इसमें दरबान मन क्या करेगा? फिर भी शुभ मन की चेष्टा और प्रभुमिलन के अर्थ शुभ मन की चेष्टा बहुत काम निकाल देता है।

शुद्धजीवास्तिकाय में मनोदंड का अभाव—भैया ! इतने उपकारी मन के उपकार होने पर भी ज्ञानी पुरुष कहता है कि यह भी मनोदण्ड है। वह दरबान दर्शनार्थी सेठ को चौक तक तो छोड़ आया किन्तु वह वहाँ ही साथ बना रहे तो राजा से भेंट नहीं हो सकती। छोड़कर चला आए अपनी ड्यूटी पर दरबार से बाहर तो काम निकलता है। यों ही यह मन शुभ तर्क वितर्कों द्वारा इस उपयोग भक्त को इस परमात्मप्रभु के दरबार तक छोड़ आये तो काम बनेगा, यदि वहाँ ही साथ रहा करे यह मन, संकल्प विकल्प का यह उपयोग

परिहार न करे तो प्रभु के दर्शन नहीं हो सकते। इस कारण मन के व्यापार को मनोदण्ड कहा है। यह शुद्ध आत्मस्वभाव मनोदण्ड के विकार से रहित है।

जीव में वचनदण्ड का अभाव—दूसरा दण्ड है वचन दण्ड, वचन बोलना। मनुष्य सोचते हैं कि मैं बुरा बोलकर और नाना व्यंग मजाक रंग ढंग से बड़ी वचन कला दिखाकर मैं बहुत अच्छा कहलाता हू, मैं ठीक काम कर रहा हू। आचार्यदेव कहते हैं कि हंसी मजाक व्यंग अप्रिय अहित वचन की तो बात क्या, जो हितमय हो, प्रिय हो, शिवमार्ग में लगाने के ध्येय से बोली जा रही हो फिर भी वचन की चेष्टामात्र वचनदण्ड कहलाता है। जब तक वचनदण्ड का कार्य चल रहा है तब तक इस जीव का प्रभु से अहित नहीं होता। यह वचनावली भी प्रभुमिलन के लिए कुछ सहायक तो है पर यों समझिए कि यह वचन दरबार के बाहर का दरबान नहीं है, किन्तु कोट के बाहर का दरबान है। यह प्रभुमिलन का काम कराने के लिए मन के माफिक अधिक घुस-पैठ वाला नहीं है। फिर भी वचनव्यवहार न हो तो मोक्षमार्ग की बात कैसे प्रसारित हो सकती है? ये शुभ वचन हितकारी हैं, सबसे उपकारी हैं, तिस पर भी ज्ञानी संत की दृष्टि यह है कि यह वचनकलाप भी वचनदण्ड है। यह शुद्ध आत्मतत्त्व इस वचनदण्ड से निष्क्रान्त है।

जीव में कायदंड का अभाव—तीसरा दण्ड है कायदण्ड। शरीर की चेष्टाएं करना कायदण्ड है। कायदण्ड भी दो प्रकार के हैं—एक अशुभ कायदण्ड और एक शुभ कायदण्ड। विषयों की परिणति और पापों के अर्थ होने वाले शरीर की वृत्ति—ये सब अशुभ कायदण्ड हैं। पूजा, दया, दान, गुरुसेवा, सत्संग आदि कार्यों के लिए होने वाले काय की परिणति शुभकाय परिणति है। फिर भी आचार्यदेव बतला रहे हैं कि अशुभ कायपरिणति तो कायदण्ड है ही, भयानक कायदण्ड है, किन्तु शुभ कायवृत्ति भी कायदण्ड है, आत्मस्वरूप नहीं है। इस शुभ अंतस्तत्त्व के कायदण्ड नहीं होता।

तीन दंडों के कहने का कारण—भैया ! यहाँ तीन दण्ड बनाए, इतना सुनकर कहीं खुश न हो जाना कि इसमें धनदंड बताया ही नहीं है। इसको तो छूट दे दी होगी, धनदण्ड में दोष नहीं लगता होगा, पर बात ऐसी है कि इस धन का तो आत्मा के साथ जरा भी सम्बन्ध नहीं है। उसकी तो चर्चा ही क्या करना है? वह तो अत्यन्त पृथक् है। इस आत्मा के साथ मन, वचन, काय का तो कुछ सम्बन्ध है। आप यहाँ मंदिर में आये हो तो तन भी साथ लाये हो, मन भी साथ लाये हो और वचन भी साथ लाये हो पर धन साथ नहीं लाए हो। कोई कहे कि अच्छा लो हम कल से धन भी साथ लायेंगे, तो हठ की बात जुदी है। आप जानकर कुछ करें, पर तन, मन, वचन तो ऐसे हैं कि इन्हें आप हटाकर आ ही नहीं सकते।

मन, वचन, काय की जीव से कुछ निकटता—अच्छा कल से आप काय को अपने साथ न लाना और आप ही अकेले आना, यह बात शायद न बन सकेगी। अच्छा खैर काय की छूट है, आप मन साथ न लाना। मन को अपने घर में धर आना। कोई यह सोचे कि यह बात तो हो जायेगी। बैठे यहाँ रहेंगे और मन घर भेज देंगे। तो यह बात नहीं कह रहे हैं। मन को कोई घर में नहीं धर सकता। इस मन में चाहे विकल्प बसा लो पर मन को उठाकर घर में धरना हो ही नहीं सकता। यह तो उपचार कथन है कि मेरा मन घर में है। मन भी आप घर में छोड़कर नहीं आ सकते। यदि कहें कि अच्छा आप वचन घर पर ही छोड़ आना और फिर यहाँ पर आना, तब शायद कोई यह सोचे कि यह बात तो बन जायगी, आकर हम मौन से बैठ जायेंगे, एक शब्द

भी न बोलेंगे। अरे तो भले ही औंठ बन्द करके बैठ जाओ, पर भीतर में कोई शब्द न उठे, गुनगुनाहट न चले, ऐसा करके कोई दिखाए तो जानें कि आप वचन छोड़कर आए हैं। मन-वचन-काय हमारे निकट हैं। धन छोड़कर तो आ सकते हैं, इस कारण दण्ड में मन-वचन-काय बताए गए हैं। धन की तो चर्चा ही नहीं की है। वह तो प्रकट जुदा है, निराला है।

दण्डों के हेतुओं का भी जीव में अभाव—आत्मा में इन तीनों प्रकार के दण्डों के योग्य द्रव्यकर्म और भावकर्म का अभाव है अथवा जैसे यह दण्ड प्रवर्त सकता है उनके कारण भाव-द्रव्यकर्म का भी स्वीकार आत्मस्वभाव में नहीं है और हो रहे भावकर्म का भी स्वीकार आत्मस्वभाव में नहीं है, फिर मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड इनका स्वीकार कैसे हो? यह आत्मा तो निर्दण्ड है, दोनों प्रकार के दण्डों से परे है। यह चर्चा चल रही है उस शुद्ध शरण परमपिता की जिसकी कृपा बिना, जिसके प्रसाद बिना आत्मा में इस शांति का अभ्युदय नहीं हो सकता।

परमपदार्थ की दृष्टि बिना विडम्बनाएं—इस परमपदार्थ की दृष्टि बिना ये जगत् जीव निरन्तर व्याकुल हो रहे हैं। कोई घर को ही अपना सर्वस्व मानकर घर का पक्ष करता है और अन्य घरों के खिलाफ बनता है। कोई अपनी जाति को ही सर्वस्व मानकर जाति का पक्ष करता है और गैर जाति के खिलाफ विचार बनता है। कोई अपने समाज को ही सर्वस्व जानकर समाज का पक्ष करता है और कोई गैर समाज के खिलाफ बनता है। कोई अपने देश को अपना सर्वस्व मानकर उस देश का पक्ष करता है और बाकी देशों के खिलाफ विचार बनाता है। ज्ञानी संत की वृत्ति यह है कि जाति अपेक्षा देखें तो सारा जीवलोक मेरा है। उसमें यह छटनी नहीं है कि यह अमुक जीव मेरा है, बाकी जीव गैर हैं और व्यक्तित्व की दृष्टि से निहारें तो मेरा मात्र मैं हू, अन्य समस्त जीव मुझसे अत्यन्त एकसमान जुदे हैं।

जीव की निर्द्वन्द्वता—देखो भेया! चलो और आओ, यहाँ जिसकी चर्चा की जा रही है। शुद्ध आत्मतत्त्व की यहाँ चर्चा की जा रही है। इस शुद्ध आत्मतत्त्व में कोई द्वन्द्व नहीं है, यह निर्द्वन्द्व है। द्वन्द्व का अर्थ है दो होना। दो का नाम द्वंद्व है, किसी दूसरी चीज का न होना भी निर्द्वन्द्वता है। कोई पुरुष जब शांत और संतुष्ट होकर कहता है कि लो मैं अब निर्द्वन्द्व हो गया हू। इसका अर्थ यह है कि अब मेरे विचार में किसी दूसरे का कोई कार्य करने को नहीं रहा। मेरे चित्त में अब किसी दूसरे का बोझ नहीं रहा। एक लड़का और रह गया था हिल्ले से लगाने के लिए, उसको भी अच्छी जगह मिल गयी है, वह भी बोझ मिट गया। एक लड़की शादी को रह गयी थी, सो उसकी भी शादी कर दी। अब हम बिल्कुल निर्द्वन्द्व हो गए। अरे इस निर्द्वन्द्व के मर्म में क्या भरा हुआ है? मैं अकेला रह गया, मैं स्वतन्त्र हो गया, यह है निर्द्वन्द्वता का अर्थ। निश्चय से इस परमपदार्थ आत्मतत्त्व से व्यतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थों का अभाव है, एक में दूसरा नहीं है। एक में दूसरी चीज आ ही नहीं सकती।

एकक्षेत्र समागम में भी जीवों में पर का अत्यन्ताभाव—कदाचित् एक प्रदेश पर अनन्त परमाणु भी ठहर जायें और अनेक परमाणु एकपिण्डबद्ध होकर भी एक प्रदेश पर ठहर जायें, तिस पर भी किसी परमाणु में किसी अन्य परमाणु का प्रवेश नहीं है। क्षेत्र प्रवेश हो गया, मगर स्वक्षेत्र प्रवेश नहीं है। किसी के क्षेत्र में कोई दूसरी वस्तु नहीं समा सकती। यह मैं आत्मा ज्ञानघन आनन्दमय अपने स्वरूप को लिए हुए हू। इसमें न द्रव्यकर्म

का प्रवेश है, न शरीर का प्रवेश है, न अन्य स्थानों का प्रवेश है। यह तो अपने ही स्वरूप में है। परद्रव्य की चर्चा तो बाहर की बात है। उपाधि का निमित्त पाकर होने वाले रागद्वेषादिक परिणाम विभाव सब भी मेरे कुछ नहीं हैं। ऐसे समस्त पदार्थों से पृथक् यह मैं आत्मा निर्द्वन्द्व हू। इस शुद्ध आत्मा में यह ही स्वयं बना हुआ है। इसमें किसी दूसरी वस्तु का प्रवेश नहीं है—इस बात की श्रद्धा आ जाए तो आज से ही यह आनन्दमय जीवन हो जाए।

अपने संभाल की करामात—भैया ! क्या है दुनिया में विपदा? यों घर रहा, यों न रहा, रहो, न रहो, परिणति है यह उसकी। इतने परिजन का संयोग है, अब नहीं रहा, उदय उनका है। इस निजस्वरूपमय आत्मतत्त्व में कौनसी हानि पड़ गयी? जब यह जीव अपने ज्ञानभाव में नहीं संभलता है तो पर की ओर दृष्टि बनाकर आकुल व्याकुल होता रहता है। यह देखो इस निज शुद्ध जीवास्तिकाय को अपने आप अपने सत्त्व के कारण जो शाश्वत सहजस्वभाव होता है, उसमें अपना उपयोग देकर जरा दर्शन तो करो इस निज कारणसमयसार के, इस निज परमात्मतत्त्व के। इसमें किसी चीज का प्रवेश नहीं है, यह स्वयं अपने में परिपूर्ण है।

आत्मा की स्वयं परिपूर्णता—इस परमात्मपदार्थ में जितने भी परिणमन चलते हैं, वे सब भी परिणमन की कला में परिपूर्ण परिणमन हैं और वर्तमान में हो रहा परिपूर्ण परिणमन परिपूर्णरूप से प्रलय को प्राप्त हो जाता है तो यह प्रलयरूप परिणमन भी एक नवीन परिपूर्ण परिणमन का अभ्युदय करके प्रलीन होता है—ऐसा यह परिपूर्ण परमात्मदेव समस्त अन्य पदार्थों की दखल से तो दूर है ही और यह तो अपने आपमें शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप को लिए हुए है।

निर्दण्डतापूर्वक निर्द्वन्द्वता में अपूर्व प्रभुमिलन—ज्ञानी संतपुरुष तो तीनों प्रकार के दण्डों से पृथक् निज आत्मस्वरूप की समझ करके और उन सभी दण्डों की कृपा से कुछ प्रभु के आवास के निकट पहुंचकर उन दण्डों से विदा मांगकर खुले स्वरूप से, खुले उपयोग से प्रभु से मिलता है, जिसे कहते है कि अमुक पुरुष ने अमुक नेता से खुब खुली बातचीत की। कोई दूसरा साथ हो तो खुली बात करते नहीं बनता। ये तीनों दण्ड साथ हों तो प्रभु से खुलकर मिलन नहीं हो सकता। ऐसे प्रभु के प्रसाद को प्राप्त करके उस आनन्दरस से आनन्दमग्न होकर जब छक लेते हैं, संतुष्ट होने लगते हैं, कुछ अब फिर व्यवहार में आते हैं तब उसे खबर आती है कि ओह ! वह अद्वैत मिलन बहुत अपूर्व था। इस शुद्ध अन्तस्तत्त्व में किसी भी अन्य पदार्थ का प्रवेश नहीं है। यह तो मैं ही स्वयं ज्ञानानन्दमय हू। ऐसे निर्दण्डता पूर्वक निर्द्वन्द्व अनुभवन में ज्ञानानन्दरस निर्भर कारणसमयसाररूप सनातन चैतन्यमहाप्रभु से अपूर्वमिलन हो जाता है।

शाश्वत परमात्मतत्त्व—जिस तत्त्व के प्रति लोकजन की यह धारणा हो गयी है कि वह सृष्टिकर्ता है, जिस तत्त्व के प्रति विवेकशील जनों की यह धारणा बनी है कि वह एकस्वरूप है और घट-घट में विराजमान् है, उस ही तत्त्व के सम्बन्ध में यह विवरण चल रहा है कि वह तत्त्व कहीं बाहर नहीं है, किन्तु उस तत्त्वमय ही हम आप प्रत्येक जीव हैं। जैसे घी, दूध से तो अलग नहीं है, केवल दूध को घी देखने की विधि और पद्धति है। दूध को ही देखकर अनेक लोग यह बतला देते हैं कि इसमें इतना घी बनेगा। घी कहां है? न बाहर व्यक्त है, न उसे ले सकते हैं, फिर भी बता देते हैं। इसी तरह जो वर्तमान में जीव परिणति कर रहा है, ऐसी

परिणति करते हुए जीव में भी ज्ञानी संत पुरुष यह देख लेता है कि इसमें यह कारणपरमात्मतत्त्व शाश्वत प्रकाशमान् है।

आत्मतत्त्व की निर्ममता—यह तत्त्व निर्मम है, ममतारहित है, धन वैभव देहादिक कुछ भी परपदार्थ मेरे हैं—इस प्रकार का जो ममकाररूप विभाव परिणाम है, उस विभाव परिणाम से रहित यह आत्मस्वरूप है, यह शुद्ध ज्ञायकस्वभावी है। इसमें केवल ज्ञानभाव और आनन्दभाव विदित होता है। यह काठ पत्थर की तरह किसी पिण्डरूप नहीं है। इसे किसी भी इन्द्रिय से देखा नहीं जा सकता है। इन्द्रिय की बात तो दूर रही, इस मन के द्वारा भी इस परमप्रभु से भेंट नहीं हो पाती है—ऐसा यह कारणसमयसार ममतापरिणाम से रहित है। इसमें किसी भी प्रकार का मोह रागद्वेष परिणाम नहीं है।

स्वरूप में विकार की अप्रतिष्ठा—जल अग्नि का सन्निधान पाकर गरम हो गया, किन्तु गरम हो जाने पर भी पुरुषों को और महिलाओं को यह विश्वास है कि यह गरमी जल में नहीं है, जल के स्वरूप में नहीं है, यदि यह विश्वास न हो तो उसे पंखे से हवा करके ठण्डा करने की क्यों तरकीब करें? क्या किसी ने आग को ठण्डा करने के लिए पंखा हिलाया है? नहीं। जल को ठण्डा करने के लिए पंखा हिलाते हैं। इस कारण उन्हें विश्वास है कि गरमी जल में प्रतिष्ठित नहीं है, आयी है यह गरमी निमित्त का सन्निधान पाकर, किन्तु जल के स्वरूप में नहीं है। इसी तरह ज्ञानी संतों को यह विश्वास रहता है कि आए हैं रागद्वेष, मोहभाव, अब ये भाव आत्मा के स्वरूप में नहीं हैं। शुभ और अशुभ सर्वप्रकार के रागद्वेष भाव इस जीवस्वरूप में प्रतिष्ठित ही नहीं हैं। इस ही कारण से तो यह आत्मतत्त्व निर्मम है।

स्वरूप में परभाव व पर का प्रतिषेध—भला यह मेरा है, इस प्रकार का परिणाम भी जब मेरा नहीं है तो जिस वस्तु में हम मेरेपन का विकल्प करते हैं, यह वस्तु मेरी कहां से हो सकेगी? न वस्तु मेरे में है, न ममता मेरे में हैं और ममता का कारणभूत जो मोहनीयकर्म का उदय है, यह मोहनीय कर्म का उदय भी मेरे में नहीं है। जिस अध्यवसान के उपादान से यह कर्मोदयकारी बन जाता है, वे अध्यवसान के लगाव भी इस शुद्ध जीवस्वरूप में नहीं हैं। यह चर्चा कहीं दूसरे की नहीं की जा रही है, यह चर्चा तो अपनी है, आपकी है, सबकी है। चर्म के नेत्रों से खोलकर बाहर देखने से इस मर्म से बहुत दूर जा गिरते हैं।

प्रभु की अनन्यमन से उपासना पर प्रभुप्रसाद की निर्भरता—इस मन में किसी भी भिन्न असार वस्तु का आदर करने से यह प्रभु मेरे से विविक्त हो जाता है। लोक में एक शरण दोस्त को भी अपना जब बनाया जा सकता है, तब सबसे अधिक प्रेम उस दोस्त पर उसे मालूम पड़ा। यदि वह समझ जाए कि यह अन्य मित्रों को मुझसे भी अधिक चाहता है तो उसकी मित्रता ठीक नहीं रह सकती है। इस उत्कृष्ट पावन तरणतारण प्रभु के हम कृपापात्र बनें तो हम तब ही कृपापात्र बन सकते हैं, जब एक मन से, सर्वप्रयत्नों से इस चैतन्यस्वरूप का ही आदर करें। यह पूर्ण निर्णय रहे कि चैतन्यस्वरूप का अर्थात् मेरा न कोई शरण है, न कोई रक्षक है, सब अहित हैं, भिन्न हैं, असार हैं। किसी का आदर मन में न रखें तो इस आत्मप्रभु का प्रसाद पाया जा सकता है।

जीव की सर्वत्र एकाकिता—इस जीव ने बाह्य पदार्थों में यह मेरा है, यह मेरा है, मैं इनका हू, इस दुर्बुद्धि से इसने संसार में जन्म-मरण की परिपाटी बनायी है, हो जाय कोई मेरा तो उसको मेरा मानने में कोई बुराई

नहीं है, पर निर्णय करके देखो कोई मेरा होता भी है क्या? वस्तुस्वरूप में ही गुञ्जाइश नहीं है कि कोई पदार्थ मेरा बन जाय। मनुष्य अपने भावों के अनुकूल जो चाहे अपनी कल्पनाएं बनाता है और जो चाहे मानता है पर रहता है अकेला का ही अकेला।

जीव की आद्यन्त एकाकिता पर एक दृष्टान्त—एक कोई संन्यासी था, वह नदी के उस पार पहुंचा। कुए पर एक स्त्री पानी भर रही थी, प्यास लगी, उससे पानी पिया, और कुछ कर्मोदय विपरीत था तो स्नेह हो गया दोनों में। दोनों साथ रहने लगे। अब कुछ समय बाद अपनी आवश्यकतावों की पूर्ति के लिए कुछ खेती बाड़ी की, गाय भैंस रक्खी। अब उस स्त्री के भी बच्चे हुए, गाय भैंस के भी बच्चे हुए, मन बहलाने को बिल्ली वगैरह पाल ली उसके भी बच्चे हुए। अब तो बड़ा परिवार संन्यासी जी का बन गया। अब किसी कारणवश वे सबके सब नदी के उस पार जाना चाहते थे तो नदी में से चला सारी गृहस्थी को साथ में लेकर। इतने में नदी का पूर आया और उसमें सब बह गये, बच्चे भी स्त्री भी, रह गया केवल वह अकेला, सो भुजावों से तैरकर उसी कुए पर पहुंचा। सोचता है कि यह वही कुवां है जब कि हम अकेले यहाँ आए थे और इतनी विडम्बनावों के बाद फिर यह वही कुवां है कि जहां हम फिर अकेले आए हैं।

आत्मा की एकाकिता—आत्मा का वही एकत्व स्वरूप है, वही अकेलापन है जिस अकेलेपन से तुम यहाँ आए थे। और बड़े हो गए तो विडम्बनाएं बढ़ती जा रही हैं। घर बन गए, दुकान हो गयी, पैसा बढ़ाने लगे, संतान हुई, रिश्तेदारियां बढ़ी, सारी विडम्बनाएं बढ़ी और अंत में वह समय आयेगा कि जैसा अकेला आया था वैसा ही अकेला जायेगा। जैसे उस संन्यासी ने वे विडम्बनाएं व्यर्थ मोल ली, पापबंध किया, रहा अंत में अकेला का ही अकेला। ऐसे ही यहाँ से प्राणी बीच में इतनी विडम्बनाएं कर लेते हैं, बखेड़ापन आरम्भ, परिग्रह, लड़ाई, विवाद, रागद्वेष, मैं-मैं, तू-तू, मेरा-तेरा द्वारा विवाद बनता चला जाता है और अंत में फिर रहता है यह अकेला का ही अकेला।

आत्मा का सर्वत्र एकत्व—ज्ञानी संत पुरुष यहाँ चिंतन कर रहे हैं कि यह मैं आत्मा सर्व परपदार्थों से विविक्त, परभावों से रहित निर्मम हू। मैं एक हू, अकेला हू, सबसे न्यारा शुद्ध हू। मैं न किसी परवस्तु को करता हू, न किसी परवस्तु को भोगता हू। मैं जो कुछ करता हू अकेला अपने आपमें, अपने आपको, अपने लिए अपने से करता रहता हू। जैसे कोई उद्यमी छोटा बालक अकेला भी हो कहीं तो भी वह खेल लेता है, आसमान से बातें करता है और किसी प्रकार अपना मन बहला लेता है। ऐसे ही ये सब जीव अकेले ही हैं और अकेले ही ये अपने आपमें अपने विकल्पों से खेलते रहते हैं। दूसरा तो कोई इनके साथ है ही नहीं।

आत्मा की सर्वविकारों से विविक्ता—यह मैं निर्मम हू, केवल हू, ममतारहित हू, इतना ही अर्थ नहीं यह तो उपलक्षण है। अर्थ लेना कि मैं सब विकारों से रहित हू। प्रयोजन निर्विकारस्वरूप देखने का है। जैसे कोई यह कह जाय अपने मुन्ना से कि हम मंदिर जाते हैं, देखो यह दही पड़ा है मटका में, इसे कोई बिलाव न खा जाय, बिलाव से बचाना, तो क्यों जी अगर कोई कौवा आ जाय तो क्या मुन्ना यह सोचेगा कि पिताजी तो बिलाव को हटाना बता गए हैं, कुत्ता और कौवों को खाने दो। अरे प्रयोजन बिलाव नाम लेने पर भी यही है कि जितने इस दही के भक्षक हैं उन सबसे दही का बचाव हो। ऐसे ही निषेध तो किया है शरीर की ममता

Commented [VJ1]: read

का कि यह आत्मा ममता से रहित हैं पर अर्थ यह लेना कि जितने भी परभाव, विकारभाव इस आत्मस्वरूप के बाधक है उन सब विकारों से रहित हू।

स्वरूप द्वारा स्व की अविनाशकता—भैया ! अपना स्वरूप अपने विनाश के लिए नहीं हुआ करता है। किसी भी वस्तु का स्वरूप हो, अपने आपके विनाश के लिए कोई स्वरूप नहीं होता है। मेरा स्वरूप चैतन्यभाव अमूर्त है, जानने में नहीं आता। जानने में आ जाये तो फिर छूटता नहीं है। जब दृष्टि दे तब इसे निरख ले। ऐसा यह मैं निर्विकल्प ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व हू। यह बहुत संकट है जो चित्त में यह बैठा है कि मैं अमुकचंद हू, अमुक जाति का हू, अमुक पोजीशन का हू, इस देश का हू, इस गोष्ठी का हू, कुटुम्ब वाला हू इत्यादि जो अपने मन में आश्चर्य बने हैं यह इस जीव पर घोर संकट हैं। इस घोर संकट के दूर करने का उपाय जरा-सा ही तो है। किया जाये तो निरापद हो जाये, न किया जाये तो आपत्ति में तो पड़ा ही है।

आपत्ति से मुक्त होने का सुगम उपाय—जैसे जल के बीच कोई कछुवा अपना मुह ऊपर उठाए पानी में बहा चला जा रहा है तो बीसों ही पक्षी उस कछुवे की चोंच पकड़ने के लिए मण्डराते हैं, निकट आते हैं, बड़े संकट छा जाते हैं, पर क्या संकट है, कछुवा में एक कला ऐसी है कि चार अंगुल पानी में अपनी चोंच नीचे कर ले तो उन पक्षियों के सारे आक्रमण विफल हो जाते हैं। जरा-सा काम है। इसमें श्रम भी नहीं है। बस चार अंगुल पानी में अपनी चोंच डुबा ले, लो सारे संकट दूर हो गए। ऐसे ही यह उपयोग जब अपने ज्ञानसमुद्र से, आनन्दसिन्धु से बाहर अपना मुख निकाले रहता है अर्थात् बाहरी पदार्थों में राग और आसक्ति बनाए रहता है तो सैकड़ों संकट इस जीव पर छा जाते हैं। बना-बनाकर सैकड़ों आपत्तियां यह जीव भोगता है किन्तु इस उपयोग में ऐसी भी एक कला है कि जरा मुड़कर अपने आपके स्वरूप को निरखे कि मैं एक अकेला हू और इस अकेले में ही रम जावे। परिवार के जनों के प्रति भी यह स्पष्ट बोध रहे कि वह पूर्णतया मेरे स्वरूप से अत्यन्त पृथक् है। ऐसे ज्ञानी संत जरा उपयोग को अपने अन्तर्मुख करके थोड़ा अन्दर धसते हैं कि ये सारे संकट एक साथ समाप्त हो जाते हैं।

आत्मा की निष्कलता—मैं निर्मम हू, रागद्वेष मोह आदि समस्त विकारों से स्वत: पृथक् हू। जिसकी शरण में पहुंच गए और वास्तविक शरण मिले, कभी धोखा न हो ऐसे इस ब्रह्मस्वरूप की यह याद की गई है। अब आत्मा की निष्कलता देखी जा रही है यह मैं आत्मा निष्कल हू। कल से रहित हू। लोग कहते हैं ना कलकल मत करो, अच्छा नहीं लगता। वह कलकल क्या है? कल मायने शरीर। शरीर शरीरों का झमेला शरीर शरीरों की लड़ाई, शरीर शरीरों का हल्ला-गुल्ला अच्छा नहीं लगता। कलकल अच्छी चीज नहीं है। तब फिर क्या करना? कलकल से दूर रहना, कल मायने है शरीर। इस शरीर से रहित शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व को अपने उपयोग में लेना यह कलकल से बचने का उपाय है। यदि निर्देह ज्ञान शरीरमात्र निज आत्मतत्त्व को न निरखें तो जन्म-जन्मान्तरों में ये कलकल-कलकल लगाये रहेंगे अर्थात् शरीरों की परम्परा बराबर बनती चली जायेगी।

शरीर के भेद और औदारिक शरीर—कल होते है 5। औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण—ये पाँच शरीर हैं। औदारिक शरीर मनुष्य और तिर्यंच के होता है। हमारे और आपके इस स्थूल कल का नाम

औदारिक शरीर है और सब तिर्यञ्च भी जितने एकेन्द्रिय से लेकर और निगोद से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक हैं, उन समस्त तिर्यञ्चों के भी औदारिक शरीर होते हैं।

देवों का वैक्रियक शरीर—वैक्रियक शरीरदेव और नारकियों के ही होते हैं। देव के वैक्रियक शरीर होते हैं, वे ऐसी विक्रिया करते हैं कि छोटे बन जायें, बड़े बन जायें और कहो हजारों रूप रख लें। उनका मूल वैक्रियक शरीर तो जन्मस्थान के निकट ही रहता है, पर जगह-जगह कोई देव शरीर डोलता है तो वह उत्तरविक्रिया शरीर है अर्थात् वैक्रियक-वैक्रियक शरीर है, मूल शरीर नहीं है।

देवों के देह की पृथक्त्वविक्रिया—किसी समय मानों कि एक साथ 50 तीर्थंकर जन्म जायें एक ही दिन तो ऐसा हो सकता है कि नहीं? हो सकता है। भरतक्षेत्र में 1 तीर्थंकर जन्में और उसी समय ऐरावत में 1 तीर्थंकर उत्पन्न हों और उसी समय विदेह की 160 नगरी हैं, उनमें से अनेक नगरियों में एक-एक तीर्थंकर जन्म जायें, किन्तु अब अभिषेक करने वाला और व्यवस्था करने वाला एक इन्द्र है। तो क्या वहाँ वह ऐसी छटनी करेंगे कि फलाने तीर्थंकर का, पहिले सम्मान कर लें, उनका पहिले अभिषेक करेंगे, बाद में फिर यहाँ करेंगे? क्या इस तरह से अपने क्रम में कुछ क्रम बनायेंगे? नहीं। जन्में तो 50 तीर्थंकर एक साथ। यह सौधर्म इन्द्र वैक्रियक-वैक्रियक शरीर इतने बनाकर एक साथ सभी तीर्थंकरों का समारोह अभिषेक मना लेगा।

वैक्रियक-वैक्रियक शरीरों में मनोगति—अब प्रश्न यह रहा कि जब मन एक जगह होगा तो दूसरा शरीर रुक जाएगा। एक साथ सब शरीर कैसे चलेंगे? तो वैक्रियक शरीर बनाने में ऐसी हालत होती है कि जहां उस इन्द्र का मूल शरीर है अर्थात् सौधर्म नामक स्वर्ग में, तो वहाँ से लेकर जहा तक उसका वैक्रियक शरीर बना हुआ है, रास्ते में सर्वत्र आत्मप्रदेश रहते हैं और वह मन भी है और यह मन इतनी तीव्र गति से उन 50 शरीरों में चक्कर लगाता रहता है कि सब काम एक साथ होते रहते है। देवों के ऐसा अद्भुत वैक्रियक शरीर होता है।

अदृश्य वैक्रियक शरीर—नारकियों के भी ऐसा अद्भुत वैक्रियक शरीर होता है कि उनको जब जरूरत पड़ती है कि हम अमुक नारकी को तलवार से मारें तो उनके हाथ ही तलवार बन जाते हैं। वे अपने शरीर को कुरूप आदि जैसा चाहे बना डालें, किन्तु नाना शरीर नहीं बना सकते। उनमें अपृथक्त्व क्रिया होती है।

औदारिक वैक्रियक शरीर—कभी औदारिक शरीर वाले ऋषि व संतों के भी वैक्रियक शरीर बन जाता है, किन्तु वह मूलत: वैक्रियक शरीर नहीं है किन्तु ऋद्धि से ऐसा जो शरीर बना है, उसका नाम है औदारिक-वैक्रियक शरीर।

आहारक शरीर—तीसरा शरीर है आहारक शरीर। यह आहारक शरीर ज्ञानी ध्यानी विविक्त ऋद्धिधारी तपस्वी संतों के प्रकट होता है। कोई तत्त्व में शंका हो तो उसका समाधान करने के लिए मस्तक से आहारक शरीर की रचना होकर आहारक शरीर बनता है और जहां प्रभु हों वहाँ पहुंचकर उनके दर्शन करके वापिस अपने मस्तक में आ जाता है। वह धवल पवित्र व्याघात-रहित शरीर होता है।

तैजस और कार्मण शरीर—तैजस और कार्माण शरीर इस जीव का तब तक साथ नहीं छोड़ता, जब तक कि मोक्ष न हो जाए। औदारिक शरीर साथ छोड़ देगा, किन्तु मनुष्य है तो इस सम्बन्ध में उसके औदारिक शरीर लगा है। मरण करके वह देव बन जाए तो उसका वैक्रियक शरीर रहा। इसका विच्छेद हो गया, किन्तु एक नियम है कि वैक्रियक शरीर के बाद वैक्रियक शरीर कभी नहीं मिलता। वैक्रियक शरीर वाले देव और ये

नारकी औदारिक शरीर को ही धारण कर सकेंगे, उन्हें वैक्रियक शरीर तो नहीं मिलता। औदारिक शरीर वाले मरकर फिर भी औदारिक शरीर पा लें या वैक्रियक शरीर पा लें, उनका नियम नहीं है। अब देखो औदारिक शरीर का भी विछोह हो जाता है और वैक्रियक शरीर का भी विछोह हो जाता है। आहारक शरीर तो किसी विरले संत के प्रकट होता है। उसका विछोह तो सभी संसारी जीवों के बना ही है, पर जिन संतों के आहारक शरीर प्रकट होता है, उनके भी विछोह हो जाता है, यह आहारक शरीर तो अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है, परन्तु तैजस और कार्माण शरीर इस जीव के साथ तब तक ही लगे रहते हैं, जब तक जीव को मोक्ष न हो जाए।

सूक्ष्मशरीर—जो द्रव्यकर्म हैं, ज्ञानावरणादिक 8 कर्म हैं, उनके ही संग्रह का नाम है कार्माणशरीर। इस कार्माणशरीर के साथ ऐसा जो एक शरीर लगा है, जिससे औदारिक आदिक शरीरों में तेज पहुंचता है, उसे कहते हैं तैजस शरीर। तैजस और कार्माण शरीर एक साथ रहते हैं और इनके युगल का नाम है सूक्ष्मशरीर। जैसे अन्य लोग इस शरीर को दो भागों में विभक्त करते हैं—स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीर। जीव मरण करके इस सूक्ष्मशरीर सहित जाता है और स्थूलशरीर पाता है। वह सूक्ष्मशरीर तो यही तैजसशरीर और कार्माणशरीर हैं। यह सूक्ष्मशरीर जीव का एक समय भी साथ नहीं छोड़ता है। यह सूक्ष्मशरीर तो निरन्तर ही लगा हुआ है। इस शरीर का प्रपंच भी शुद्ध जीवस्वरूप में नहीं है, इसलिए यह आत्मा निष्कल है।

आनन्द का आश्रय—किसका आश्रय करने से यह उपयोग आनन्द रूप वर्त सकता है? जो स्वयं किसी दूसरे के आश्रय में न हो। जो स्वयं ही सावलम्ब है, उसके आश्रय से अपने को कैसे शरण हो सकती है? ऐसा कौन-सा तत्त्व है, जो निरालम्ब हो और मेरे में ही मेरे निकट सदा रहता हो? यों तो निरालम्ब संसार के समस्त पदार्थ हैं, स्वतन्त्र हैं। अपने ही आधार में अपने ही आश्रय से परिणमन करने वाले प्रत्येक सत् हैं, किन्तु अपने को तो ऐसा निरालम्ब तत्त्व चाहिए, जो शाश्वत मेरे ही निकट हो, कभी मुझसे अलग न हो। वह तत्त्व है कारण-समयसार।

अज्ञानान्धकार में निजशरण का अपरिचय—लोक में संसार के प्राणी बाह्य में नाना प्रकार के पदार्थों का आलम्बन करके सुख की कल्पना साकार बनाना चाहते हैं। उनको यही तो एक क्लेश है कि जो चीज अपनी नहीं है, वह अपने निकट कभी नहीं हो सकती है—ऐसे भिन्न, असार और मायामय बाह्यपदार्थों का शरण तकता है। बाह्यपदार्थों में शरण बुद्धि रखना घोर अन्धकार है, इस अंधेरे में अपने वैभव का परिचय नहीं हो सकता है। जब तीव्र अँधेरा होता है तो अपने ही शरीर के अंग अपने को नहीं दिखते हैं तो उससे भी विकट अँधेरा यह है कि यह खुद ज्ञानमय है और ज्ञानमय निजस्वरूप को नहीं जान पाता है। बाह्यपदार्थों में कहीं भी अपनी शरण तो नहीं है। यह तो स्वयं ही शरणभूत और चैतन्यस्वभाव मेरे उपयोग की शरण है।

आत्मा का अनात्माओं से पार्थक्य—यह स्वभाव, यह आत्मतत्त्व समस्त परद्रव्यों से भिन्न है। लोक में अनन्त तो जीव हैं, अनन्त पुद्गल हैं, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य हैं। इस मुझ आत्मद्रव्य में न तो अन्य समस्त जीवों का प्रवेश है और न ही समस्त पुद्गल अणुओं का प्रवेश है। न धर्मद्रव्य, न अधर्मद्रव्य, न आकाशद्रव्य व न कालद्रव्य आदि कोई भी इस आत्मा में प्रवेश नहीं पा सकता। जैसे एक घर में रहने वाले 10 प्राणी होते हैं और उनका एक-दूसरे से मन नहीं मिलता है, बल्कि विमुख

और विरुद्ध विचार चलता है तो एक घर में रहते हुए भी वे जुदा-जुदा हैं। यह एक मोटी बात कह रहे हैं। प्रकृत में यह देखो कि एक ही क्षेत्र में छहों के छहों द्रव्य रह रहे हैं, फिर भी किसी एक द्रव्य में अन्य समस्त द्रव्यों का प्रवेश नहीं है।

द्रव्यों का आनन्त्य व क्षेत्रसांकर्य—लोकाकाश का कौन-सा प्रदेश ऐसा है, जहां छहों द्रव्य न हों, एक भी कम हो तो बताओ? धर्मद्रव्य सारे लोक में तिल में तैल की तरह व्याप कर फैला हुआ है। अधर्मद्रव्य भी इसी प्रकार विस्तृत है, आकाश तो वह है ही। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। अब रहे जीव और पुद्गल। तो जीवराशि अनन्त है, अक्षयानन्त है। लोकाकाश के एक-एक प्रदेश पर आपको अनन्त जीव ज्ञान द्वारा मिलेंगे। यद्यपि कोई भी जीव आकाश के एक प्रदेश बराबर शरीर को लिए हुए नहीं होता, वे असंख्यात प्रदेश में फैले हुए हैं, फिर भी आकाश में लोकाकाश का कोई प्रदेश ऐसा नहीं है, जहां पर अनन्त जीव न विराजे हों। यों अनन्त जीव ऐसे ठसाठस भरे हुए हैं, एक जीव के साथ अनन्त ही पुद्गल पड़े हुए हैं।

पुद्गलों का आनन्त्य—एक सूक्ष्म निगोदिया जीव जिसका शरीर सूई की नोक जितने पतले भाग से भी असंख्यातवां भाग छोटा शरीर होता है—ऐसे-ऐसे शरीर के आश्रित अनन्त निगोद जीव हैं। वे जीव एक साथ मरते हैं, एक साथ जन्मते हैं, एक श्वांस में 18 बार उनका जन्म-मरण होता है। ऐसे एक-एक निगोद जीव के साथ अनन्त तो कर्मपरमाणु लगे हैं और उनके साथ शरीर के भी परमाणु अनन्त लगे हैं और उनके साथ-साथ शरीर के अन्य परमाणु जो शरीररूप तो नहीं होते, किन्तु शरीररूप होने की उम्मीद करते हैं विस्रसोपचय, वे भी अनन्त लगे हैं। इसी प्रकार ऐसी भी कार्माणवर्गणाएं अनन्त साथ लगी हैं, जो अभी कर्मरूप तो नहीं हुई, किन्तु कर्मरूप हो सकती हैं विस्रसोपचय । तब देखिए एक जीव के साथ में अनन्तपुद्गल लगे हैं। यह तो जीव के साथ लगे हुए पुद्गल की बात है। और भी पुद्गल जो जीव से विविक्त हैं, वे भी अनन्त लोकाकाश में भरे पड़े हैं। एक प्रदेश ऐसा नहीं है, जहां 6 में से 5 ही द्रव्य हों। छहों के छहों द्रव्य प्रत्येक प्रदेश पर मिलेंगे।

पदार्थ की पर से निरालम्बता—ऐसे एक क्षेत्र में सर्व द्रव्य मिलते हैं, तिस पर भी प्रत्येक जीव, प्रत्येक अणु, प्रत्येक द्रव्य अन्य सबसे विमुख है, अपने ही स्वरूप में अपना अस्तित्व रखता है। किसी अन्य में उसका प्रवेश नहीं है। तो यों निरालम्ब तो प्रत्येक सत् है, पर भिन्न सत् का मैं आलम्बन नहीं कर सकता हू और मान भी लें व्यवहार दृष्टि का आलम्बन, सो भी सदा वह मेरे निकट नहीं रह सकता है। तब ढूंढ़ों अपनी शरण, अपना रक्षक, अपना प्रभु, अपना सर्वस्व शरणभूत अपने आपमें देखो। खोटी हठ करने का फल उत्तम नहीं होता।

असत्याग्रह का दुष्परिणाम—बच्चे की हठ; सीमा तक तो पिता को सहन हो जाती है, जहां तक इस पिता के आशय का अत्यन्त विरोध न हो जाय। जब कोई बालक सीमा से अधिक हठ करता है तो बालक लाभ में नहीं रहता हानि ही पाता है। यह जीव बालक थोड़ी बहुत हठ किया करे जो हठ इस हित के फार्म पर सही है किन्तु इसके इस स्वरूप का विरोध न होता हो। यद्यपि इतना भी हठ वास्तव में बाधक है, किन्तु सीमा से जो अधिक हठ है जैसे विषयों के सुख भोगने का ख्याल आना, मुसाफिर की भांति नश्वर समागम वाले

जगत् के जीवों से स्नेह करने की आदत होना, यह हठ सीमातोड़ हठ है। इस हठ से यह जीव उपयोग लाभ न पायेगा, हानि में ही रहेगा। इस हठ का त्याग करो, अपने आपमें शाश्वत विराजमान शरणभूत इस चैतन्यस्वभाव को निरखो और ऐसा दृढ़ निर्णय करो कि मेरा तो मात्र यह चैतन्यस्वभाव है। मैं तो केवल चैतन्यस्वभावमात्र हू। ऐसे विशुद्ध अनुभव में जितने क्षण व्यतीत होंगे उतने तो क्षण सफल हैं और इससे च्युत होकर बाह्यपदार्थों में जितने लगाव चलेंगे उतना ही समय निष्फल है।

शुद्ध ध्येय के ध्यान में हित—इस आत्मतत्त्व में किसी भी परद्रव्य का सम्बन्ध नहीं है। यह स्वयं समर्थ है, स्वयं सुरक्षित है, सद्भूत है, ज्ञानानन्दमय है, अपने ज्ञान को बढ़ाने के लिए बाहर क्या यत्न करते हो? सारे यत्नों को छोड़कर यदि एक इस परमशरणभूत निरालम्ब ज्ञानस्वभाव का ही ज्ञान बनेगा तो एकदम ज्ञान विकसित हो जायेगा। बना-बनाकर, श्रम कर-कर ज्ञान बढ़ाने और कमाने में श्रम किया जा रहा है, ठीक है। शुद्ध ध्येय हो तो वहाँ श्रम ज्ञानवृद्धि का कारण ही होता है और वह लाभदायक है, किन्तु वह ज्ञान यह उपदेश देता है कि किसी क्षण यदि तुम समस्त विकल्पों को त्यागकर निर्विकल्प समतारस से परिपूर्ण रागद्वेष रहित सहज आनन्दकरि भरे हुए इस चैतन्यस्वभाव को भी तो देखो तो बाहर डोलना इस जीव को हितरूप नहीं है।

लोकसुख की भी आनन्द गुण से प्रादुर्भूति—बाह्यपदार्थों का रोग लगाने पर जो कुछ थोड़ा बहुत सुख मानते हो, वह सुख तो बड़े बर्तन में बची हुई खरोंच कर निकाली गई खिचड़ी जैसा है। जैसे किसी बड़े मटके में खिचड़ी बनाई और वह लोगों को परोस दी, सारा मटका खाली हो गया, फिर भी एक दो भिखारी आ जायें तो थनीते से निकालकर उन एक दो भिखारियों को खिचड़ी दी जा सकती है, इसी प्रकार विषयों की प्रीति में अपना सहज आनन्द गवां दिया, लेकिन चूकि तुम प्रभु हो समर्थ हो, कितना भी तुम्हारा आनन्द खत्म हो गया, फिर भी विषयसुखों के रूप से जली बची खुर्चन तुम्हारे हाथ लग जाती है। बाह्यपदार्थों से आनन्द की आशा करने में सब आनन्द नष्ट हो जाता है और जो कुछ भी भ्रम वाला सुख प्रतीत होता है वह भी बाह्यपदार्थों से आया हुआ नहीं है, किन्तु अपने ही आनन्दस्वभाव का विकार है।

निश्चल आश्रेय तत्त्व—भैया ! बाहर में किसका आलम्बन तकते हो? कौन तुम्हारे लिए लोक में शरणभूत है? बाहर में तो सब धोखा ही धोखा देने वाले हैं। अरे तुम्हें कोई दूसरा धोखा नहीं दे रहा है, तुम ही उल्टी चाल चल रहे हो, बाह्यपदार्थों से सुख की आशा लगाई है तो उनसे धोखा तो प्रकट ही है। धोखा तो अपनी ही कुबुद्धि से है। परपदार्थों में देखते जावो कि जिस प्रकार अवस्थित है वहाँ वह धोखा नहीं खा सकता। किसी से राग किया गया तो **वह राग ही स्वयं धोखा है**। फिर किसी अन्य वस्तु पर धोखे का इल्जाम लगाना बुद्धिमानी नहीं है। खूब परख लो कौनसा वह तत्त्व है जिसका आलम्बन करूं तो जिसमें न कभी धोखा हो, न कभी वियोग हो। ऐसा आलम्बने योग्य तत्त्व है तो अपने आपका सहजस्वरूप है।

राग की स्वरूपबाधकता—यह सहजस्वरूप निरालम्ब है, इस निरालम्ब आत्मस्वरूप में किसी ने बाधा डाली है तो वह है परपदार्थ के प्रति होने वाला राग। यह राग परिग्रह है। बाह्यवस्तु का परिग्रह नाम उपचार से है। वह क्यों परिग्रह है? कोई बाह्य पदार्थ मुझमें लगा है नहीं, चिपका है नहीं, स्वरूप में है नहीं, तब फिर कोई बाह्यपदार्थ मेरा परिग्रह क्यों है? वह तो जहां है वहाँ ही पड़ा हुआ है। घर जहां खड़ा है वहाँ ही खड़ा है,

तिजोरी जहां है वहाँ ही है। वह मेरा परिग्रह नहीं है, किन्तु उन बाह्यपदार्थों में तो राग लगा है, लपेट आत्मीयता का परिणाम हो रहा है यह परिणाम मुझमें लगा हुआ है। यही परिग्रह है।

राग से बरबादी—जैसे छेवले के पेड़ में लाख लग जाय तो वह लाख कोई बाहर से आई हुई चीज नहीं है, वह छेवले के अंग से ही उद्भूत चीज है, लेकिन वह लाख उस छेवले के पेड़ को बरबाद करके रहती है, फिर वह पेड़ पनप नहीं पाता, धीरे-धीरे सूखने के उन्मुख हो जाता है। अंत में सूख कर ठूठ रह जाता है । ऐसे ही इस आत्मा में जो राग की लाख लगी है वह कहीं बाहर से आकर नहीं लगी हैं, यह मेरी ही अयोग्यता से मेरे ही एक परिणमनरूप परिणमकर मेरे साथ लगी है राग लाख। यह राग इस मुझको बरबाद करके ही रहता है, इसके संसर्ग से यह जीव कोरा ठूठ, ज्ञान की ओर से मूढ़, आनन्द की ओर से दु:खी ऐसा कोरा का कोरा रह जाता हैं, यह आत्मा पनप नहीं सकता। राग हो तो आत्मा उन्नत नहीं बन सकता।

परिग्रहों का प्रतिनिधि राग—ऐसे ये परिग्रह विस्तार से बताये जायें तो 14 प्रकार के हैं। मैं उन समस्त परिग्रहों से दूर हू। यद्यपि वे कहने में 14 प्रकार के हैं, फिर भी सबका अन्तर्भाव एक राग में हो जाता है। चाहे यह कह लो प्रभु वीतराग है, चाहे यह कह लो प्रभु समस्त परिग्रहों से रहित है। राग एक उपलक्षण है। समस्त परिग्रहों का प्रतिनिधित्व करने वाला यह राग है। वे 14 परिग्रह कौन हैं? पहिला मिथ्यात्व, यह मिथ्यात्व परिग्रह जीव में ऐसा विकट लगा हुआ है कि इससे जीव परेशान है। जीव की सब परेशानियों की जड़ है मिथ्यात्व। विपरीत आशय का बनाना मिथ्यात्व है। इस विपरीत आशय पर ही सारे संकट खेल कूद रहे हैं।

मिथ्यात्व की तह—भैया ! ऐसा भी कोई तपस्वी हो जाय जो अपने आप ईमानदारी से व्रत तपस्या में लग रहा है, निर्ग्रन्थ हो गया है, नग्न है, तपस्या में लगा है, शत्रु मित्र को एक समान मानता है। कोल्हू में पिल जाय तो उस पेलने वाले शत्रु पर द्वेष भाव नहीं करता है, वह अपने अन्तर में भाव बनाता है कि मैं साधु हू, मुझे रागद्वेष न करना चाहिए, हमें मोक्षमार्ग में लगना है, हमारा कर्तव्य समता से रहना है, इतने उच्च विचार करके भी किसी प्रकार का मिथ्यात्व अन्तर में रहा हुआ रह सकता है। अब सोचिए कि इतनी बड़ी साधना, शत्रु मित्र को समान मानने की भावना, कितनी भी बहुत मंद चारों कषाएँ क्रोध, मान, माया, लोभ हों तिस पर भी मिथ्यात्व लगा है तो वह क्या लगा है? इसको बताने को कोई शब्द नहीं हैं। मोटेरूप में बाकायदा कहो यदि कोई शब्द है तो यही शब्द है कि उस साधु ने भी जो अपने आपमें भाव बनाया है—समता करना चाहिए, मैं साधु हू, रागद्वेष करना मेरा कर्तव्य नहीं है, ऐसे जो उसने उच्च विचार बनाये उन विचारों मात्र अपने आत्मा को जगाता है। बस यही मिथ्यात्व है। सर्व प्रकार के परिणमनों से विविक्त चैतन्यस्वभावमात्र अपने आपका आत्मा ज्ञान में ग्रहीत नहीं हो पाता। शब्दों में यही कह सकते हैं।

मिथ्यात्व का जगत् में एकछत्र साम्राज्य—अब जानिए कि इस मिथ्यात्व का इस जीव लोक पर कितना एकछत्र साम्राज्य चल रहा है। अनेक प्रयत्न करके एक मिथ्यात्वभाव को हटा लिया तो मनुष्यजन्म में बहुत अपूर्व काम किया समझो। धन, वैभव, इज्जत, पोजीशन सब मायारूप ही चीजें हैं जिनकी दृष्टि में, उनकी बुद्धि में तत्त्व कुछ भी हासिल न होगा। इसमें किस प्रकार का और कैसा फल मिलता है? यह वक्त गुजर जाने पर ही विदित होता है।

काम परिग्रह—मिथ्यात्व परिणाम पर जीवित रहने वाले शेष 13 परिग्रहों में से प्रथम अब वह परिग्रह कहते हैं, जो इन 13 परिग्रहों में से भी बड़ा अपना अव्वल नम्बर रखता है। वह परिग्रह है वेद याने कामवासना, कामसंस्कार। कामसंस्कार एक बहुत गन्दा परिणाम है। एक भजन है, उसकी टेक है—

काम नाम में देव लगाया किसने?
यह तो प्रधान उनमें हिंसक हैं जितने।

लोग कहते हैं ना कि कामदेव, अरहंतदेव, सिद्धदेव। तो कामदेव कहते हुए लाज नहीं आयी? काम जैसा गंदा विचार जो इस जीव को भव-भव में रुलाता और भटकाता है, स्वरूप से चिगाता है और अत्यन्त दुःसह क्लेश का पात्र बनाता है और उस काम नाम में देव लगा दिया। अरे ! यह काम तो अत्यन्त हिंसक है—

यह जीवरूप मछली पर संकट डाले।
जिनधर्म उदधिते बाहर फैंक निकाले।
नारीतन पल के कांटे पर लटकावे।
संभोग भाड़ में बारहि बार भुंजावे।

काम विभाव की हिंसकता—उक्त भजन का अंश मनोहर पद्यावली में है। इसमें बताया है कि कहार, ढीमर और कसाई आदि से भी अधिक हिंसक है काम। वे भी यद्यपि जीवों को मारने वाले होते हैं, बड़े हिंसक हैं, फिर भी काम को उनसे कम हिंसक न समझो। यह है काम की विशेषता। इस जीवरूपी मछली पर इस काम हिंसक ने संकट डाला है। क्या किया पाप कि जैनधर्म रूपी समुद्र से निकालकर इसे बाहर फैंक दिया। जो कामवासना से पीड़ित पुरुष है, वह जैनधर्म की उपासना क्या करेगा? नाम के लिए हम उसे जैन-जैन कई तो नाम के लिए तो कुछ भी कह लो, किन्तु इस काम के विकार ने जैनतत्त्व के विलासरूप इस जल से भरे हुए जिनधर्म समुद्र में से निकालकर बाहर फैंक दिया। फैंककर फिर क्या किया है कि परशरीर, स्त्रीशरीर और पुरुषशरीर ही हुई उसको एक जगह रोक देने की कीलें। उन कीलों में पिरो-पिरोकर इस जीव मछली को एक ठिकाने पर कील दिया और उस कांटे पर लटका दिया और फिर क्या किया इस काम ने कि यह संभोगरूप भाड़ में इसे बार-बार भूना, जैसे रौद्राशयी आग में मछली को डालकर भूनते हैं। ये विषयभोग पहिले तो बड़े सुहावने लगते हैं, पर अन्त में इनका फल कटुक होता है। ऐसे ये वेदविभावरूप परिग्रह इस आत्मतत्त्व में कहां हैं। फिर क्यों ये जगत् के जीव अपने स्वरूप से भ्रष्ट होकर इन बाह्य कुतत्त्वों की ओर लगे चले जा रहे हैं, यह वेदभाव परिग्रह है, इसके न होने से यह आत्मतत्त्व नीराग है, अब इसके बाद आत्मा के अन्य विशेषणों का वर्णन किया जाएगा।

तीन वेदविभावों का आत्मतत्त्व में अभाव—वेदविभाव नाम का परिग्रह तीन प्रकार का है—पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद। वेदभाव से जो कामवासना की जाति की अपेक्षा तो तीनों में समानता है, किन्तु विषयभेद से ये तीन प्रकार के हैं। स्त्री के साथ विषयाभिलाषा का नाम पुरुषवेद है। पुरुष के साथ विषयाभिलाषा का नाम स्त्रीवेद है और दोनों विषयाभिलाषाओं का नाम नपुंसकवेद है। यह आभ्यन्तर परिग्रह की बात चल रही है। इस जीव के प्रदेश के भीतर कौन-कौनसी पकड़े ऐसी हैं कि जिन पकड़ो के कारण से प्रभु से मिलन नहीं हो

पाता। परिग्रह कहो अथवा पकड़ कहो, दोनों का एक मतलब है। परिग्रह शब्द संस्कृत का है और पकड़ शब्द हिन्दी का है, यह वेद नोकषाय परिग्रह आत्मतत्त्व के नहीं है।

आत्मतत्त्व में क्रोधपरिग्रह का अभाव—इसके बाद परिग्रह कहा जा रहा है क्रोध, मान, माया, लोभ। क्रोधकषाय जीव का परिग्रह है। यह जीव अपने क्रोध को ग्रहण करता है। जो क्रोध करता हो, सो मैं हू। क्रोध करने में अपनी चतुराई मानना, क्रोध को भजाने में अपना कर्तव्य जानना, ये सब विडम्बनाएं क्रोधकषाय का परिग्रह करने से है। ज्ञानी जीव के तो क्रोध कषाय होते हुए भी यह क्रोध मैं नहीं हू, परभाव है, इससे मेरा हित नहीं है, मैं क्रोधरहित शांतस्वभावी हू—ऐसी प्रतीति रहती है, जबकि अज्ञानी जीव को क्रोध में हित जंचता है, चाहे उसके फल में भावी काल में बड़े संकट भोगने पड़े और भोगना ही पड़ता है। कल की ही एक घटना है कि मेहतर लोगों में दंगा हो गया। एक मेहतर भाई एक आदमी के पेट में चक्कू मारकर भाग गया। क्रोध उससे नहीं सहा गया। अब उसकी कितनी दुर्गति होगी। जो-जो भी बात हो तो भी उसे भावी कष्ट दिखाई देते ही नहीं है। क्रोध के समय तो केवल यही उसे जंचता है कि मैं अमुक का विनाश करूं। अमुक का नाश हो जाए तो उसकी भलाई है।

आत्मतत्त्व में मानपरिग्रह का अभाव—मानकषाय अहंकार परिणाम का कर्ता जो कुछ हू, सो मैं हू, अन्य लोग तुच्छ हैं, मैं इनका सिरताज हू, इस प्रकार की भावना से मान परिणाम बनता है। मान परिणाम के फल में सब जीवों के द्वारा अपमान होता है। भले ही कोई किसी पोजीशन के कारण से मुख पर न कह सके, पर सब लोग आपस में बतलाते है कि अमुक बड़ा मानी है। मानी पुरुष का मान सांसारिक मायने में भी तो निभता नहीं है और आत्मस्वरूप के दर्शन करने में कषायें तो सभी बाधक है, किन्तु यह मानकषाय मालूम होता है कि अधिक बाधक है। जिसको परभावों में, परपदार्थों में अहंकार लगा हुआ है, वह पुरुष आत्मस्वरूप के दर्शन का कैसे पात्र हो सकता है?

आत्मतत्त्व में मायापरिग्रहों का अभाव—मायाकषाय छल कपट करने को कहते है। माया की मां है तृष्णा। किसी वस्तुविषयक तृष्णा होगी या किसी पोजीशन सम्बन्धी तृष्णा होगी तो मायाचार करना पड़ता है। जिसके तृष्णा नहीं है, वह मायाचार क्यों करेगा? छल कपट करने वाले का हृदय इतना टेढ़ा होता है कि उसमें धर्म जैसी सीधी बात का प्रवेश नहीं हो सकता है। जैसे माला की गुरिया में यदि टेढ़ा छेद हो जाए तो माला का सूत उसमें पिरोया नहीं जा सकता। ऐसे ही जिसका हृदय ऐसा वक्र है कि मन में कुछ है, वचन से कुछ बोलता है, शरीर की चेष्टा कुछ है— ऐसा पुरुष बड़ा भयंकर होता है। मायावियों में बहुत बड़ा धोखा खाना पड़ता है। ऐसे छल-कपट वाले मायावियों के हृदय में धर्म की बात प्रवेश नहीं कर सकती है और फिर ये मायावी पुरुष भी अपनी माया की पकड़ रखता है।

माया में आत्मदर्शी का अभाव—क्रोधकषाय तो उत्पन्न हुई, चली गयी। ऐसी ही मान की बात है, पर ये मायाकषाय तो 24 घण्टे भयभीत बनाए रहते है और कुछ न कुछ अपने चित्त में कल्पना उठाती रहती है। माया की पकड़ संसार की जकड़ है। माया परिग्रह में यह आत्मदर्शन नहीं हो सकता। यह आत्मतत्त्व सब कषायों से परे है।

आत्मतत्त्व में लोभपरिग्रह का अभाव—लोभकषाय भी विचित्र परिग्रह है। है कुछ नहीं अपना, बाह्यपदार्थ पुण्य के उदय के फल है। जब आना है तो आते हैं, जब नहीं आना है तो नहीं आते हैं। जब तक रहते हैं तो हैं, जब नहीं हैं तब नहीं हैं। जिनसे रञ्च सम्बन्ध नहीं है, ऐसे ये धन, वैभव, मकान, परिजन इन सबमें लोभ परिणाम होना, उनको अपनाने की बुद्धि करना, संचय का ख्याल बनाना—ये सब है लोभ परिग्रह। कहते भी हैं कि *लोभ पाप का बाप बखाना* । लोभी पुरुष कुछ भी कर्तव्य अकर्तव्य न गिनकर जैसी चाहे वृत्ति करने को उतारू हो जाता है।

आत्मतत्त्व में हास्य परिग्रह का अभाव—एक हास्य भी परिग्रह है, किसी की चेष्टा पर अपने आपमें हंसी लाना अथवा किसी का मजाक करना दिल्लगी उड़ाना यह हास्य परिग्रह है। हास्य परिग्रह की पकड़ में भी प्रभुदर्शन की पात्रता नहीं रहती। जिस जीव को अपने आपमें उठे अपने गौरव का भाव होता और दूसरे जीवों में ये मूढ़ हैं ऐसा परिणाम हो तब वह हंसी मजाक कर सकता है। तो यह हास्य नामक परिग्रह भी इस शुद्ध आत्मतत्त्व के नहीं है।

आत्मतत्त्व में रतिपरिग्रह का अभाव—एक रति परिग्रह होता है। किसी भी बाह्य पदार्थ को इष्ट मानकर उसमें प्रेम रखना रति परिग्रह है। इस जगत में इस आत्मा का इष्ट कौन पदार्थ है, खूब ध्यान लगाकर देख लो। मोहवश जो पदार्थ इष्ट जंचते हैं, कोई मनमुटाव होने पर अथवा मोह न रहने पर वह पदार्थ फिर इष्ट नहीं रहता। जो इष्ट है उन ही के कारण इस जीव पर संकट आया करते हैं। जो इष्ट नहीं है उन पदार्थों के कारण संकट नहीं आते। जितने बंधन हैं वे इष्ट पदार्थ के कारण हैं। इष्ट का व्यामोह एक परिग्रह है। यह रति नाम का परिग्रह इस शुद्ध अंतस्तत्त्व में नहीं होता। यहाँ चर्चा चल रही है कि मैं जीव हू क्या और बन क्या गया हू? अपने जीव का सहजस्वरूप जो अपने सत्त्व के कारण है, ईमानदारी का रूप है वह तो है शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप, ज्ञानभाव और आनन्दभाव, इस ही का नाम आत्मा है। ऐसा यह एक विलक्षण पदार्थ है कि जिसमें ज्ञान और आनन्दस्वभाव पड़ा हुआ है। ऐसे ज्ञानानन्दस्वभाव की आत्मतत्त्व में रति नामक परिग्रह नहीं है।

आत्मतत्त्व में अरतिपरिग्रह का अभाव—अरतिपरिग्रह अनिष्ट पदार्थ में अप्रीति होना, द्वेष का भाव जगना सो अरतिपरिग्रह है। ये सभी कषाय राग और द्वेष इन दो में शामिल हो जाते हैं। राग अलग से परिणाम नहीं है, द्वेष अलग से परिणाम नहीं है, किन्तु क्रोध, मान, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये तो हैं द्वेषरूप परिणाम। माया, लोभ, हास्य, रति, पुरुष वेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद ये है रागरूप परिणाम। अरति भाव तब होता है जब इष्ट विषय में कोई विघ्न समझा जाता है। तो उस विघ्न के निमित्तभूत पदार्थों से द्वेष हो जाता है। द्वेष की तीव्रता में यह पर के विनाश करने का यत्न करता है। वैसे वहाँ कुछ विवेक नहीं रहता। यहाँ तक कि चेतन का विनाश करना सोचते हैं सो तो उसकी प्रकृति है ही, किन्तु अचेतन का भी विनाश सोचते हैं। बरसात के दिनों में चूल्हे में यदि आग न सुलगे और आध घंटे से हैरान हो रहे हों तो कहो चूल्हे को भी फोड़ दें, ऐसा भी द्वेष हो जाता है। हालांकि चूल्हा कोई जानदार पदार्थ नहीं है पर द्वेष परिणाम जगने पर यह इच्छा होती है कि जो मेरे इष्ट पदार्थों में विघ्नरूप होता है उसका मैं विनाश करूं। जीव का स्वभाव स्वयं ही शांतरूप है। इसे आनन्द शांति पाने के लिए कुछ नई तरकीब करना ही नहीं है। चीज न हो तो उसका यत्न करें, पर

आनन्द ही का नाम तो आत्मा है। आनन्द के लिए क्या कोशिश करना? पर अज्ञानवश, भ्रमवश अनादि से विपरीत जो चेष्टाएं कर डाली हैं उन चेष्टावों को दूर करना है। आनन्द अपना अपने आप है।

आत्मतत्त्व में शोकपरिग्रह का अभाव—एक शोक परिग्रह होता है, रंज करना, इष्ट वियोग हो गया अब शोक में पड़े हुए हैं। यह शोक परिग्रह है। कितने ही लोग तो शान समझते हैं शोक करके। घर में कोई गुजर जाय, जैसे मान लो, पति गुजर जाता है तो अनेक स्त्रियां तीन चार माह तक मंदिर नहीं आती। वे इसमें अपनी शान समझती हैं कि ऐसा ही करना हमारा काम है। चाहे उनके चित्त में इतनी स्पीड का शोक न हो लेकिन लोक में अपनी पोजीशन रखना है सो मंदिर नहीं आती हैं। इसमें अपनी शान मानती है। मगर जो जितना अधिक शोक में पड़ता है वह उतना अधिक मिथ्यात्व को पुष्ट करता है। जब संसार के समस्त पदार्थ अत्यन्त भिन्न हैं तो उनके ज्ञाताद्रष्टा रहने में बुद्धिमानी है या उनका शोक करने और मोह मिथ्यात्व बढ़ाने में बुद्धिमानी है।

आत्मतत्त्व में भयपरिग्रह का अभाव—एक भय नाम का परिग्रह है। कोई लोग कहते हैं कि इस जीव के आगे पीछे दो शैतान लगे हुए हैं। वे दो शैतान कौन हैं? स्नेह और भय। एक शैतान तो आगे चलता है और एक शैतान पीछे चलता है। अच्छा बता सकते हो कि दो शैतानों में से आगे चलने वाले शैतान का नाम क्या हो सकता है? भय ! नहीं स्नेह। स्नेह की गति आंखों के आगे होती है और भय की गति पीठ के ऊपर होती है। उदाहरण के लिए किसी मित्र से स्नेह करें तो सब आंखों के आगे सुझाव रहता कि तब राग बढ़ेगा। आंखों के आगे यदि कोई चीज गिर जाय और जान रहे हैं तो उसको भय न सतायेगा किन्तु पीछे कोई चीज गिर जाय तो उसका भय लगेगा। चोर लोग चोरी करके कहीं जा रहे हों तो आंखों के आगे सब दिखता है, भय आंखों के आगे नहीं छाता, किन्तु पीछे कहीं एक पत्ता भी खुरक जाय तो उनके भय आ जाता है। तो यह भय का शैतान पीछे लगा हुआ है और स्नेह का शैतान आगे खचोर रहा है। भय भी एक परिग्रह है। यह जीव भय को जकड़े हुए है। भय को न जकड़े होता तो भयरहित शुद्ध ज्ञानस्वभाव अपने आपको इसे विदित रहता। यह भय परिग्रह भी इस शुद्ध अंतस्तत्त्व में नहीं है।

आत्मतत्त्व में जुगुप्सा परिग्रह का अभाव—एक परिग्रह है घृणा का, यह भीतरी परिग्रह की बात चल रही है। ऐसे कौनसे भारों की पकड़ यह जीव रखता है जिस पकड़ में प्रभु का दर्शन नहीं हो पाता है? दूसरे जीवों को देखकर घृणा करना सो जुगुप्सा नामक परिग्रह है। जुगुप्सा करते समय इस जीव को भान नहीं रहता कि इसका स्वरूप मेरी ही तरह शुद्ध ज्ञानानन्द का है अथवा जैसी प्रभुता ऐश्वर्य मेरे अंतस्तत्त्व में फैली है ऐसी ही प्रभुता इस जीव में भी पड़ी है, यह भान नहीं रहता तब दूसरे जीवों से ग्लानि का परिणाम रहता है। यह घृणा का परिग्रह हुआ है। ऐसे ये 14 प्रकार के परिग्रह शुद्ध अंतस्तत्त्व में नहीं हैं। इस कारण यह आत्मा नीराग है।

अपना नीराग स्वभाव—भैया ! बाह्य परिग्रहों के निषेध की चर्चा यहाँ नहीं चल रही है, वे तो प्रकट जुदे हैं, और बाह्यपदार्थों की पकड़ भी कोई नहीं कर सकता। जो भी मोही जीव हैं, परिग्रही जन हैं वे अपने आपके अन्तर की पकड़ रखते हैं विभावों की। यहाँ तक नीराग विशेषण के वर्णन में यह बताया है कि इस आत्मतत्त्व में आभ्यंतर परिग्रह नहीं है। यह चर्चा किसी दूसरे की नहीं की जा रही है, यह हमारी और आपकी चर्चा है।

इसको सुनते हुए अपने आपमें घटित करना है कि ओह ऐसा मैं हू। अपना यथार्थ स्वरूप पहिचाना है जिसने, उसके मोह की यह विपदा दूर हुई। बाह्य परिग्रहों की कल्पना करके जो अन्तर में भार बढ़ाया है उस भार से रहित शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप का अनुभव जगे—इस प्रयोजन के लिए यह आत्मतत्त्व की चर्चा की जा रही है।

आत्मतत्त्व की निर्दोषता—यह आत्मतत्त्व निर्दोष है। इसका तो एक ज्ञान ही पवित्र शरीर है। ज्ञान के सिवाय इस आत्मा को और क्या कहा जायेगा? किसे आत्मा बतायेंगे। ज्ञान ही एक असाधारण लक्षण आत्मतत्त्व का है। सहज ज्ञानमय यह आत्मा है। केवल ज्ञातृत्व में दोष की बात ही कहां है? दोष तो अवगुणों को कहा जाता है। जितने विकार हैं वे सब दोष हैं। अरहंतदेव में जिन 18 प्रकार के दोषों का अभाव बताया है वे सब 18 दोष आत्मस्वरूप में नहीं पड़े हैं। संसार अवस्था में यदि दोषरूप स्वभाव बन जाता या होता तो जीव कभी भी दोषों से मुक्त न हो सकता, ये दोष परभाव हैं, औपाधिक हैं, आत्मस्वरूप नहीं हैं।

सहजज्ञानस्वभाव की निर्दोषता—मेरा यह सहजज्ञान शरीर कैसा है कि समस्त पापमल के कलंकों को, कीचड़ों को धोने में समर्थ है। जितना भी बोझ लदा है इस जीव पर विभावों का, विकारों का वह सब बोझ विकार एक शुद्ध सहजज्ञानस्वरूप का अनुभव करने पर सब गल जाता है। सारे विकार सहजज्ञानस्वरूप से च्युत बने रहने में इकट्ठे होते हैं। सर्वकलंकों को धो ही डालने में समर्थ यह सहजज्ञान शरीर है। जिसका दर्शन बाह्यविकल्पों के परित्याग के उपाय द्वारा अपने आपमें सहज विराजमान् वीतरागतारूप आनन्दरस में मग्न होने पर प्रकट होता हैं। मैं तो अपने सहज अवस्थारूप हू, सहजस्वभावरूप हू, इस प्रकार के सहजस्वभावी आत्मतत्त्व के दोष का तो कोई काम नहीं है।

स्वरूप की दोषविविक्तता—कोई भी पदार्थ अपने स्वरूप से अपने आपमें दोषी नहीं है। दोष जो भी आते हैं, वे किसी पर-उपाधि को पाकर आते हैं। वस्तु तो अपने स्वरूपमात्र है। ऐसे अपने अन्तर के ज्ञानस्वभाव को पकड़ सके कोई कि मैं ज्ञानस्वभावमात्र हू, केवल ज्ञाता रहना मेरा कार्य है। इसके अतिरिक्त जो कुछ होता है, वह मेरे स्वभाव से उठकर नहीं होता है, पर-उपाधि का निमित्त पाकर यह हुआ करता है। इस जीव का जन्म तो आत्मा के नहीं होता है, बुढ़ापा, मरण, क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, विषाद, चिंता, रोग, शोक, आश्चर्य आदिक जितनी भी गड़बड़ियां हैं—ये इस आत्मस्वभाव में नहीं हैं।

अपूर्व प्रज्ञाबल—देखिए, कितना बड़ा विवेक बल लगाना पड़ेगा अपने आपके सत्यस्वरूप के परिचय के लिए कि छा रहा है इस पर यह सब दोष समूह, फिर भी उन दोषों को चीर-फाड़कर उनमें न रुककर अन्तर में पहुंचकर ज्ञानानन्दस्वभावी सहजशुद्ध आत्मतत्त्व को जानना है। जैसे कि एक्सरा लेने वाला यन्त्र मनुष्य के चर्म, खून आदि की फोटो न लेकर बहुत भीतर बसने वाली हड्डी का भी चित्र लिया करता है, यह उसमें विशेषता है। ऐसी ही इस ज्ञान की इतनी तीक्ष्ण गति है कि जो ज्ञान जिस तत्त्व को जानने के लिए उद्यत हुआ है, वह रास्ते में आए हुए सभी पदार्थों में न अटक कर उन्हें पार करके अपने लक्ष्यभूत को जान लेता है।

ज्ञान द्वारा ज्ञान के ज्ञान में अव्यवधान—यह ज्ञान बाहर से नहीं आता है, जिसे जानना है, वह अन्तर में है और जो जानेगा, वह भी इस अन्तर में है। इसलिए अन्तर का ज्ञानगुण अन्तर के ज्ञानस्वरूप को जाने तो इसमें पार करने की बात ही क्या रही? किसे पार करना है? बीच में कोई व्यवधान है ही नहीं, बल्कि

रुकावट होनी चाहिए बाहरी पदार्थों के जानने में, क्योंकि ज्ञान का स्थान तो आत्मा के अन्तर में है। यह अपने अन्तर के स्थान को छोड़कर बाहर भाग रहा है तो बाह्यवस्तुओं की जानकारी कठिन होनी चाहिए, क्योंकि उसमें बाह्य यत्न करना होगा। अपने आपके स्वरूप की बात जानने में इस ज्ञान को क्या कठिनाई हुई? अनादिकालीन मोहवश इस जीव को अपनी बात जानना कठिन हो रहा है, पर की बात जानना इसको सुगम हो रहा है। इस स्थिति में भी वास्तव में वह पर को नहीं जानता, पर पर को विषयमात्र करके अपने आपके प्रदेश में ज्ञानगुण का परिणमन करता है। यदि इस मर्म का पता हो तो यह ज्ञानी हो जाए। इस मर्म से अनभिज्ञ यह जीव यही जानता है कि मैं बाह्यपदार्थों को जानता हू और इनसे ही सुख भोगता हू। ये समस्त प्रकार के दोष और मिथ्या धारणायें व विकार इस जीव के नहीं हैं। यह तो सहज ज्ञानशरीर मात्र है। इस प्रकार यह शुद्ध आत्मतत्त्व निर्दोष है।

आत्मा के निर्दोषत्व का उपसंहार—आत्मा निर्दोष है। इस प्रकरण में आत्मतत्त्व के सहजतत्त्व का विवरण किया जा रहा है कि यह सहज ज्ञान-शरीरी है। उस सहजज्ञान के स्वरूप में सहजअवस्था है। यहाँ सहजअवस्था से प्रयोजन शुद्ध परिणमन का नहीं है, किन्तु ज्ञानस्वभाव के सत्त्व बने रहने के लिए जो वर्तना चाहिए, वह सहजअवस्था है। वह सहजअवस्था वीतराग आनन्द समुद्र के बीच स्फुटित होती है। ऐसी सहजअवस्थात्मक सहजज्ञानमय होने के कारण अन्य किसी परतत्त्व में इसकी गुंजाइश नहीं है, इसी कारण यह आत्मा निर्दोष है।

परिच्छेदकत्व तथा निर्मूढ़त्व—अब यह आत्मा निर्मूढ़ है, इस ही विषय का वर्णन किया जा रहा है। सहजनिश्चयनय की दृष्टि करके देखा जाय तो यह आत्मा सहजचतुष्टयात्मक है। जैसे शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से भगवान् अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य करि के सहित हैं तो सहजनिश्चयनय से अर्थात् परमशुद्ध निश्चयनय से देखा जाए तो यह आत्मतत्त्व सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजवीर्य और सहजसुख में तन्मय है। यह आत्मतत्त्व में पाये जाने वाले धर्म में से एक प्रधान धर्म है। ऐसे-ऐसे सहजधर्म इस आत्मतत्त्व में अनन्त हैं। उन धर्मों का आधारभूत जो निज निर्मूढ़ है। यहाँ पर द्रव्यों की जानकारी करता है, इस कारण निर्मूढ़ नहीं कहा गया है, किन्तु अपने ही सहजस्वभाव के परिच्छेदन में समर्थ है, इस कारण इसे निर्मूढ़ कहा है।

मोह का सीधा अर्थ—मूढ़ का अर्थ है मोही। अपने आपकी दृष्टि न हो पाये, इसे मोह कहते हैं। लोग जिन परवस्तुओं में मोह बताया करते हैं, उसका भी अर्थ यही है, बाह्यवस्तुओं का तो बहाना है, उसमें भी मोह का होना साक्षात् यही हुआ कि वह अपने स्वरूप को शुद्ध जैसा स्वयं है, नहीं जान पाया। किसी भी परवस्तु में आत्मीयता की बुद्धि करने से इस आत्मा में मोह पैदा होता है। इस मोह का साक्षात् कार्य पर को अपनाना नहीं है, पर अपने स्वरूप का परिचय नहीं हो पाना है। लोक में जिसे बेहोशी कहते हैं, उसका सीधा अर्थ कुछ बड़बड़ाना नहीं है, या अटपट क्रियायें करना नहीं है, किन्तु अपनी सुधी खो देना हैं। अपनी सुधी खो देने के परिणाम में अटपट बड़बड़ क्रियाएं होती हैं।

दृष्टांतपूर्वक मोह के अर्थ का प्रकाश—कोई यदि मदिरा पीकर सड़क पर चल रहा है और अटपट बकबक कर रहा है तो लोग कहते हैं कि इसे नशा है। उस नशे का कार्य क्या है? लोगों की जानकारी में सीधी बात

तो यह बैठती है कि नशे में अटपट बका जाता है। यदि कोई नशे में अटपट न बके, किन्तु वह बेसुध पड़ा रहे तो उसे नशे में कहेंगे या नहीं? वह भी नशा है। नशे का वह कार्य बताओ, जो हर जगह कहा जा सके। वह कार्य है अपनी सुधी खो देना। अटपट बक रहा है तो वहाँ भी सुधी खोए हुए है और कहीं मरा सा पड़ा है तो वहाँ भी सुधी खोए हुए है। जैसे नशे का कार्य है अपनी सुध खो देना, इसी प्रकार मोह का कार्य है अपनी सुधी खो देना। अपनी सुधी खो देने के परिणाम में कोई जीव परिजनों से रागद्वेष मोह करता है, कोई परिजनों से रागद्वेष मोह नहीं कर पाता, फिर भी अपने ही आपके पर्याय में सुधी खोए हुए कुछ से कुछ अनुभवन करता है, जैसे एकेन्द्रिय जीव। उनके कहां कुटुम्ब है और कुटुम्ब में वे प्रेम कहां करते हैं? फिर भी उनमें मोह का कोई अर्थ नहीं है। मोह का यही एक अर्थ है कि अपनी सुधी खो दी, लेकिन यह आत्मतत्त्व अपने आपका जो सहजस्वरूप है, उस सहजस्वरूप के परिच्छेदन में सहजरूप से सहज समर्थ है, इसलिए यह आत्मतत्त्व निर्मूढ़ है।

पदार्थों की गुणपर्यायात्मकता—पदार्थ गुणपर्यायात्मक होते हैं। द्रव्य का लक्षण भी सूत्रजी में यह बताया है कि ''गुणपर्ययवत् द्रव्यम्'' याने आत्मा भी एक द्रव्य है, यह आत्मा भी गुणपर्यायवान् है, उन गुणपर्यायों में से पर्याय का परिचय तो इस जीव को लगा है, शीघ्र हो जाता है, किन्तु पर्यायों की स्रोतभूत जो शक्ति है। जैसे पूछा जाए कि आखिर यह परिणमन किस शक्ति का है? तो समाधान में जिसका लक्ष्य बना, वह गुण कहलाता है। जैसे पुद्गल में हरा, पीला, नीला आदि अनेक रंग होते हैं और एक ही पुद्गल कोई ले लो, जो रंग बदलता है। जैसे आम है, जब वह फूल में से निकलने को होता है, तब वह काला होता है और जब कुछ बढ़ता है तो वह नीला रूप रखता है तथा और बढ़ने पर हरा रूप हो जाता है, यह हरा रूप उन दोनों रूपों में कुछ देर तक टिका रहता है; फिर पकने पर पीला लगता है और कोई-कोई तो विशेष पकाव पर लाल रूप रख लेता है और जब सड़ जाता है तो धीरे-धीरे वे रंग सब दूर होकर एक सफेद सा रूप रख लेता है। एक आम जो जीवन में इतने रंग बदलता है तो जो भी व्यक्त मालूम पड़ा है हरा, पीला वगैरह, वह तो है रूप पर्यायरूप परिणमन, क्योंकि परिणमन सदा नहीं रहता है। अब इतनी बदल होने पर भी जब यह पूछा जाए कि बदलता रहता कौन है? रूपपरिणमन नहीं बदलता रहता, किन्तु रूपशक्ति अन्य-अन्य पर्यायों में होने रूप बदलती रहती है। यह परिवर्तन रूपशक्ति का हुआ है। यह रूपशक्ति काली अवस्था में, नीली अवस्था में, सर्वअवस्थाओं में एकरूप से अन्त:प्रकाशमान् है, वह रूपशक्ति कुछ हरेरूप हो गई, अब वह रूपशक्ति पीलेरूप हो गयी। ये हरे पीले आदिक रंग तो परिणमन हैं, उन परिणमनों की आधारभूत रूपशक्ति गुण है। इसी प्रकार पुद्गल में अनन्तपरिणमन हैं और उन परिणमनों के आधारभूत अनन्तशक्तियां हैं।

शाश्वत् ज्ञानगुण—ऐसा ही जीवपदार्थ में विश्वास होना, जानकारी होना आदिक अनेक परिणमन चलते हैं। जैसे एक जानकारी का परिणमन देखो कि अभी पुस्तक की बात जान रहे हैं तो थोड़ी देर बाद घर की बात जान रहे होंगे तो ये जानकारियां बदलती रहती हैं। अभी कुछ जानकारी है, बाद में और कुछ जानकारी हो तो ये जानकारियां, ये सब परिणमन हैं, विनाशीक हैं, मिटती हैं, नई होती हैं, पर ये सब जानकारियां जो क्रम से अनन्त हो जाती हैं, ये सब एक ज्ञानशक्ति में पिरोए हुए माला के दाने की तरह हैं। ज्ञानशक्ति शाश्वत् है, उसही ज्ञानशक्ति का परिणमन इस पुस्तक की जानकारीरूप है तो उस ही ज्ञानशक्ति का परिणमन थोड़ी

देर बाद गृहस्थ कार्य की जानकारी रूप हुआ, इस ही ज्ञानशक्ति के परिणमन चल रहे हैं। वहाँ जो ज्ञानशक्ति है, उसको कहते हैं सहजज्ञान। जो परिणमता नहीं है, जो बदलता नहीं है, एकरूप रहता है, जब से आत्मा है तब से यह स्वभाव है। कब से है यह आत्मा? अनादिकाल से। तो यह ज्ञानस्वभाव भी अनादिकाल से है। जब तक आत्मा रहेगा तब तक यह रहेगा। कब तक आत्मा रहेगा? अनन्तकाल तक अर्थात् सदाकाल तक और तब तक यह सहजज्ञान बराबर रहेगा।

आत्मतत्त्व की सहजभावात्मकता—ऐसे सहज ज्ञानरूप इस ही प्रकार दर्शन के समस्त परिणमनों का आधारभूत सहज दर्शनरूप और सुख का आधारभूत सहजसुखरूप और शक्ति का आधारभूत सहजवीर्यरूप यह आत्मतत्त्व है, यही हमारा मर्म है, इससे आगे आत्मा में विकल्प मचाया जाता है, बस वहीं से विपदा शुरू हो जाती है। मैं अमुक नाम वाला हू, ऐसे सम्बन्ध वाला हू, कहां है ये सर्वविकल्प सम्बन्ध इस आत्मतत्त्व में? यह तो सहजशक्तिस्वरूप है। इस मर्म का जिन्हें परिचय नहीं है, वे पुरुष ही संसार में जन्म-मरण बढ़ाते रहते हैं।

आत्मा का परिच्छेदन धर्म—भैया ! धर्मपालन के लिए क्या करना है? अपने ही भीतर में प्रवेश करके उस सहजतत्त्व में रमना है, आत्मा में लगना है, बस यही धर्म करना है, सब श्रमों को दूर करना है, यही धर्म तो करना है। यह आत्मतत्त्व परमधर्म का आधारभूत जो निज परमात्मतत्त्व है, उस सहजस्वरूप का परिच्छेदन करने में समर्थ है। जानना और परिच्छेदन दोनों का यद्यपि एक ही अर्थ है, पर विधि में अन्तर है। जैसे इंगलिश भाषा में इसका ज्यादा ख्याल किया जाता है, एक ही अर्थ के कई मायने दिए हैं। जैसे देखने के सी, परसीव और लुक आदि जितने वर्ब हैं, उन सबका अर्थ सूक्ष्मदृष्टि से जुदा-जुदा है। किसी का अर्थ किसी से मिलता नहीं है। इसी तरह हिन्दी और संस्कृत के शब्दों में भी जितने शब्द हैं, उन समस्त शब्दों का अर्थ तो सूक्ष्मदृष्टि से बिल्कुल जुदा-जुदा है। स्थूल दृष्टि से एक ही बात कह सकते हैं।

शब्दभेद में अर्थभेद—जैसे जिसको स्त्री कह दिया, किसी को भार्या कह दिया, कलत्र कह दिया, दार कह दिया, महिला कह दिया, अबला कह दिया—ये सब स्त्री के नाम हैं, पर सबके अर्थ में अन्तर है। स्त्री उसे कहते हैं जो गर्भ धारण करे अथवा गर्भधारण के योग्य हो, यह स्त्री शब्द का अर्थ हुआ। भार्या—जो अपनी गृहस्थी का भरण-पोषण जिम्मेदारी के साथ कर सकने में समर्थ हो, उसका नाम भार्या है। कलत्र—कल मायने शरीर, पति का शरीर, पुत्र का शरीर, उन सब शरीरों की रक्षा करने में समर्थ हो। बच्चों को नहलाना, धुलाना, संभाल करना स्त्री करती है। बच्चों की संभाल करते हुए में उसका नाम स्त्री नहीं है, उसका नाम कलत्र है। जो भाइयों का दारण करा दे, अलग करा दे, उसका ही नाम दार है। तो यह शब्दभेद से भी भेद हुआ।

जैसे पुरुष, मानव, मनुष्य इत्यादि अनेक शब्द हैं, पर अर्थ जुदा ही जुदा है। पुरुष उसे कहते हैं जो आत्मा का स्वरूप है, स्वभाव है, उसकी साधना में अपनी हिम्मत लगाकर यत्नशील जो हो रहा हो, उसका नाम ही पुरुष है। मानव जो मनु की संतान हो अर्थात् जिसके पुरखे पहिले मनु आदिक कुलकर थे। जिसकी परम्परा से जो इस जड़ में रहता है, उसका ही नाम मानव है। मनुष्य—जो मन के द्वारा हित अहित का विवेक करने में समर्थ हो। कहने को तो एक ही आदमी को सब कुछ बातें कह डालते हैं, पर शब्दों के अर्थ न्यारे-न्यारें हैं।

जानन और परिच्छेदन में सूक्ष्मभेददृष्टि—ऐसा ही जानना और परिच्छेदन दोनों का मूलरूप से अर्थ एक है, फिर भी जानना तो मात्र एक विधिरूप काम है और परिच्छेदन अनेक को छोड़कर किसी एक को चुन लेना, उसका नाम है परिच्छेदन। जैसे थाली में चावल रखे हैं, यह अब भी जान रक्खा है कि ये चावल हैं और जिस समय बीन रहे हैं, उस समय भी जान रहे हैं कि यह चावल हैं, पर बीनते हुए की स्थिति में चावल के जानने का नाम परिच्छेदन है और सीधे थाली में पड़े हैं, उन्हें जानने का नाम ही जानना है। अनात्मतत्त्व के परिहारसहित आत्मतत्त्व में उपयोग पहुंचने का नाम परिच्छेदन है। यह आत्मतत्त्व निज परमधर्म के आधारभूत निजतत्त्व के परिच्छेदन में समर्थ है, इस कारण यह निर्मूढ़ है।

शुद्ध सद्भूतव्यवहारनय में आत्मा की निर्मूढ़ता—यह आत्मतत्त्व दूसरी प्रकार से निर्मूढ़ है, इस बात को भी समझाना है। अब तक जो भी निर्मूढ़ता बतायी है, वह सहजस्वरूप में बतायी है, किन्तु केवल शक्ति मात्र के रूप में ही निर्मूढ़ता नहीं है, किन्तु जगत् के समस्त द्रव्यगुणपर्यायों को एक ही समय में जानने में समर्थ जो निर्मल केवलज्ञान है, उस केवलज्ञान की अवस्था का भी इसमें स्वभाव पड़ा है, इस कारण यह निर्मूढ़ है। जैसे दीपक को प्रकाशक कहने में दो पद्धतियों से प्रकाश समझ में आता है, एक तो खुद ही खुद को प्रकाशमय बनाए हुए है, स्वयं प्रकाशस्वरूप है। इस पद्धति से वह दीपक प्रकाशक है और कमरे भर की सारी वस्तुएँ प्रकाश में आ गई, इस तरह भी प्रकाशक है। पहली पद्धति का प्रकाश निश्चयनय की दृष्टि से ही बताया गया है और दूसरी पद्धति का प्रकाश व्यवहारनय की दृष्टि से बताया गया है।

व्यवहार का उपकार—भैया ! व्यवहारनय असत्य नहीं होता, किन्तु पदार्थ में होने वाली उस एक ही बात को परपदार्थ का आश्रय करके वर्णन किया जाए तो वह व्यवहार हो जाता है। जैसे आप क्या करते हैं, इस समय क्या करते हैं? क्या दो काम कर रहे हैं, एक ही काम कर रहे हैं, उस एक काम को निश्चय की दृष्टि से देखेंगे तो यों कहेंगे कि आपके जो सहजज्ञानादिक स्वभाव हैं उन स्वभावों की वर्तना आप कर रहे हैं। आप अपने ही ज्ञानगुण का ज्ञानवृत्ति से परिणमन कर रहे हैं। ऐसी बात कहने पर कुछ समझ में नहीं आया होगा। नहीं समझ में आया तो लो हम बताते हैं, आप चौकी को जान रहे हैं, मंदिर को जान रहे हैं, इतने पुरुषों को जान रहे हैं, यह बात जल्दी समझ में आ गयी होगी, लेकिन यह कथन पर की अपेक्षा लेकर कहा गया है, इस कारण व्यवहार है। ज्ञानगुण का जो परिणमन हो रहा है उस परिणमन को ज्ञानगुण की ओर से कहेंगे तो वह कठिन लगेगा। वह निश्चयदृष्टि का वक्तव्य था पर वह झलका क्या, जानना क्या हुआ? वह झलक का रूप क्या था, इसको समझाने के लिए जब बाह्यपदार्थों का नाम लिया गया तो झट समझ में आ गया।

विकसित निर्मूढ़ता—इसी प्रकार आत्मतत्त्व की निर्मूढ़ता पहिली दृष्टि से तो सहज अवस्थात्मक सहजस्वरूप का परिच्छेदन करने में समर्थ है, ऐसा कहा गया था। अब आखिर वह सहज परिच्छेदन व्यवहारी जनों को तो समझ में आया। हुआ क्या वहाँ, सारे विश्व के समस्त पदार्थों की झलक बन गयी, जिसके नहीं बनी है उसमें भी उसकी सामर्थ्य है—ऐसा बताकर आत्मा की निर्मूढ़ता कही गयी है। इसमें उस सहजस्वभाव के शुद्धपरिणमन को दृष्टि में लेकर वर्णन है। वह केवलज्ञान परिणमन जो स्वभाव के अनुरूप विकसित हुआ है, आदि सहित है, किन्तु अंतरहित है। ऐसा केवलज्ञान सदाकाल तक रहेगा। केवलज्ञान का अभाव नहीं होता।

पर आदि तो होता है। जिस क्षण ज्ञानावरण का क्षय होता है उस क्षण में केवलज्ञान आया। अब उसके बाद अनन्त काल तक रहेगा। जितना प्रयोजन है उस प्रयोजन माफिक दृष्टि रखना है। सूक्ष्मदृष्टि से तो केवलज्ञान भी प्रतिसमय का एक-एक परिणमन है—तो एक क्षण को होता है, दूसरे क्षण में विलीन हो जाता है। पर दूसरे क्षण में केवलज्ञान ही नवीन होकर विलीन होता है और उन केवलज्ञानों में जो जानकारियां चलती हैं वे भी अत्यन्त पूर्ण समान चलती हैं। इस कारण स्थूलरूप से यह कहना युक्त है कि केवलज्ञान अनिधन है, ऐसा अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाव का जब वर्णन करने की दृष्टि रखते हैं तो यों वर्णन किया जायेगा कि लो यह केवलज्ञान, तीन लोक, तीन काल के समस्त चर अचर पदार्थ, समस्त द्रव्यगुणपर्याय इन सबको एक ही समय में जानने में समर्थ है, सहज निर्मल केवलज्ञान से युक्तता होने से यह आत्मतत्त्व निर्मूढ़ है।

आत्मा की निर्भयता—यह आत्मतत्त्व निर्भय है, भयरहित है। निर्भयता तब प्रकट होती है जब किसी जगह भय न रहने की जगह में आवास मिल जाय। एक बालक जो घर के द्वार से बाहर निकट खेल रहा है और पास से ही कोई भस्म लगाए हुए, विचित्र कपड़े पहिने हुए, सिर दाढ़ी के बाल रखाये हुए जा रहा हो तो वह बालक उसको देखकर डर जाता है और डर कर एकदम घर की ओर दौड़ता है और ज्यों ही दरवाजे के भीतर आया कि वह निर्भयता अनुभव करने लगता है। उस निर्भयता का आधार है भयरहित निज स्थान में पहुंच जाना। इस लोक में सर्वत्र भय ही भय है। इन सब भयों से बचने का उपाय एक यही है कि भयरहित जो निज शुद्ध अंतस्तत्त्व है उस शुद्ध अंतस्तत्त्व में जो कि अनुपम महान दुर्ग है उस दुर्ग में आवास हो जाय, वही जिसका घर बन जाय ऐसा आत्मा निर्भय होता है। अब इस ही विषय में और वर्णन चलेगा कि आखिर वह शुद्ध अंतस्तत्त्व कैसा निर्भय का स्थान है और केवल इतना ही नहीं कि निर्भयता का स्थान हो किन्तु निर्भयरूप से इस निर्भय स्थान में रहते हुए यह आत्मा जिनसे भय पा सकता है, उन सबका क्षय भी कर देता है, इस तरह से निर्भयता का वर्णन चलेगा।

आत्मा का निर्भय आवास स्थान—इस आत्मा का आवास ऐसे महान् दुर्ग में है जिस दुर्ग में समस्त पापरूप वीर और वैरी प्रवेश नहीं कर सकते, मैं उस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप हू जिस स्वरूप में विभाव कषायों का प्रवेश नहीं है। यद्यपि इस आत्मप्रदेश में ही इन विभाव बैरियों का जमाव है लेकिन स्वरूप में जमाव नहीं है। जैसे पानी गरम हो जाने पर यद्यपि गरमी पानी में है, किन्तु पानी के स्वरूप में गर्मी नहीं है। उस गरम पानी में भी गरमी की दृष्टि को छोड़कर स्वरूपदृष्टि की जाय तो वहाँ गरमी नहीं दिखती। यह शुद्ध अंतस्तत्त्व अपने सत्त्व के कारण अपने आपके सहज स्वभावमय यह आप समस्त कर्मबैरियों के प्रवेश से रहित है अथवा उसमें प्रवेश कठिन है। ऐसे शुद्ध अंतस्तत्त्वरूप महान् दुर्ग में निवास होने के कारण यह मैं आत्मा निर्भय हू।

भावरूप द्रव्य के भाव का कर्तृत्व—अब तक जो इस गाथा में वर्णन आया है वह आत्मा की विशेषता बताने वाला है। उस वर्णन से शिक्षा मात्र एक यह लेना है कि ऐसा शुद्ध आत्मा उपादेय है। जो पुरुष इस कारण समयसार की भावना में परिणत होते हैं वे संसार के संकटों से परे जो शुद्ध आत्मा है उसको प्राप्त करते हैं। यह आत्मा सर्वत्र केवल भाव बनाता है। इसके अतिरिक्त करता कुछ नहीं है। चाहे गृहस्थ हो, साधु हो, मिथ्यादृष्टि हो, कोई भी जीव हो प्रत्येक जीव अपना भाव भर करते हैं, इसके आगे और जो कुछ होता है वह निमित्त-नैमित्तिक भाव का परिणाम है, पर जीव केवल भाव ही करता है।

उत्तमभावरूप वर्तने की प्रेरणा—जैसे नन्हे बालक जब कोई खेल करते हैं, गुड्डा-गुड्डी का विवाह खेलते हैं तो उसमें पंगत करते हैं। पंगत में उनके पास दाम पैसा तो हैं नहीं, भोजन सामग्री भी कुछ नहीं है। तो वे कहीं से पत्ते तोड़ लायेंगे सो पत्तों को रोटी कहकर परोसेंगे। अरे वहाँ केवल भाव ही तो किया जा रहा है और कुछ नहीं किया जा सकता। भावों की वह पंगत है। तो जब भावों की ही पंगत है तो उन पत्तों को रोटी कह कर क्यों परोसे, उसे खाजा कहकर परोसे। भावों की ही बात है तो पत्थर के टुकड़ों को चना कहकर क्यों परोसे, उन्हें बूंदी कहकर परोसे और जो ऊंचे घराने के बालक हैं वे यदि ऐसी भावभीनी पंगति करें तो वे चना न सोच सकेंगे। वे बूंदी ही सोचेंगे। भावभरी बात में भावों को हल्का करना, भावों को बड़ा बनाना यह मात्र हो रहा है उन नन्हे बालकों में, इस ही प्रकार साक्षात् वैभव भी हो, घर भी है वहाँ पर भी ये सब जीव केवल भावों का ही परिणाम करते हैं, भावों के अतिरिक्त और कुछ नहीं करते।

अन्तस्तत्त्व की विविक्तता—यह आत्मा अमूर्त है। यह छूने से छुवा नहीं जा सकता। यह करेगा क्या दूसरी जगह? एक पुद्गल भी जो छुवा जा सकता है, रोका जा सकता है वह भी दूसरे पुद्गल में कुछ नहीं करता। जब बाहर में ये पुद्गल स्कंध भी अन्य पदार्थों में कुछ नहीं कर पाते तो यह अमूर्त ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व बाहर से क्या करे? ये जगत के जीव करने-करने के भाव में बीमार पड़े हुए हैं, कर कुछ नहीं सकते, किन्तु करने का परिणाम किया जा रहा है। मैंने ऐसा किया, मैं यों कर रहा हू, मैं यह कर दूंगा। केवल करने के अभिप्राय को लिए हुए दुःखी होता चला जाता है। प्रथम तो इस आत्मद्रव्य को ही देखो तो यह पर में कुछ नहीं करता। फिर इसका सारभूत जो शुद्ध अंतस्तत्त्व है उसको निरखो तो यह कुछ परिवर्तन भी नहीं करता, केवल अपने स्वरूपरूप वर्तता रहता है।

ज्ञायकस्वभाव की निष्पापता—यह कारणसमयसार जिसके सम्बन्ध में ये सब विशेषताएं बतायी गयी हैं, वह आदि अंत से रहित है, पापरहित है। देखो यह परमात्मतत्त्व निष्पाप है। यह तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है। इसमें द्वितीय किसी पदार्थ का सम्बन्ध ही नहीं है, अविनाशी है, महान् ज्ञान का पुञ्ज है। ऐसा ज्ञानस्वरूपमात्र मैं हू—इस भावना में परिणमते हुए जो कोई भी सर्व संकटों से परे आत्मसिद्धि को प्राप्त होता है, उसे अपने इस आत्मा का उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त हो जाता है। मोह से इस जीव पर बड़ा संकट छाया है। है तो अकेला, समस्त परद्रव्यों से न्यारा, पर अटपट ही चाहे जिस जीव को मान लेता है कि यह मेरा है, मेरे हितरूप है। यह एक बड़ा संकट छाया है। कुछ हो तुम्हारा या कुछ लाभ होता हो तो ये संकट न कहलाएँ, मगर लाभ रंच भी नहीं है, फिर भी अपना मानकर अपने ऊपर ही बोझ लादे जा रहे हैं। यहाँ किसी का कुछ नहीं है।

रुचि और पूजा—देखो कि जिसको चित्त में आदरपूर्वक धारण करते हो, पूजा तो उसकी ही कहलाती है। मुख से चाहे बोलने का ढंग यह बनाओ अथवा न बनाओ, पर चित्त में जिसका आदर है, उसकी ही पूजा है। चित्त में यदि इस वैभव का आदर है तो धर्म के प्रसंग में कितना ही व्यवहार किया जाए, पर आदर किसका है वहाँ? जिसका चित्त में भाव बना हो तो पूजा उसी की है। अपने आपको खोजिए कि मैं किसकी पूजा में बना रहता हू। यदि चित्त में धन-वैभव ही का चित्र बना रहता है, उसका ही शल्य रहता है, उसका ही ख्याल होता है तो यह समझिए कि धन-वैभव की पूजा कर रहे हैं। किसी परिजन इष्ट का ख्याल निरन्तर रहता है तो यह मानो कि हम उस इष्ट की पूजा कर रहे हैं। जैसे धन-वैभव के सञ्चय की धुनि रखने वाले लोग

अपनी आय के कारण कहीं कुछ नियम ले लेते हैं कि हम रोज दर्शन पूजन करेंगे और यदि नियम नहीं निभाया तो मेरे पाप का उदय आ सकता है, धन-वैभव में हानि हो जायेगी। इस भाव से वे दर्शन करने जाते हैं, इस तरह कि अब टाइम हो गया, लो करना पड़ेगा। ऐसी कुछ जबरदस्ती की सी बात मन में मानकर धर्म के लिए, दर्शन के लिए 10 मिनट समय निकालने में कष्ट होता, जबकि ज्ञानतत्त्व के रुचिया श्रावक को चूंकि उसे आदर है इस ज्ञानस्वरूपमात्र में मग्न रहने के लिए अन्तस्तत्त्व का, सो उसको जब परिजनों को पालना पड़ता है, किसी और अन्य-अन्य ग्राहकों से बात करनी पड़ती है तो भी उसमें आपत्ति ही मानता है।

ज्ञानी और अज्ञानी की रुचि—कोई दूकान पर अथवा व्यापार में जुटे रहने पर खुशी मानते हैं और धर्मकार्य में आपत्ति मानते हैं। जबकि ज्ञानीजीव धर्मकार्य में खुशी मानता है। उसके लिए सारा समय है और व्यापार आजीविका या परिजन पोषण इनके लिए जबरदस्ती समय निकालता है, करना पड़ता है। जिसके चित्त में आदर हो, पूजा उसी की कहलाती है। अपने आपके सहजस्वरूप का ही आदर रक्खू, उसकी ही भावना करू, बाह्य सब जीव परिपूर्ण हैं, अपने-अपने भाग्य को लिए हुए हैं, उन से मुझमें रंच भी कुछ नहीं आता है—ऐसा पक्का निर्णय पहिले किया जाए। ये सब हो रहे हैं अपने आप काम। सबके उदय हैं, सबके भविष्य हैं, उनमें मेरी कोई ऐसी करतूत नहीं है कि मेरे ही द्वारा होते हैं। इन बाहरी परिजन सम्बन्धी विकल्पों को त्यागकर जरा अपने ही आपका जो वास्तविक शरण है, रक्षक है, जिसकी दृष्टि बिना संसार के सब क्लेशों से छुटकारा नहीं पा सकते; वर्तमान काल में भी जिसकी दृष्टि के बिना शुद्ध आनन्द नहीं पा सकते हैं—ऐसे अपने आपमें बसे हुए इस चैतन्य महाप्रभु का आदर करो, भावना करो कि मैं इसको ही पूजता हू। इस शुद्ध अंतस्तत्त्व के पूजने का साधन चावल और फूल नहीं हैं, इसकी पूजा का तो साधन स्तवन या चिल्लाना नहीं है, किन्तु रागद्वेष को दूर करके समता परिणाम को अपना लेना, यह ही मात्र इस अन्तस्तत्त्व के पूजने का साधन है।

अन्तस्तत्त्व की अनाकुलरूपता—यह समयसार अनाकुल है, अपने स्वरूप से कभी च्युत नहीं होता। जन्ममरण, रोग आदि कुछ भी विकार इस आत्मतत्त्व में नहीं हैं, यह सहज निर्मल है, सहज सुखस्वरूप है। इस निज अन्तस्तत्त्व को समतारस से सदा पूजता हू। यह किसकी कथनी चल रही है? ऐसे भाव बिना यह सब वर्णन कुछ भी समझ में नहीं आ सकता। यह चर्चा चल रही है अपने आपमें विराजमान् परमात्मस्वरूप की, जिसके दर्शन से कल्याण होता है, सारी बाधाएं मिट जाती हैं। बाधाएं और कुछ हैं ही नहीं, यह मेरा है—ऐसी कल्पना ही बाधा है। है कुछ नहीं और मानते हैं कि मेरा है, यही तो संकट है। इस आत्मा का निज आत्मस्वरूप के अतिरिक्त क्या है भी कुछ? नहीं है। फिर भी यह मानते जाते हैं कि यह मेरा है, यही तो सब अपराध है। अपराध करने वाला तो स्वयं दु:खी होता है।

निरालम्ब का आलम्बन—इस आत्मतत्त्व में कोई वर्ण नहीं है और आकार भी नहीं है, यह सर्व अहितों से, विकारों से परे है, शाश्वत है। एक दो या अनेक किसी भी संख्या में आता नहीं है, रूप-रस-गन्ध-स्पर्श से रहित है, पृथ्वी जल आदिक सर्वपिण्डों से परे है—ऐसे निरालम्ब सबसे विविक्त शुद्ध ज्ञानस्वरूप में जो रति करता है, उसकी ही रुचि रखता है तो वह संसार के संकटों से दूर हो जाता है।

मोह का नाच—भैया, मगर मोह का ऐसा प्रबल नाच है कि जैसे 5-7 दिन की बासी रोटी झोले में रखने वाला भिखारी किसी के घर पर रोटी मांगने आया और उसे मालिक यह कहे कि तुझे मैं ताजी पूड़ियां दूंगा, तू इन बासी रोटियों को फेंक दे, तो उसे नहीं विश्वास होता है और न ही ऐसी हिम्मत बनती है कि वह उन बासी रोटियों का परित्याग कर दे। यों ही भव-भव के भोगे हुए जूठे, बासे इन पञ्चेन्द्रिय विषयों को अपनी कल्पना की झोली में रक्खे हुए यह संसारी भिखारी सुख मांगने जाता है, धर्मसाधन में, मंदिरों में, सत्संग अथवा अन्यत्र कहीं। उसे गुरुजन समझाते हैं कि तू इन जूठे बासे इन्द्रिय विषयों को अपनी कल्पना की झोली में से निकाल दे तो तुझको सत्य स्वाधीन निराकुल आनन्द देंगे, परन्तु इस मोही को न तो यह विश्वास ही होता है और न ही ऐसी हिम्मत जगती है कि मैं इन बाह्य-पदार्थों के मोह को तोड़ दूं और इस शाश्वत स्वाधीन आनन्द का लाभ लूं।

ऐश्वर्यस्मरण—यह परमात्मतत्त्व घट-घट में विराजमान् है। निधि न हो घर में तो गरीब कहलावे, पर घर में इतनी तो निधि पड़ी हुई है, लाखों की, करोड़ों की सम्पदा हीरा जवाहरात के रूप में। पर जिसे पता नहीं है कि मेरे घर में ये सब सम्पदा पड़ी हुई है तो वह तो दीन ही अपने को मानेगा। ऐसे ही यह जीव स्वयं तो है आनन्दनिधान परमात्मस्वरूप, पर इसकी खबर नहीं है और बाह्यविषयों में अपने हित की कल्पनाएं करता है तो यह तो दीन होता है, पर की आशा करता हुआ रुलेगा ही संसार में। इस परमात्मतत्त्व की मोहियों को खबर नहीं है।

अन्तस्तत्त्व की पवित्रता—यह अन्तस्तत्त्व पापरूपी वनों को छेद देने में कुल्हाड़े की तरह है। जहां जिस उपयोग में यह शुद्ध कारणसमयसार विराज रहा हो, वहाँ पाप का प्रवेश नहीं है, पवित्र वही है और जो ऐसे निज ज्ञायकस्वरूप की भावना में रहा करता है, उसका शरीर भी लोक में पवित्र माना गया है। शरीर कहीं पवित्र नहीं है, पर बड़े आफीसर के साथ रहने वाला चपरासी भी लोगों के द्वारा आदर पाता है। जब तक उस बड़े मन्त्री से उसका सम्बन्ध है। ऐसे ही ज्ञानभावनावान् आत्मदर्शी इस प्रभु के साथ जब तक शरीर का सम्बन्ध है, तब तक इस पवित्र अंतस्तत्त्व की संगति के कारण यह शरीर भी पवित्र माना जाता है और जब यह सम्बन्ध बिल्कुल ही छूट जाता है, तब शरीर में आदर सेवा पूजा का भाव नहीं रहता है।

अन्तस्तत्त्व की दृष्टि में स्वाधीनता—यह शुद्ध अंतस्तत्त्व निष्पाप है, परपदार्थों की परिणति से अत्यन्त दूर है अथवा परपदार्थों का निमित्त पाकर होने वाली आत्मा में जो विभावपरिणति है, उससे अत्यन्त दूर है। इसमें रागद्वेष सब शांत हैं, नष्ट हो गए हैं, सत्य सुख जल से भरपूर है—ऐसा यह समयसार जो काम-क्रोध-मान-माया-लोभ आदिक समस्त विकारों से परे है वह अंत:प्रकाशमान् हे समयसार ! मेरी रक्षा करो। भीतर की बात तो भीतर बनाई जा सकती है। जैसे आम चुनाव के समय में वोट लेने वाले बड़ा जोर देते हैं कि हमको वोट देनी पड़ेगी, पर वोट देते समय वह कितना स्वाधीन है कि चाहे कितना ही उसे कोई दबाये हो, पर जिसके लिए मन है, उसको वोट देने से कौन रोकता है? चाहे यहाँ कितनी भी परिस्थितियां ऐसी हों कि जिनका दबाव हो, फिर भी अपने आपमें ही शाश्वत् विराजमान् इस समयसार की दृष्टि करने चलो तो लड़ने वाले भाई बन्धु स्त्री आदिक इसमें क्या बाधा डाल सकते हैं? यह स्वाधीन कार्य है। हे समयसार ! मेरी रक्षा करो।

ब्रह्मस्वभाव—हे निजनाथ ! यह मैं उपयोग लायक नहीं हू कि मैं तुम्हें इतना उठा सकूँ और आदर कर सकूँ, किन्तु तुम्हारा तो स्वभाव ही ऐसा है कि तुम वर्द्धनशील हो, ब्रह्म कहलाते हो। इस अपने ब्रह्मस्वरूप का भी तो ध्यान करो। मुझमें बल आएगा कहां से? पहिले आप दर्शन तो दें, फिर इस उपयोग में वह बल प्रगट होगा कि आपको इस ज्ञानदृष्टि से ओझल न कर सकूंगा। हे समयसार ! तुम इस जगत् में जयवंत प्रवर्तो। जिस समयसार में किसी भी प्रकार का विकल्प नहीं है, जो परभाव से ही भिन्न है, परिपूर्ण है, आदि अंत से रहित है, जिसके अन्तर में कोई संकल्प विकल्पजाल नहीं है—ऐसा यह शुद्ध अंतस्तत्त्व प्रत्येक आत्मा में विराजमान् है। यह मैं परभाव से भिन्न हू, रागद्वेषादिक से परे हू। रागादिक से परे तो ये मति श्रुतज्ञान भी हैं, सो परभाव भिन्न हू, इतना ही विवेक नहीं है, किन्तु यह मैं परिपूर्ण भी हू, मति-श्रुतज्ञान तो अपूर्ण हैं, मैं मति-श्रुतज्ञान के खण्डविकल्प से भी परे हू। यदि इतने में केवलज्ञान कहे कि लो यह मैं हू आत्मस्वभाव तो ज्ञानी पुरुष उस शाश्वत् स्वभाव की रुचि के केवलज्ञान को भी कहने लगता है कि तुम हो तो हितरूप, पर मेरे स्वरूप नहीं हो, स्वरूप के अनुरूप विकास हो। यदि मेरे स्वरूप होते तो मेरी अनन्तकाल तक ही खबर क्यों नहीं ली? तुम आदिकरि सहित हो, यह मैं ज्ञायकस्वभाव तो आदिअन्तकरिरहित हू।

निर्विकल्प अन्तस्तत्त्व की शरणता—लो यह एक चैतन्यस्वभाव मैं हू। अरे, इसमें एक भी हम कैसे बोलें? तब एक बोला जाता है, जब अन्य संख्याओं को मना किया जाए। एक बोलना भी विकल्प बिना नहीं होता। ज्ञानानुभव में रत अध्यात्मयोगी अपने आपको एक ब्रह्मरूप अनुभव नहीं करता, किन्तु ब्रह्मरूप अनुभव करता है। इस एक का भी जहां संकल्प विकल्प नहीं है ऐसे इस शुद्ध आत्मतत्त्व का ही वास्तविक शरण है। हे ज्ञानीसंतों ! संसार और भोग से पराङ्मुख होकर इस संसार के संकटों का विनाश करने वाले इस ध्रुव आत्मतत्त्व में दृष्टि क्यों नहीं देते? क्यों अध्रुव, विनाशीक, असार भिन्न जिनका आश्रय करके केवल क्लेश ही उठाया जाता ऐसे वैभव धन घर परिजन मित्रजन शिष्य इन परतत्त्वों में क्यों दृष्टि लगाये हो? आवो अपने विवेक मार्ग से और अपने आपमें समाये जाने का यत्न करो। यही है धर्मपालन और इसके लिए ही ये समस्त उपदेश हैं। ऐसा यह अंतस्तत्त्व अपने आपमें है। उसकी दृष्टि करना हमारा धर्म के लिए प्रथम कर्तव्य है।

चित् तत्त्व का सत्य आधार—जैसे बड़ी तेज धूप गरमी से संतप्त मनुष्य धूप में गरमी का दुःख सहता हुआ किसी शीतवाहक मकान के अन्दर का जो शीतलता का अनुभव है उसे नहीं पा सकता है, इसी प्रकार विषय कषायों के संताप से तपा हुआ यह प्राणी अपने आपके अन्तर में बसे हुए सहज ज्ञायकस्वभाव के अनुभवरूप परमआनन्द का परिचय नहीं पा सकता। यह अंतस्तत्त्व सहज गुणों का आकार है। जो जीव इस अनुपम स्वाधीन अंतस्तत्त्व को निरन्तर भजता है, अपने स्वाभाविक परिणतिरूप आनन्द समुद्र में अपने आपको मग्न करता है वह पुरुष संसार के समस्त संकटों से दूर हो जाता है। इस कारण हे आत्मकल्याणार्थी पुरुषों ! जितना करते बने करो, परन्तु अन्तरङ्ग में तो यह अटूट श्रद्धा रक्खो कि मेरी शरण, मेरा रक्षक, मेरा सर्वस्व, हित रूप यह मेरा शुद्ध अंतस्तत्त्व है, सहज ज्ञायक स्वरूप है, इसकी दृष्टि बिना संसार से हमारा उद्धार नहीं हो सकता। अब इस ही आत्मतत्त्व का कुछ और विशेषणों द्वारा विवरण कर रहे हैं।

गाथा 44

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा।।44।।

अन्तस्तत्त्व की निर्ग्रन्थता—इस गाथा में भी शुद्ध जीवस्वरूप का वर्णन किया गया है। शुद्ध जीव का अर्थ है केवल जीव का स्वरूप। जीव अपने सत्त्व के कारण क्रियात्मक है, उस स्वरूप के वर्णन को कहते हैं शुद्ध जीव स्वरूप का वर्णन किया। यह मैं आत्मतत्त्व निर्ग्रन्थ हू। ग्रन्थि नाम गांठ का है, आत्मा गांठ रहित है। संसारी आत्मा में गांठ लगी हुई है परिग्रह की और इसी गांठ के कारण इस परिग्रह से छूटकर नहीं पा सकता। यह गांठ 24 प्रकार की है, जिसमें 10 गांठें तो बाह्य गांठें हैं और 14 अंतरङ्ग गांठें हैं।

बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितता—बाह्यपरिग्रह है खेत, मकान, पशु-धन, अनाज, नौकर, नौकरानी, वस्त्र, बर्तन, सोना, चाँदी, रत्न—ये सब बाह्यपरिग्रह हैं। बाह्यपरिग्रह वस्तुत: परिग्रह नहीं कहलाते, किन्तु यह जीव इन पदार्थों को अपनाए तो उनका नाम परिग्रह बन जाता है। वे सब चीजें तो स्वतंत्र हैं। जैसे आप सत् पदार्थ हैं वैसे ये पुद्गल भी सत् पदार्थ हैं। इनका नाम परिग्रह कैसे पड़ेगा? इनके अपनाने का भाव हो तो परिग्रह नाम होता है। जिसके अंतरङ्ग में परिग्रह का संस्कार लगा है उसके बाह्य में ये सब परिग्रह ऐसे निकट चिपके से रहते हैं कि इनका छोड़ना मुश्किल होता है। कल्याणार्थी पुरुष को इसी कारण चरणानुयोग की विधि से इन बाह्यपरिग्रहों का परित्याग करना चाहिए। जैसे लोग कहते हैं ना कि न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी। यों ही कर लीजिए। बाह्य का परित्याग किया तो भले ही कुछ दिन तक इसको ख्याल सतायेगा, पर कब तक सतायेगा, ख्याल छूट जायेगा। तो जो हमारे विभावों के साधन हैं, वे परिग्रह कहलाते हैं और अंतरङ्ग में 14 प्रकार के परिग्रह तो परिग्रह हैं ही। इन 24 प्रकार के परिग्रहों के परित्यागरूप भाव को निर्ग्रन्थ भाव कहते हैं।

आत्मसाधना की वृद्ध अवस्था—आत्मा की साधना की दिशा में जब कोई पुरुष बहुत अधिक बढ़ता है तो उसकी स्थिति हो जाती है बाह्य में नग्नरूप। ऐसा निर्दोष आत्मसाधक कोई पुरुष हो कि जिसे अन्य किसी वस्तु का कुछ भी ख्याल न रहे तो स्वयं ही बाह्यपरिग्रह छूटते हैं और वह उनके ग्रहण करने का परिणाम भी नहीं रखता, ऐसी तो बाह्य में स्थिति होती और अंतरङ्ग में ऐसी निर्विकार स्थिति होती है कि बालक के समान साधु को निर्विकार बताया है, जैसे बालक कभी कोई विकार सम्बन्धी ख्याल ही नहीं कर सकता। बालकों में विकार का अभाव है। तो उनके तो अज्ञान अवस्था में उस बाल्यावस्था के कारण विकारों का अभाव है, किन्तु साधु पुरुषों में अपनी ज्ञान अवस्था में विकारों का अभाव है, फिर कैसे साधु वस्त्र ग्रहण करे?

साधु की निवृत्तिमूलक चर्या—भैया ! साधु की चर्या लोगों को प्रवृत्ति रूप मालूम पड़ती है, किन्तु उनकी चर्या का आधार निवृत्ति है। यों ही कोई सोचे कि साधु-संत एक बार आहार करते हैं अरे उसे यों सोचो कि आहारविषयक उनके संज्ञा नहीं रही अथवा अत्यन्त शिथिल है, वो बार-बार कैसे आहार करें और शरीर साधने के लिए 24 घंटे में एक बार ही आहार पर्याप्त होता है। यों छूट गया बार-बार का आहार। साधुजन

देखकर जीव दया करके चलते हैं और इसे यों सोचो कि जिसकी दृष्टि शुद्ध जीवतत्त्व की बन गयी है और अपने ही स्वरूप के समान संसार के सब जीवों का स्वरूप निरखते हैं, अब बिना देखे कहां चला जाय उन साधुजनों से, उनसे हिंसा संभव नहीं है। उनके शरीर की प्रवृत्ति में निवृत्ति निरखते जावो। प्रवृत्ति को निरख करके उनका मर्म नहीं पा सकते। निवृत्ति को देखकर मर्म का परिचय होगा।

साधु की आहारचर्या के मूल में निवृत्ति—साधुजन खड़े ही खड़े आहार करके चले आते हैं। अरे यों प्रवृत्ति से मत देखो, उनके इतनी अवकाश नहीं है कि बहुत समय गृहस्थों के घर आहार करने में लगाएँ। इससे शीघ्रता से खड़े ही खड़े आहार करके चले आते हैं। कोई गृहस्थ के घर अपनी पुजावा के लिए या पीछे भी बड़ा समारोह बनाने के लिए आहार के बाद अथवा कुछ मन मौज वार्तालाप में समय गुजारने के लिए श्रावक के घर घंटे दो घंटे को बैठ जाएं तो उसने निवृत्ति की नीति का उल्लंघन किया। साधु संत बिजली की तरह चल देते हैं और आहार शुद्ध क्रिया करके तुरन्त वापिस चले जाते हैं। समय ही उनको इतना नहीं है कि गप्प सप्प करे अथवा बैठकर मौज से बड़े विश्राम से धीरे-धीरे खायें। इस लायक उनकी वाञ्छा भी नहीं रही। साधु की प्रत्येक चर्या में निवृत्ति अंश से निरखते जाइए।

सामायिक की निवृत्तिमूलकता—लोग यों देखते हैं कि साधु तीन बार सामायिक करते हैं—उसे यों देखिये ना कि साधुजन अर्द्ध रात्रि के समय भी आत्मचिंतन के लिए समय निकालते हैं। उनका कारण यह है कि चार पाँच घन्टे अन्य-अन्य आचरणों में समय गया। उसकी सावधानी के लिए प्रत्येक चार पाँच घंटे बाद सामायिक में बैठ जाता है। श्रावकों की भी यह बात है। सुबह 6 बजे सामायिक हुई, अब 5 घन्टे बाद फिर जो क्रियाएं की है उनका पछतावा, उनकी आलोचना करने के लिए फिर दोपहर को सामायिक की। फिर इसके बाद 4-5 घन्टे यहाँ वहाँ की बातों में बीते तो फिर पछतावा के लिए, आलोचना के लिए अंतस्तत्त्व की भक्ति के लिए फिर सामायिक में बैठ गए और शाम के 6 बजे से और सुबह के 5-6 बजे तक के सोने का टाइम निकाल दो तो उसके भी अन्दर 5 घन्टे रह जाते हैं। 5, 5 घंटे में क्रियावों का प्रायश्चित्त आलोचना के लिए सामायिक बनी हुई है। हर बात में निवृत्ति अंश निरखते जाइए।

परम वैराग्य—आत्मसाधक इतना तीव्र वैरागी है कि उसके पास धन वैभव का रखना तो दूर रहो, एक वस्त्र को भी धारण करने में असमर्थ है। स्वच्छ बालकवत् निर्विकार निर्ग्रन्थरूप रह जाता है, यह तो है व्यवहार की बात, पर यह अंतस्तत्त्व तो वास्तव में 14 प्रकार के परिग्रहों से दूर बने रहने के स्वभाव वाला है। यह तो अमूर्त है। इसमें तो रागादिक भाव भी नहीं है। यह तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है बाह्यपरिग्रहों की तो चर्चा ही क्या? यों यह आत्मतत्त्व निर्ग्रन्थ है। यह आत्मतत्त्व नीराग है, रागरहित है। राग एक उपलक्षण है। राग के कहने से समस्त विकार आ गये। रागद्वेष मोह सभी जितने चेतन कर्म हैं उन चेतन कर्मों से रहित इस अंतस्तत्त्व का स्वभाव है।

अन्तस्तत्त्व की नीरागता—चेतन कर्म यह न चेतनतत्त्व में शामिल है, न अचेतन में शामिल है किन्तु इन्हें चिदाभास कहा गया है। अचेतन तो यों नहीं है कि इसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं पाया जाता है। रागद्वेष भाव चेतन भी नहीं हैं कि ये कोई सद्भूत चीज नहीं है, सत् पदार्थ नहीं है, स्वभाव नहीं हैं, गुण नहीं हैं, एक उपाधि के सन्निधान में छाया हुआ है, ये सभी तो माया हैं—काया, खाया, गाया, छाया, जाया, पाया ये सारी

मायाएं हैं। कोई इनमें सत् स्वरूप हो तो बतावो। तो समस्त अचेतन कर्मों का अभाव होने से यह अंतस्तत्त्व स्वरसत: नीराग है। देखो आत्मा तो एक स्वरूप है। किन्तु निषेधमुखेन इसका वर्णन करते जाइये तो कितने ही दिन गुजारे जा सकते हैं। एक निज शुद्ध स्वरूप के अतिरिक्त जितने परतत्त्व हैं, पर भाव हैं उन सबका निषेध करते जाइए।

स्वभाव और विभाव का बेमेल प्रसंग—भैया ! है यह कोरा शुद्ध ज्ञायकस्वरूप, सर्व कल्याणों का आधार स्वयं सुखस्वरूप परमयोगीजनों का ध्येयभूत। इतनी अपूर्वनिधि तो हम आपके अन्तर में है और उसकी श्रद्धा न होने से रूप, रस, गंध, स्पर्श वाले इस पुद्गल में और मांस हड्डी चाम वाले इन असमानजातीय पर्यायों में यह ही सार है—ऐसा मान रक्खा है। एक देहाती कहावत है—कामी न जाने जात कुजात, नींद न जाने टूटी खाट। भूख न जाने जूठो भात, प्यास न जाने धोबी घाट।। काम ऐसा बैरी है, ऐसी आग है जिसमें झुलसा हुआ प्राणी अपने आत्मस्वरूप के अवलोकन का पात्र भी नहीं हो सकता। सार कुछ नहीं है और विडम्बना इतनी बड़ी बन गयी है। वे गृहस्थ भी धन्य हैं जो घर में रहते हुए भी निष्काम और ब्रह्मचारी रहते हैं। अब भी ऐसे जवान मिलेंगे 30, 40, 50 वर्ष की उम्र के घर में स्त्री सहित रहते हैं, मगर कोई बहिन जैसा नाता बनाकर पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहते हैं।

मिथ्यात्व का ऐब—सब ऐबों में दो ऐब विकट हैं—एक तो मिथ्यात्व का ऐब—मोह। यह महा बेवकूफी है कि भिन्न पदार्थों में यह कल्पना बनाई जा रही है कि यह मेरा है। एक तो महान् ऐब यह है। गृहस्थावस्था है तो परिग्रह की रक्षा करो, मना नहीं करते, पर दिन में एक आध बार यह तो सोच लो कि मैं तो सबसे न्यारा केवल शुद्ध ज्ञानमात्र चेतनतत्त्व हू। आज यहाँ है, आयु का क्षय हो जाय तो कल और कहीं हैं, क्या है मेरा यहाँ, ऐसे शुद्ध विविक्त आत्मस्वरूप की सुधी तो ले लिया करो, अनुभव जब हो तब हो। पर सुधी लेने में क्या कुछ जोर पड़ता है? धर्मपालन और करना हो जाता है तो पहिला ऐब कठिन है यह मिथ्यात्व का।

कामवासना का ऐब—दूसरा ऐब कठिन है कामवासना का। जैसे देखो कि जितनी भी ये कषायें हैं सबमें ऐसा लगता है कि निराट बेवकूफी की जा रही है। खुद को खुद का पता नहीं लगता, क्योंकि वह तो कर ही रहा है। दूसरे जानते हैं कि कितनी मूढ़ता की बात की जा रही है। प्रथम तो अपने से ही लगा हुआ यह शरीर सुहा जाय तो यह भी विडम्बना है। मैं बहुत अच्छा हू, साफ रहता हू, ताकतवर हू, सुहावनी शकल है। अपना ही शरीर अपने को सुहा जाय, यह भी मूढ़ता है और फिर दूसरे का शरीर सुहा जाय तो वह और डबल मूढ़ता है। दूसरों का शरीर सुहा जाने में तो कामवासना को बल मिलता है और अपना शरीर सुहा जाने में मिथ्यात्व को बल मिलता है।

नीराग स्वभाव की दृष्टि की प्रेरणा—यह अंतस्तत्त्व समस्त मोहराग द्वेषात्मक चेतन कर्मों के अभाव से नीराग है। ऐसा नीराग स्वच्छ शुद्ध ज्ञायकस्वरूप इस आत्मतत्त्व की सुधी लो। अनादि से तो अपूर्व निधि को भूला चला आया है, जो जब भी मुक्त हो तब ही भला। अनन्त समय तो गया ही है, अब बचा हुआ समय यदि ठीक तरह रख दिया जाय तो यह एक बड़ी सावधानी का कार्य होगा। इस अपने अंतस्तत्त्व को नीराग सर्वविकारों से रहित केवल जानन स्वरूप देखो। यह कारणसमयसार रागादिक विकाररहित है।

शल्य का क्लेश व स्वभाव की नि:शल्यता—अब बतला रहे हैं कि यह आत्मा नि:शल्य है। चीज सब वही की वही है, पर किन्हीं दृष्टियों से फेरफार करके कुछ मर्मों के साथ उस ही तत्त्व को दिखाया जा रहा है। शल्य उसे कहते हैं जो कांटे की तरह चुभती रहे। जैसे पैर में कांटा लग जाय तो चाहे वह एक सूत ही लम्बा कांटा क्यों न हो, चुभता रहता है, चलते हैं तो पैर ठीक तरह से नहीं धरा जाता है। देखो शरीर तो है डेढ़ मन का और इसमें दो रत्ती का भी दसवां बीसवां हिस्सा बराबर एक सूत लम्बा कांटा पड़ा हो तो वह चुभता रहता है। बड़े-बड़े हाथी मदोन्मत्त मतवाले जो किसी से वश में न आए, कांटे से वश में आ जाता है। एक भी कांटा पड़ा हो, पैर में लग जाय तो वह बेहाल हो जाते हैं। तो जैसे कांटा शरीर में चुभता है इस ही प्रकार यह शल्य आत्मा में चुभती रहती है। मन कहीं हैं, आंखें कहीं हैं, दिमाग कहीं हैं। नशा पीने वाले पुरुष के जैसे हाथ पैर आंखें अटपट फैल जाती हैं इसी तरह इस मोह मद वाले के भी ये सब अन्य बहिरङ्ग साधन अटपट बिखर जाते हैं।

निदान शल्य—ये शल्यें हैं तीन—निदान, माया और मिथ्यात्व। निदान शल्य है इन्द्रिय के विषयों के साधनों की वाञ्छाएं बनाए रहना। मुझे ऐसा मिल जाय, परभव में मैं इन्द्र हो जाऊ, देव बन जाऊ, राजा बन जाऊ, या इसी भव में लखपति हो जाऊ, करोड़पति हो जाऊ, अब सोचते जाइए ऐसे मेरे पुत्र हो जाएं, ऐसी स्त्री मिले, जितने प्रकार के मनोविषयक व इन्द्रियविषयक साधनों की वाञ्छाएं लग रही हैं वे इस आत्मा में शल्य की तरह चुभ रही हैं। कांटा लगने पर जैसे चैन नदारद हो जाती है ऐसे ही शल्य के लगने से शांति भी नदारद हो जाती है। जब पुराणों में कोई कथा सुनते हैं, अमुक साधु ने राजा होने का निदान बांधा था तो देखो वह राजा हो गया। तपस्या में बड़ा प्रभाव है। बात वहां कुछ और होती है सोचने लगे कुछ और। बात तो यह हुई कि उनकी तपस्या ऊची थी कि वे बहुत ऊचे इन्द्र बनते। इससे भी और ऊची तपस्या थी कि मुक्त हो जाते पर मांग लिया भुस, राजवैभव, सो उतना ही रह गये। लखपति को 100) का कर्जा कौन नहीं दे देता? निदान से बिगाड़ ही होता है, आत्महित नहीं।

निदानों के विस्तार—निदाननामक शल्य इस जीव को निरन्तर कांटे की तरह पीड़ा दिया करती है। निदान भी अनेक प्रकार के हैं, अशुभ निदान और शुभ निदान। अशुभ निदान भी दो तरह से होता है—एक धर्म करके अशुभ इच्छा करना। जैसे कोई तपस्वी किसी शत्रु के प्रति ऐसा परिणाम करे कि मैं परभव में इससे बदला लू यह अशुभ निदान है और एक साधारणरूप से ही; धर्म के एवज में नहीं, किन्तु इच्छा बनाता रहे वह भी अशुभ निदान है। धर्म समागम की वाञ्छा करना सो शुभ निदान है। निदान अपनी-अपनी योग्यतानुसार सभी शल्य पहुंचाते हैं।

मायाशल्य—छल कपट होना सो माया शल्य है। जो पुरुष छल कपट रखता है, वचनों से कुछ कहा करता है, मन में कुछ बात बनी रहा करती है वह अंतरङ्ग में दु:खी रहा करता है। भले ही मायाचारी पुरुष ऐसा समझे कि हम दूसरों को चकमा दे देते हैं, धोखा दे देते हैं, पर असलियत यह है कि कोई किसी दूसरे को धोखा नहीं देता—खुद ही धोखा खाता है। मायाशल्य में माया की शल्य तो है ही, किन्तु माया को भी कोई जान न पाये उसको छिपाने की भी एक शल्य रहा करती है। पर अक्सर माया छिप नहीं पाती। कोई दूसरे

की माया जाहिर करे अथवा न करे, पर सब मालूम हो जाता है कि अमुक पुरुष ऐसा माया का परिणाम रखता है। धर्म की बात सीधी सी है, किन्तु धर्म वहाँ ही प्रवेश कर सकता है जिसका हृदय सरल हो।

मायाकषाय के शल्यपने का कारण—चार कषायों में से माया कषाय को शल्य में कहा है। क्रोध, मान, लोभ - ये भी भयंकर कषायें हैं, पर इनकी शल्य में गिनती नहीं की है। इन कषायों में तो जब कषाय आए तब पीड़ा होती है। पर माया शल्य वाला तो अहर्निश भयभीत रहा करता है। दोगलापन चुगली ये सब माया के ही परिवार हैं। दोगला नाम है जिसके दो गले बन जाए, अमुक से कुछ कह दिया, अमुक से कुछ कह दिया। चुगला नाम है जिसके चार गले बन जायें, चार जगह बात फैला दी और यह भी कहता जाता कि कहना मत किसी से। तो एक यह भी शल्य हो गयी। मैंने उससे कहा था कि कहना मत। वह कह न देवे। माया में कितनी ही शल्यें बन जाती हैं। क्रोध में शल्य का विस्तार नहीं है। मानो क्रोध किया और पछतावा हो गया। मान लोभ में भी बात आयी, पछतावा किया, हो गया। माया में तो शल्यों के ऊपर शल्य बिछती चली जाती है।

मिथ्या शल्य—तीसरी शल्य है मिथ्यात्व की, जो पदार्थ जैसा नहीं है उसके सम्बन्ध में वैसी बात करना, विपरीत बात सोचना इसका नाम है मिथ्याशल्य। सब शल्यों का मूल तो मिथ्यात्व ही है। जिसको अपने आपके ज्ञानानन्दस्वरूप का परिचय नहीं है तो वह निदान भी करता है, मायाचार भी करता है। तो सब क्लेशों का मूल, शल्यों का मूल मिथ्या परिणाम है। ऐसे मिथ्यात्व शल्य, माया शल्य और निदान शल्य—इन तीन शल्यों में यह जगत का प्राणी निरन्तर संक्लिष्ट बना रहता है, किन्तु हे आत्मन् ! अपने स्वभाव को तो निरखो, अन्तर मर्म को तो देखो। तू तो अमूर्त ज्ञानानन्द स्वभाव है। इसमें तो रागादिक विभावों का भी प्रवेश नहीं है। शल्य कहां से होगा? ऐसा यह आत्मतत्त्व तीनों प्रकार के शल्यों से परे है, नि:शल्य है।

आत्मा की सकलदोषनिर्मुक्तता—यह आत्मतत्त्व समस्त दोषों से मुक्त है। अपने आपको अपने स्वरूप द्वार से निरखिये। यह शरीर मैं नहीं हू इसलिए शरीर से सम्बन्धित है, ऐसी दृष्टि न करिये। आकाशवत् निर्लेप अमूर्त भावमात्र ज्ञानानन्द स्वभावमय यह मैं आत्मा हू। इस आत्मा में न तो शरीर का सम्बन्ध है अर्थात् न शरीर का प्रवेश है, इस मुझ स्वरूप में न द्रव्य कर्म का प्रवेश है, और यह भावकर्म भी मेरा स्वरूप नहीं है। तीनों प्रकार के दोषों से मैं मुक्त हू। ये समस्त दोष इन तीनों दोषों में आ जाते हैं। जिनमें शरीर तो दूर का दोष है। द्रव्यकर्म मेरे निकट वाला दोष है और भावकर्म अपने आपमें बसा हुआ दोष है। तीनों प्रकार के दोषों का अभाव है इस मुझ शुद्ध जीवास्तिकाय में। यह तो अपने शुद्ध द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप है, इस कारण यह आत्मतत्त्व सकल दोषनिर्मुक्त है।

आत्मचर्चा—भैया ! यह चर्चा अपने आपके सही स्वरूप की चल रही है कि मैं वास्तव में कैसा हू और भूल से परदृष्टि करके कैसा बन गया हू? यह मैं आत्मतत्त्व निष्काम हू। इस निज परतत्त्व में वाञ्छा का प्रवेश ही नहीं है। इच्छा करना उपाधि के सन्निधान में होने वाली एक छाया है, झलकती है, वह मेरे स्वभाव से उत्पन्न नहीं होती। स्वभावदृष्टि करके देखो तो मेरा स्वरूप वही है जैसा परमात्मा का स्वरूप है। आत्मा और परमात्मा में परम और अपरम का फर्क है। आत्मा तो एक है, एक स्वरूप है—व्यक्तिभेद अवश्य है, क्योंकि अनुभव जुदा-जुदा है, परन्तु जाति पूर्णतया एक है।

स्वरूप की अपेक्षा से भव्य अभव्य की समानता—जाति की दृष्टि से तो भव्य और अभव्य में भी अन्तर नहीं है। अभव्य भी ज्ञानानन्दस्वभावी है, भव्य के भी केवलज्ञान की शक्ति है और अभव्य के भी केवलज्ञान की शक्ति है। फर्क यह हो जाता है कि भव्य के केवलज्ञान की शक्ति के व्यक्त होने की योग्यता है और अभव्य के केवलज्ञान की शक्ति के व्यक्त होने की योग्यता नहीं है। यदि अभव्य में केवलज्ञान शक्ति न हो तो अभव्य के केवलज्ञानावरण मानने की जरूरत क्या है? केवलज्ञानावरण उसे कहते हैं जो केवलज्ञान को प्रकट न होने दे। भींत में केवलज्ञान की शक्ति नहीं है तो भींत के क्या केवलज्ञानावरण चिपटा है? ऐसे अभव्य जीवों के यदि केवलज्ञान की शक्ति न हो तो वहाँ पर केवलज्ञानावरण क्यों होगा?

ज्ञायकस्वरूप का एकत्व—जाति अपेक्षा, स्वरूप अपेक्षा समस्त जीव एक रूप हैं। सो जाति की अपेक्षा तो एक स्वरूप है उसे मान ले कोई कि व्यक्ति सब एक ही हैं। बस यही मिथ्या अद्वैतवाद हो जाता है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप में अद्वैत है अर्थात् स्वयं अपने आपमें केवल है। ऐसे अद्वैत में अद्वैत अनन्त आत्मावों का स्वभाव एक अद्वैत है। जाति अपेक्षा से निहारा जाय तो सभी जीव शुद्ध ज्ञायकस्वरूप हैं।

आत्मा की निष्कामता—परमशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि में इस मुझ अंतस्तत्त्व में किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं है। इसलिये यह मैं निष्काम हू। इच्छा एक दोष है। मोक्ष तक की भी जब तब इच्छा रहती है तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। मोक्ष की इच्छा कुछ पद्धतियों तक कार्यकारी है किन्तु जब तक मोक्ष की इच्छा का सद्भाव है तब तक मुक्ति नहीं है। मुक्ति तो अत्यन्त अनाकांक्ष स्थिति के कारण हुआ करती है। इस प्रकार यह मैं आत्मा सब कामनावों से रहित होने से निष्काम हू।

आत्मा की निष्क्रोधता—यह मैं अंतस्तत्त्व निष्क्रोध हू, क्रोधरहित हू। शुभ अथवा अशुभ सभी प्रकार के परद्रव्यों की परिणतियां मुझमें नहीं हैं, इस कारण मैं निष्क्रोध हू। देखो इस सम्बन्ध में उन्हीं शब्दों से क्रोध के कारण भी ज्ञात हो जाते हैं। दूसरे द्रव्यों की परिणति को अपनाने में अथवा उस परिणति को अपने से सम्बन्ध मानने पर क्रोध हो सकता है। उस पुरुष को क्रोध कहां से होगा जो सकल द्रव्यों की परिणति से अपने को भिन्न निरखता रहे, क्रोध की वहाँ कहां अवकाश है? वह तो ज्ञाता द्रष्टा रहता है। जान लो यह बात भी। मात्र ज्ञाता रहने में इस जीव को आनन्द है, पर किसी पर को इष्टरूप में अपनाने से अथवा अनिष्टरूप में अपनाने से वहाँ क्लेश होता है।

सम्यक्त्व अभाव में क्षोभ—लोक में सबसे अचिन्त्य उत्कृष्ट वैभव है तो वह सम्यग्दर्शन है। जब तक सम्यक्त्व का अभ्युदय नहीं होता तब तक आत्मा को शांति आ नहीं सकती। जब यह उपभोग अपने स्वभाव का लगाव छोड़कर परपदार्थों में लगाव रखना है तो इसके क्षोभ होता है। क्षोभ का और कोई दूसरा कारण नहीं है। बाहरी पदार्थ यों परिणम गए, इसलिए क्षोभ हो गया—यह उपचार कथन है। वस्तुत: मैं अपने स्वभाव से चिगकर बाह्यपदार्थों में इष्ट अनिष्ट मानने का उपयोग करने लगा, इसलिए क्षोभ होता है।

परपरिणति अपनाने में क्रोध का वेग—जितनी अधिक दृष्टि बाह्य पदार्थों की परिणति में होगी उतना ही अधिक क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय प्रबल होगी। ज्ञानीसंत समग्र परपरिणतियों को अपने से भिन्न देखता है, इसलिए क्रोध नहीं होता है और जो अपने आपमें उत्पन्न होने वाली विभावपरिणतियों से भी अपने आपको भिन्न देखता है उसे किसी प्रकार का क्षोभ भी नहीं होता है। यह में आत्मतत्त्व परपरिणतियों से दूर हू

और अपने आपमें ही उठने वाले नैमित्तिक भावों से परे हू, इस कारण, मैं निष्क्रोध हू। यह सब निषेध मुख से आत्मतत्त्व का वर्णन चल रहा है। उस अपने आपको पहिचानो कि परमार्थ से मैं हू कैसा? यदि परमार्थस्वरूप इसके परिचय में आ जाय तो समझो बस उसी क्षण से कल्याण हो गया। सबसे बड़ा क्लेश है तो इस जीव को मोह ममता का है। है कुछ नहीं और मोह ममता होती है उससे खेद की बात है, यह महान् अपराध है। हो कुछ मेरा और मान लें अपना तो उसमें कोई दोष नहीं हैं। बात ही ऐसी है। अपने आपके यथार्थस्वरूप के परिचय बिना इस जीव में कषायें जगती हैं और उन कषायों से यह आत्मा कसा जाता है, दु:खी होता है।

आत्मा की निर्मानता—यह मैं आत्मा निर्मान हू। इसमें निरन्तर परम समतारस का स्वभाव पड़ा हुआ है। मान कब उत्पन्न होता है जब समता की दृष्टि नहीं रहती है। यह तुच्छ है, मैं बड़ा हू, ऐसा मन में संकल्प आए बिना मान कषाय नहीं जगता। पर कौन तुच्छ है, कौन बड़ा है? इसका निर्णय तो करो। आज जिसे तुच्छ माना है वह अपने सदाचार के कारण इस ही भव में अथवा अगले भव में उत्कृष्ट बन जायेगा। और जिसे अभी बड़ा मानते हो वह अनीति के कारण इस ही भव में या अन्य भव में तुच्छ हो सकता है तो जिसे तुच्छ माना वह बड़ा बन गया और जिसे बड़ा माना वह छोटा बन गया। ऐसा उलट फेर इस जीव में अनादिकाल से चला आ रहा है। फिर दूसरी बात यह है कि जितने भी आत्मा हैं समस्त आत्मावों का स्वरूप एक है। सब चैतन्यशक्ति मात्र हैं, निर्नाम हैं, उनका नाम ही नहीं है, निर्दोष है। वहाँ शरीर ही नहीं है। ऐसे चिदानन्दस्वरूप इन समग्र आत्मावों में किसी को तुच्छ मान लेना, अपने को बड़ा मान लेना यह मान कषाय है, पर मान कषाय की गुञ्जाइश इस आत्मतत्त्व में नहीं है क्योंकि सब जीव एक समान हैं। और फिर यह आत्मा स्वयं अपने आपमें भी समतारस के स्वभाव वाला है। बाह्यपदार्थ में चेतन अचेतन पदार्थ में कोई भला है, कोई बुरा है ऐसा परिणाम नहीं करना है। परमसमरसीभावात्मक होने के कारण यह आत्मतत्त्व निर्मान है।

आत्मा की निर्मदता—इस प्रकार निश्चयनय से यह आत्मतत्त्व समग्ररूप से अन्तर्मुख बना हुआ है इस कारण निर्मद है, मदरहित है। मद नाम यद्यपि घमंड का है पर मान और मद में कुछ अन्तर है। मान तो व्याप्य चीज है मद की दृष्टि से और मद व्यापक चीज है। जो जीव अन्तर्मुख नहीं हैं, बहिर्मुख हो रहे हैं उन जीवों के बेहोशी है, मद है। उनमें घमण्ड भी आ गया और अपने आपका कुछ पता नहीं, ऐसी एक बेहोशी भी हो गयी। यह आत्मतत्त्व अन्तर में अन्तर स्वरूप ही तो है। यह बाह्यरूप नहीं है, बहिर्मुख रूप नहीं है, इस कारण यह निर्मद है।

स्वरूपानुभूति में सत्य वैभव—यों अत्यन्त विशुद्ध सहजसिद्ध शाश्वत निरुपराग ऐसा जो निज कारण समयसार का स्वरूप है यह कारणसमयसार स्वरूप उपादेय है। जैसे आपको मालूम न हो कि हमारी मुट्ठी में क्या है और हम धरे हों अपनी मुट्ठी में एक स्याही की टिकिया और आपसे पूछे कि बतावो मेरी मुट्ठी में क्या है? तो आप अंदाज से कोई बात कहेंगे, पर उत्तर मेरा यह होगा कि मेरी मुट्ठी में सारी दुनिया है। अरे स्याही को घोला तो कहो मकान बना दें, बाल्टी बना दें, मंदिर बना दें, नदी बना दें, समुद्र बना दें, पहाड़ बना दें। जो कहो सो बना दें, मेरी मुट्ठी में सारी दुनिया है। यह तो एक व्यवहारिक कला का उत्तर है, किन्तु जिसके उपयोग में यह नित्य निरावरण चैतन्यस्वरूप आ गया है उसके उपयोग में सारी दुनिया एक साथ है।

परपरिणति के अच्छेद का यत्न—आत्मा के अन्दर की गुत्थी को तोड़ दें, अणुमात्र भी परिग्रह मेरे स्वरूप में नहीं है ऐसा दर्शन कर लो। अन्यथा ऐसा श्रेष्ठ मन बार-बार मिलने को नहीं है। विषय-कषाय तो भव-भव में भोगने को मिलते हैं किन्तु आत्मसंतोष के लिये, प्रभुत्व के दर्शन पाने के लिए बड़ा श्रेष्ठ मन चाहिए। अब इतना श्रेष्ठ मन पाकर इतना तो उपक्रम कर ही लेना चाहिए कि अपने आपमें आदर अपने शुद्धस्वरूप का अधिक हो। समग्र परपरिणतियों का उच्छेद बने, कर्ताकर्म का भ्रम मिटे और निज में बसा हुआ जो शाश्वत निरावरण ज्ञायकस्वरूप है उसका अनुभव जगे तो इस उत्कृष्ट नरजीवन की सफलता है। देखो तो भैया ! कितने खेद की बात है कि सच्चिदानन्द मात्र ऐसे विशद आत्मतेज में यह उपयोग फिर भी मूर्च्छित पड़ा हुआ है, इसके चलन स्वभाव से विपरीत चल रहे हैं। यदि यह अपने इस ज्ञायक स्वभाव की सहज महिमा को उठाए, अपने उपयोग में ज्ञातृत्व का आदर बनाए तो यह आत्म शांत हो सकता है।

जीवों का बेकायदा फंसाव—जरा अन्तर में देखो तो सही यह तो पहिले से ही समस्त परतत्त्वों से छूटा हुआ है, कल्पना में अपने को बधा हुआ समझ लिया है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपमात्र है, इस कारण प्रत्येक स्वयं ही मुक्त है, केवल है, ऐसे इस मुक्त स्वभाव को न निरखने के कारण कितने ही बंधन बना डाले हैं। अहो, राग करने बराबर विपदा और क्या हो सकती है? यहाँ के जीव बेकायदे अट्टसट्ट कोई किसी से फंस गया है अर्थात् जिसे आपने अपना परिजन माना है—ये मेरा कुटुम्ब है तो बताओ कि उसमें कौनसा नियम है, कौनसी युक्ति है, कौनसी बात है, जिस बात से वे चेतन द्रव्य आपके कुछ हो गए, अट्टसट्ट फंस गए? यह जीव घर में न आता और कोई दूसरा जीव आ जाता तो उसी में ही ममता करते। कायदे की ममता तो हम तब मानें कि ऐसा छटा हुआ काम हो कि वह जीव दूसरे भव में पहुंच जाए या सबमें से एक को उसी को वहाँ भी छांटे तब हम जानें कि कायदे की ममता की जा रही है। यहाँ तो जो सामने आया, चाहे वह जीव पूर्वभव में अनिष्ट भी रहा है, पर इस भव में ममता करने लगे। सो ममता करते जाते हैं, दुःखी होते जाते हैं।

जब धोखे की टाटी—इस लोक में पूर्व के पुरुषों की बातें देखो कि आए और चले गए, कोई यहाँ जमकर न रह सका। बड़े पुराण पुरुषों को देखो—तीर्थंकर का जमाना, श्रीराम का जमाना, सारे जमानों को टटोल लो उनका कितना प्रभुत्व था, पर वे भी कोई नहीं रह सके। अपने कुटुम्बियों में भी सोच लो कि दादा-बाबा वे भी चले गए। जिन जीवों को निरखते हो, वे भी कोई साथ नहीं निभा सकते। यह जगत् ऐसे अकेले-अकेले के भ्रमण करने वालों का समूह है। किसी का कुछ शरण सोचना, यह पूरा धोखे से भरा हुआ है। अपने आपके अकेलेपन का और सारे स्वभाव का परिचय हो जाए तो सारे कष्ट दूर हों, कर्मबंधन भी दूर हों, रागद्वेषादिक कल्पनाएं भी समाप्त हों, शरीर का सम्बन्ध भी दूर हो जाए, फिर तो यह शुद्ध ज्ञानदर्शन सुखवीर्यात्मक अनन्तविकास सदा के लिए हो सकता है।

करणीय विवेक—भैया ! विवेक ऐसा करो कि जिससे सदा के लिए संकट टलें। यहाँ अट्टसट्ट ममता के करने से किसी प्रकार की सिद्धि नहीं हो सकती, केवल क्लेश ही क्लेश बढ़ता चला जाएगा। जैसे दो रस्सियों की एक सीधी गांठ होती है, जिसे चमरउ गांठ कहते हैं तो उस गांठ को खोलने के लिए कोइ पानी सींचे तो गांठ और मजबूत होती जाती है। इसी प्रकार राग से उत्पन्न होने वाले क्लेश दूर करने के लिए कोई राग

का ही उपाय बनाए तो उस राग के उपाय से वे क्लेश और मजबूत ही बनते चले जाते हैं। राग से उत्पन्न हुए क्लेश राग से दूर नहीं हो सकते, वे तो ज्ञान और वैराग्य से ही दूर होंगे। इससे अन्य ममताओं की दृष्टि हटाएं और निर्विकल्प ज्ञानानन्दस्वभाव मात्र अपने आपके परिचय का यत्न करें।

विषयकषाय के संकट—इस जीव पर विषयकषायों के पाप का घोर अंधियारा छाया हुआ है। इसी कारण इसे अपने आपमें आनन्द पाने का अवकाश नहीं होता है। ये विषयकषायों की कल्पनाएं हैं। यह अंधकार एक ज्ञानज्योति द्वारा ही दूर हो सकता है। जैसे भव्य आत्मा ने अपनी प्रज्ञा से ज्ञानस्वभाव के स्वरूप का भान किया है और इसके अनुभव में शुद्ध आनन्द पाया है, वह पुरुष अतुल महिमा वाला है, नित्य आनन्दमय है, वह देह मुक्त होकर सदा के लिए संसार के समस्त संकटों से दूर हो जाता है। सभी मनुष्य शांति के लिए अथक प्रयत्न कर रहे हैं, रात दिन एक धुनि में लग रहे हैं कि धनवैभव बढ़े, पोजीशन बढ़े। किसलिए यह किया जा रहा है? ये जीवन के बाद तो साथ देंगे ही नहीं, किन्तु जीवनकाल में भी यह सब जंजाल सुख का साथी नहीं है। कहो अनेक विपदाएं, राज्यसंकट, चोरसंकट, कुटुम्बीभय आदि अनेक प्रकार के क्लेश इस वैभव और पोजीशन के साथ लगे हुए हैं।

जीवन और भाग्य का सहवास—भैया ! रही एक उदरपूर्ति की बात। जब चींटी-चींटा, कीड़े-मकोड़े भी अपनी पर्याय के अनुकूल उदरपूर्ति का सहज समागम पा लेते हैं, जिससे कि जिन्दगी रहती है। जिस बड़े भाग्य के उदय से हम आप मनुष्य हुए हैं, क्या यह प्राकृतिक बात नहीं है कि हम आप लोगों के लिए जो जीवन में सहायक है—ऐसा अभ्युदय का संयोग मिल जाए? हो रहा है यह सब प्राकृतिक, किन्तु यह मानव उन सबमें कर्तृत्व बुद्धि बनाए हुए है कि मैंने किया तब यह हुआ। अरे ! ये तो उदय की चालें हैं। इतनी तो प्राकृतिक बात हो ही रही है, जिसका जैसा उदय है। इस ओर दृष्टि न लगाकर जीवोद्धार आत्महित के सम्बन्ध में अधिक लक्ष्य देना चाहिए, यह तो होता ही है। देखो, किए बिना भी ये सब बातें सहज थोड़ी श्रम से हो जायेंगी, पर जीवोद्धार की बातें पूरे तन, मन, वचन को लगाए बिना, फिर सबका उपयोग छोड़े बिना, अपना सारा पुरुषार्थ बनाए बिना नहीं हो सकता है। इस कारण आत्मा के उद्धार के लिए अधिक ध्यान देने की जरूरत है।

झमेला और ज्ञानी का ज्ञान—यह तो एक झमेला है, चार दिन का मेला है, मिला और बिछुड़ गया। जब मिल रहे हैं, तब भी अपने नहीं हैं और बिछुड़ तो जाने ही वाले हैं। इसमें दृष्टि रखने योग्य कुछ बात नहीं है। आनन्द तो जो करेगा उसको ही मिलेगा। क्या यह बात है बोलने की और सुनने की? बोलने सुनने तक की ही बात रह सके, तब तो वह आनन्द न प्राप्त हो सकेगा। इस रूप कुछ भी परिणमन कर सके या इस प्रकार का लक्ष्य बन सके तो आनन्द से भेंट हो सकती है। इस प्रकरण में अपने आपके सही स्वरूप की चर्चा चल रही है। यह मिथ्यादृष्टि जीव तो अपने आपको मैं दादा हू, मैं बाबा हू, अमुक घर का हू, अमुक सम्प्रदाय का हू, मनुष्य हू आदि कितनी ही बातें अपने में बसाए हुए है, किन्तु ज्ञानी सत् पुरुष अपने आपके विषय में स्पष्ट जान रहा है कि यह मैं आत्मतत्त्व केवल ज्ञानस्वरूप हू, इसमें किसी परतत्त्व का और परभाव का प्रवेश नहीं है। अब आगे कुछ व्यञ्जन पर्यायों का निषेध करते हुए आत्मतत्त्व की आंतरिक स्थिति बतला रहे हैं।

गाथा 45

वण्णरसगंधफासा थीपुंसण ओसयादिपज्जाया।
संठाणा सहण्णा सव्वे जीवस्स णो संति।।45।।

आत्मा में रस का अभाव—इस परमस्वभावरूप कारणपरमात्मतत्त्व के सभी विकार जो कि पौद्गलिक हैं वे नहीं होते हैं। इस जीव के वर्ण काला, पीला, नीला, लाल, सफेद या इन रङ्गों के मेल से बने हुए नहीं है कोई रङ्ग क्या इस जीव में किसी ने देखा है? अज्ञानी जन शरीर को ही देखकर जीव का रूप समझा करते हैं, अमुक जीव का रूप अच्छा है, पर केवलज्ञान और आनन्दभावस्वरूप इस अंतस्तत्त्व में क्या कोई वर्ण भी रक्खा है? आकाशवत् अमूर्त, निर्लेप, ज्ञानमात्र आत्मा में कोई वर्ण नहीं है। वर्ण होता तो यह जाननहार पदार्थ ही न रहता, पुद्गल ही कहलाता, जड़ और अचेतन हो जाता। इस आत्मतत्त्व में खट्टा, मीठा, कडुवा, चरपरा, कषायला व इन रसों के मेल से बना हुआ कोई भी रस नहीं है। अगर रस होता तो यह आत्मा जाननहार ही न रहता।

आत्मा में रस के अनुभवन का अभाव—भैया ! आत्मा में रस होने की बात तो दूर जाने दो, यह जीव तो रस का अनुभव भी नहीं कर सकता। कोई रसीला पदार्थ खाते समय देखो तो जरा कि उसे खा कौन रहा है? आत्मा ने इच्छा की, उससे योग परिस्पंद हुआ। उसका निमित्त पाकर शरीर में वायु का हलन हुआ, और उस प्रकार से मुख चलने लगा। भोजन का सम्बन्ध इस पुद्गल शरीर के साथ हो रहा है, एक पुद्गल के द्वारा दूसरा पुद्गल चबाया जा रहा है, पर देखो तो हालत कि उसका निमित्त पाकर इस आत्मा में रसविषयक ज्ञान होने लगता है। यह खट्टा है अथवा मीठा है और उस रसविषयक ज्ञान के साथ चूकि इष्ट बुद्धि लगी हुई हैं इससे मौज मानने लगते हैं और सोचते हैं कि मैंने खूब रस चखा, खूब अनुभव किया, किन्तु इसने रस का अनुभव नहीं किया, रसविषयक ज्ञान का और राग का अनुभव किया। पर पदार्थ का यह अनुभव नहीं कर सकता, पर दृष्टि मोह में ऐसी ही हो जाती जिस कारण परपदार्थ का संचय करने में पर को ही अपनायत करने में तुल जाता है। इस आत्मा में रस नहीं है।

आत्मा में गन्ध का अभाव—गंध दो प्रकार की होती है—सुगंध और दुर्गन्ध। क्या आत्मा में किसी प्रकार का गंध है? इनका आत्मा सुगंधित है, इनका आत्मा दुर्गन्धित है। अरे शरीर में सुगंध दुर्गन्ध हो सकती है, वह पुद्गल है। मूढ़ जन ही शरीर के गंध को देखकर अमुक जीव में ऐसा बुरा गंध है, अमुक जीव में सुगंध है, ऐसा व्यवहार करता है। किन्तु गन्ध नामक पुद्गल का गुण जीव में त्रिकाल भी नहीं हो सकता। स्पर्श भी इस आत्मतत्त्व में नहीं है। स्पर्श की 8 पर्यायें होती हैं—रूखा, चिकना, ठंडा, गरम, नरम, कठोर, हल्का, भारी। क्या यह अमूर्त ज्ञानानन्द स्वभावमात्र आत्मा वजनदार है? वजनदार नहीं है तो हल्का भी नहीं है। हल्का वजनदार अपेक्षा से बोला जाता है। ठंडा, गरम, रूखा, चिकना, कड़ा, नरम कैसा भी यह मैं नहीं हू। यह तो ज्ञानभावमात्र है और मात्र ज्ञान द्वारा ही इस प्रकार ख्याल में आ सकने वाला है।

आत्मा में स्पर्श का अभाव इन्द्रियों की असमर्थता—यह आत्मा स्पर्श रहित है। जिन इन्द्रियों के द्वारा ये वर्ण, गंध, रस, स्पर्श जाने जाते हैं उन इन्द्रियों की कथा भी तो देखो कि वे स्वयं को जान नहीं पाती। आँख आँख की बात नहीं देख सकती कहां कीचड़ लगा है, कहां काजल लगा है, कहा फुंसी हुई, किस जगह रोम अटका है यह सब इस आँख के द्वारा नहीं दिख सकता है। स्पर्शन भी यह अपना स्पर्श नहीं जान सकता। हाथ गरम है तो नहीं जान सकता कि हाथ गरम है। एक ही हाथ के द्वारा दूसरा हाथ छुवा जाय तो कहते हैं कि अरे गरम है। अरे तुम्हारा शरीर ही तो गरम है तो पड़े रहो, टाँग और हाथ पसारे और जान लो कि हम कितने गरम हैं। तो कोई नहीं जान सकता है। शरीर का एक अंग दूसरे अंग को छुवे तो जान सकते हैं कि ठंडा है अथवा गरम है। नाना नाच नचाने वाली यह जीभ की नोक अपने आपके रस का ज्ञान नहीं कर सकती। पुद्गल ही तो है, यह भी तो रस है, पर नहीं समझ सकती। अब रह गये नाक और कान। तो जिस जगह ये इन्द्रिय हैं, उस जगह का ज्ञान नहीं कर सकती।

जीभ, आँख, नाक, कान हैं कहां—ऊपर से यों केवल चार इन्द्रियां नजर आ रही हैं ये सब स्पर्शन हैं, चमड़ा हैं। कहां घुसी है रसना जिस जगह से रस लिया करती है यह? क्या बतावोगे? आप जीभ निकालकर बतावोगे लो यह है रसना। तो हम छूकर बता देंगे कि यह तो स्पर्शन है। जो छुवा जाय, जिसमें ठंड गरम महसूस हो वह तो स्पर्शन है। असली कान कहां हैं जहां से आवाज सुनी जाती है। जो दिखते हैं वहाँ तो चमड़ा मिलेगा और त्वचा स्पर्शन इन्द्रिय है। नाक कहां है जिससे सूघा जाता है, देखने वाली आँख कहां है? तो इन इन्द्रियों में कुछ ऐसा गुप्त रूप से अणु पुञ्ज है कि जिसके द्वारा यह सुनता है, देखता है, चखता है और सूंघता है।

परमार्थतः इन्द्रियों द्वारा ज्ञान का अभावः—वस्तुतः इन इन्द्रियों के द्वारा भी यह कुछ ज्ञान नहीं करता है, किन्तु वे ज्ञान की उत्पत्ति के द्वार हैं। जैसे कोई मनुष्य कमरे में खड़ा हुआ खिड़कियों से बाहर देखे तो क्या देखने वाली खिड़कियाँ हैं? खिड़की तो एक द्वार है, देखने वाला तो अन्तर खड़ा हुआ मनुष्य है। इसी तरह इस देह के चार दीवारी के भीतर स्थित यह आत्मा इन 5 खिड़कियों से जान रहा है। तो क्या जानने वाली ये खिड़कियाँ इन्द्रियां है? जाननहार तो आत्मा है, किन्तु कमजोर अवस्था में इस आत्मा में इतनी शक्ति नहीं है कि वह अपने सर्वांग प्रदेशों से जैसा कि प्रभु जाना करते हैं, यह जान सके। सो इसके जानने का साधन ये द्रव्येन्द्रियां बनी हुई हैं। जब इस वर्ण, गंध, रस, स्पर्श का साधनभूत और इसके परिज्ञान का साधनभूत जब इन्द्रियां ही इस आत्मा की नहीं हैं, तब ये रूपादिक तत्त्व इस मुझ आत्मा के कैसे होंगे?

विशद ज्ञान के लिये अनुभवन की आवश्यकता—भैया !वस्तु का जब तक स्पर्शन नहीं हो जाता, अनुभवन नहीं हो जाता, तब तक उसकी चर्चा कुछ कर ली दी सी, ऊपर फट्टी सी मालूम होती है। जैसे जिस बालक ने दिल्ली नहीं देखी और ऐसे बालक को दिल्ली की बातें बताई जाएं कि ऐसा किला है, ऐसी मस्जिद है, ऐसा फव्वारा है, ऐसा मंदिर है, अमुक ऐसा है तो उसके लिए यह सब कहानी जैसी मालूम होगी और जिसने देखा है उस सुनने वाले को उसके अन्तर में नजर आने लगता है। ये सारी आत्मा की बातें समझने के लिए बड़े-बड़े शास्त्रों के ज्ञान का श्रम हम करते हैं, बड़ी-बड़ी भाषाएं और बड़ी-बड़ी क्रियाओं का हम अध्ययन करते हैं और एक बार सत्य का आग्रह करके असत्य का असहयोग करके नहीं जानना है, नहीं माननी है हमें

किसी परतत्त्व की बात। एक सत्य का आग्रह करके यहाँ बैठा हू, स्वयं जो कुछ हो सो हो, पर को जानकर यत्न कर करके मैं किसी भी तत्त्व को नहीं जानना चाहता—ऐसी निर्विकल्प स्थिति बनाकर बैठें तो स्वयं ही इस ज्ञानस्वरूप का दर्शन और अनुभवन होगा। जिस अनुभव के आनन्द से छककर यह जीव फिर अन्यत्र कहीं न रमना चाहेगा, फिर सारी चर्चा स्पष्ट यों नजर आएगी कि ठीक है, यह मेरी बात कही जा रही है।

अनुभूत की प्रतीति—जैसे कोई पुरुष कुछ अच्छा कार्य कर आया हो और उसका नाम लिए बिना अच्छे कार्यों की प्रशंसा की जाए तो वह जानता रहेगा कि ये मेरे बारे में कह रहे हैं और कोई बुरा काम कर आया हो तथा उसका नाम लिए बिना बुरे कार्य की चर्चा की जाये तो भी वह समझता है कि मेरे बारे में कह रहे हैं। आत्मस्वरूप का जिन्होंने अनुभव किया है, वे शास्त्र सुनते समय, पढ़ते समय, स्वाध्याय करते समय सब जानते रहेंगे कि देखो यह आचार्यदेव हमारी बात कह रहे हैं। इस ज्ञानानन्दस्वभावमात्र आत्मतत्त्व में 5 प्रकार के वर्ण, 5 रस, 2 गंध, 8 स्पर्श ये कुछ भी नहीं हैं।

आत्मा में स्त्री पुरुष नपुंसक विभावव्यञ्जनपर्याय का अभाव—पर्यायव्यामोह में ऐसा भी देखा जाता हैं कि यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह नपुंसक है—ऐसी विजातीय विभावव्यञ्जनपर्याय नजर आती है। किंतु आत्मा सहजस्वभाव में कैसा है? उस अमूर्त चैतन्यस्वभाव में आत्मतत्त्व का स्वरूप देखते हैं तो वहाँ देह भी नहीं है तो स्त्री, पुरुष, नपुंसक नाम का द्रव्यवेद है और न तज्जातीय परिणाम भी है। यह तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है। यह सब अन्तर की बात निकाली जा रही है। पर्याय में क्या बीत रहा है? इसकी चर्चा यह नहीं है। किसी का सिर दर्द कर रहा हो तो वह दर्द। कुछ ज्ञान कर रहा है यह जीव अथवा पीड़ा मान रहा है यह जीव, इतने पर भी इस जीव के सहजस्वरूप को देखा जाए तो यह बात एक तथ्य की सोचना है कि यह आत्मा देह से रहित है, पीड़ा से रहित है।

स्वभावदृष्टि में प्रज्ञाबल—जैसे पानी बहुत तेज गरम है, अछन किया हुआ है, वह पानी कोई पीवे तो क्या जीभ जलेगी नहीं? जलेगी। इतने पर भी जल के सहजस्वरूप को निरखा जाए तो क्या यह तथ्य की बात नहीं है कि जल स्वभावत: शीतल है। यह लोकव्यवहार का दृष्टान्त है। वैसे तो जल पुद्गल द्रव्य है, उसका न शीतल स्वभाव है, न गरम स्वभाव है, किन्तु स्पर्श स्वभाव है, फिर भी एक लोकदृष्टान्त है। ऐसे ही हम और आपमें भी जैसे गुजर रही हो, वह निमित्तनैमित्तिक संबंध का परिणाम है। गुजरता है गुजरने दो। उस गुजरते हुए में भी हम उस गुजरे की दृष्टि न करके अंतस्वभाव की दृष्टि करने के लिए चलें तो ऐसे खुले ज्ञान में पड़े हुए हैं हम आप जो कि एक उत्कृष्ट बात है। हम प्रज्ञाबल से उस ज्ञानस्वभाव की दृष्टि करें।

श्रम से विराम की आवश्यकता—देखो कि उस अंतस्तत्त्व में स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदिक विजातीय विभावव्यञ्जनपर्यायें नहीं हैं। यह आत्मतत्त्व केवल ज्ञान परिणाम अथवा उपाधि के सन्निधान में श्रद्धा चारित्र गुणों का विकास कर रहा है। यह न चलता है, न करता है, न दौड़ता है, न भागता है और हो रहे हैं ये सब, किंतु अंतरंग को समझने वाले लोग यह जानते हैं कि यह तो केवल जानन और विकार भाव कर रहा है और कुछ नहीं कर रहा है। कहां इतनी दौड़ धूप मचाई जाय? क्या मैं दौड़ता हू, जाता हू, करता हू—ऐसी श्रद्धा नहीं बनाया, क्या दौड़ना भागना ही पसंद है? तो दौड़ना भागना होता है पैरों द्वारा। तो अभी तो दो ही पैर हैं, यदि ज्यादा पैर मिल जायें तो शायद यह काम और अच्छा बन जायेगा। कल्पना में सोच लो कितने

पैर हों तो अच्छा खूब ज्यादा कार्य होगा? किसी के 4 पैर भी होते हैं, 10 भी होते हैं, 16 भी होते हैं, 40 पैर भी होते हैं, 44 पैर भी होते होंगे। कितने चाहिए? तो लोकव्यवहार में ये सब करतूत करनी पड़ती है, लेकिन हृदय में इतना प्रकाश तो अवश्य रहना चाहिए कि यह आत्मा ईश्वर, भगवान् आत्मा अपने आपके प्रदेश में स्थित रहकर केवल इच्छा किया करता है और यह विस्फोट सब स्वयमेव होता रहता है। कैसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि सारे काम अपने आप चलने लगते हैं।

सकल व्यवसायों का मूल हेतु मात्र इच्छा—जैसे बड़े यंत्रों में एक जगह बटन दबाया कि सारे पेंच पुर्जे स्वयं चलने लगते हैं। ये चक्कियां चलती है, वस्त्र वाले मील चलते हैं, बस बटन दबा दिया कि सब जगह के पेंच पुर्जे स्वयं चलने लगते हैं। यहाँ भी एक इच्छा भर कर लो फिर चलना, उठना, बैठना, खाना, पीना, लड़ना ये सब काम आटोमैटिक होते रहते हैं। इनमें आत्मा कुछ नहीं करता। आत्मा तो केवल इच्छा करता और साथ ही उस इच्छा का निमित्त पाकर इसके प्रदेशों में परिस्पंद हो जाता है। बस ये दो हरकतें तो आत्मा में हुई, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ बातें होती ही नहीं है। हाथ का चलना या हाथ का निमित्त पाकर अन्य वस्तुवों का हिलना डुलना हो रहा है। आत्मा तो केवल इच्छा और भोग ही करता है। इस आत्मा के जब विभावगुणपर्याय भी नहीं है, फिर यहाँ किसी विभाव व्यञ्जन पर्याय की कथा ही क्या?

आत्मतत्त्व में निराकारता—चैतन्य और आनन्दस्वरूप मात्र इस निज शुद्ध अंतस्तत्त्व में केवल चित्प्रकाश है और वह अनाकुलता को लिए हुए है, इसमें किसी प्रकार का आकार नहीं है। शरीर में जो विभिन्न आकार बन गए हैं वे यद्यपि जीवद्रव्य का सन्निधान पाकर बने हैं, फिर भी आकार पुद्गल में ही है, भौतिक तत्त्व में है, आत्मद्रव्य में आकार नहीं है। ये आकार मूलभेद में 6 प्रकार के हैं—समचतुरस्रसंस्थान, व्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान, स्वातिसंस्थान, वामनसंस्थान, कुब्जकसंस्थान और हुंडकसंस्थान।

देह के संस्थान—समचतुरस्रसंस्थान वह है जिसमें सब अंग जितने लम्बे बड़े होने चाहियें उतने ही हों। नाभि से नीचे का धड़ और नाभि से ऊपर का धड़ बराबर परिमाण का हुआ करता है। जिसके परिमाण में कुछ कमी बसी हो उसके समचतुरस्रसंस्थान नहीं है, नाभि पंचेन्द्रिय जीव के तो प्राय: होती ही है। घोड़ा, बैल, हाथी, ऊंट, आदमी सबके नाभि होती है और एकेन्द्रिय जीव में नाभि होती ही नहीं। दो इन्द्रिय आदिक जीवों में तो शायद नाभि होती हो या नहीं। समचतुरस्रसंस्थान में हाथ कितना बड़ा होना, पैर कितना बड़ा होना चाहिये, यह सब एक शिष्ट मात्र है। और इसी माप के आधार पर भगवान् की मूर्ति बनती है। नाभि से ऊपर के अंग बड़े हो जायें तो वह व्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान है। नाभि से नीचे के अङ्ग बड़े हो जायें तो वह स्वातिसंस्थान है, बौना शरीर हो सो वामनसंस्थान है, कुबड़ निकला हो तो वह कुब्जकसंस्थान है और अट्टसट्ट हो, इन 5 संस्थानों का कोई विविक्त संस्थान न हो तो वह हुंडकसंस्थान है।

आत्मतत्त्व में संस्थानों का अभाव—इन संस्थानों के बनने में यद्यपि जीव का परिणाम निमित्त है। जैसा भाव हुआ वैसा बंध हुआ और उसही प्रकार का उदय हुआ। संस्थान बने, फिर भी आत्मद्रव्य तो अमूर्त ज्ञानभाव मात्र है। उसमें संस्थान नहीं है। कैसा विचित्र संस्थान है? वनस्पति के पेड़ के देह देखो कैसी शाखायें फैली हैं, डालियां बनी हैं, पत्ते हैं, पत्तों की कैसी बनावट है? फूल देखो कैसी विचित्र यह सब प्राकृतिकता है, अर्थात् कर्मप्रकृति के उदय से होने वाली बातें हैं। ये सब आत्मद्रव्य में नहीं हैं।

आत्मतत्त्व में संहननों का अभाव—संहनन दो इन्द्रिय जीव से लेकर पंचेन्द्रिय जीव तक होता है। अर्थात् हड्डियों के आधार पर शरीर का ढांचा बनना सो संहनन है, एकेन्द्रिय में संहनन नहीं है, देवों में व नारकियों में भी संहनन नहीं है। संहनन 6 होते हैं। बज्रवृषभनाराचसंहनन—जहां बज्र के हाड़ हो, बज्र के पुट्ठे हों, बज्र की कीलियां लगी हों ऐसे शरीर का नाम है बज्रवृषभनाराचसंहनन। हम आप लोगों के तो हाथ नसों से बंधे हैं। इस हाथ में दो-दो हड्डियां हैं एक भुजा पर एक टेहुनी के नीचे और ये दोनों हड्डियां नसों से बंधी है। किन्तु जिनके बज्रवृषभनाराचसंहनन होता है उनके दोनों हड्डियों के बीच कीलियां लगी रहती हैं। जो मोक्ष जाने वाले पुरुष हैं उनमें नियम से बज्रवृषभनाराचसंहनन होता है।

बज्रांग बली—श्री हनुमान जी जब विमान में बैठे हुए चले जा रहे थे। दो तीन दिन का वह बालक पवनसुत, अञ्जनापुत्र विमान से खेलते-खेलते पहाड़ पर गिर गया, सब लोग तो विह्वल हो गये। जब नीचे आकर देखा तो जिस पाषाण पर गिरा था उसके तो टुकड़े हो गये और हनुमान जी अंगूठा चूसते हुए खेल रहे थे। सबने जाना कि यह मोक्षगामी जीव है। उसकी तीन परिक्रमा देकर हाथ जोड़कर हनुमान को उठाकर फिर विमान में लेकर चले। हनुमान जी का चरित्र बहुत शिक्षा पूर्ण है। उनके बज्रवृषभनाराचसंहनन था। इसी कारण उन्हें बज्रांगबली कहते है, जिसको अपभ्रंश करके लोग बजरंगबली बोलने लगे। इसका शुद्ध शब्द है बज्रांगबली। बज्रवृषभनाराचसंहनन जिसका शरीर हो, उसे बज्रांग कहते हैं। केवल हनुमानजी ही बज्रांग नहीं थे—राम, नील, सुग्रीव तीर्थंकर जो भी मुक्त गए हैं, वे सब बज्रांग थे, पर किन्हीं पुरुषों की प्रमुख घटनावों के कारण नाम प्रसिद्ध हो जाता है। यदि हनुमानजी उस पत्थर पर नहीं गिरते तो उनका नाम बजरंगबली न प्रसिद्ध होता। बहुत से पुरुष बजरंगबली होते हैं।

पौद्गालिकता के कारण सब संहननों का आत्मद्रव्य में अभाव—दूसरा संहनन है बज्रनाराचसंहनन। बज्र की हड्डी होती है, बज्र की कीली होती है, पर पुट्ठा बज्र का नहीं होता। तीसरा संहनन है नाराचसंहनन। बज्र के हाथ हैं, किंतु हड्डियां कीलियों से आरपार खचित हैं। जिनकी ये हड्डियां कीलियों से कीलित हैं, उनके हाथ पैर भटकते नहीं हैं। नसों से यह अस्थिजाल बंधा है, यदि झटका दे दिया जा यतो टूट जाए। चौथा संहनन है अर्द्धनाराचसंहनन। हड्डियों में कीलियां अर्द्धकीलित हैं और कीलितसंहनन में कीलियों का स्पर्श है। छठा है असम्प्राप्तासृपटिकासंहनन—याने नसाजालों से बंधा हुआ हाड़ का ढांचा हम आप सबका छठा संहनन है। हाड़ों की रचना इस आत्मतत्त्व में नहीं है, यह पौद्गलिकाय में है। ये पुद्गल कर्मोदय से उत्पन्न होते हैं। पुद्गल में ही विकार हैं। कुछ तो विकार ऐसे होते हैं कि निमित्त तो पुद्गल कम्र के उदय का है, पर जीवों में गुणों का विकार है, किन्तु इस श्लोक में जितनी चीजों को मना किया गया हैं। यह सब पुद्गल के उदय से भी हैं और पुद्गल में ही विकार हैं। ये सब परमस्वभाव कारणपरमात्मस्वरूप शुद्ध जीवास्तिकाय के नहीं होते हैं। अब इस प्रकरण में इस निषेधात्मक वर्णन का उपसंहार करते हुए आत्मतत्त्व का असाधारण लक्षण भी बतला रहे हैं।

गाथा 46

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंत्रग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।46।।

आत्मा की अमूर्तता—यह आत्मतत्त्व अरस है, इसमें कितने ही अर्थ भरे हैं। रस नहीं है, रस गुण वाला नहीं है, रसपरिणमन वाला नहीं है, जिसके द्वारा रसा जाए वह नहीं है, जो रसा जाए वह नहीं है और केवल रसज्ञान वाला भी तो नहीं है—कितने ही अर्थ निकलते हैं अरस शब्द से। यह आत्मा अरस है, इसी प्रकार अरूप है, रूपरहित है; अगंध है, गंधरहित है; अव्यक्त है, स्पर्श रहित है; अशब्द है और शब्द से रहित है, इसी कारण यह आत्मा अमूर्त है। इन विषयों का ज्ञान आत्मा के द्वारा इस असत्य अवस्था में हो रहा है। इस कारण जीवों को भ्रम हो जाता है। उस भ्रम को दूर करने के लिए इस लक्षणात्मक छंद में फिर भी निषेध किया गया है कि यह आत्मा पांचों इन्द्रियों के विषयों से रहित है। यह तो सब निषेधमुखेन वर्णन चल रहा है।

आत्मा के विध्यात्मकस्वरूप के परिज्ञान की आवश्यकता—देखिए कि यह आत्मा किसी लिंग के द्वारा ग्रहण में नहीं आता। लिंग मायने हैं चिह्न। इसके कोई संस्थान नीयत नहीं है—ऐसा निषेधमुखेन कुछ परिचय कराया गया। आत्मतत्त्व के सम्बंध में आचार्यदेव बतला रहे हैं कि यह रहित-रहित वाला ही पदार्थ नहीं है, बल्कि विध्यात्मक सद्भावात्मकतत्त्व है। उसका असाधारण लक्षण है चेतनागुण। किसी पुरुष के बारे में निषेधमुखेन वर्णन करते जावो कि यह पण्डित नहीं है, सेठ नहीं है, किसी का पिता नहीं है, बाबा नहीं है अमुक नहीं है तो निषेधमुखेन कुछ तो परिचय होता है, किंतु पूर्ण परिचय तब होता है जब विध्यात्मक बात कही जाए। यह यहाँ नहीं है, किन्तु यह है।

आत्मा का विध्यात्मक स्वरूप—एक बार बाबा भागीरथजी वर्णी जिन्हें हमारे गुरु भी गुरु मानते थे, बाईजी के यहाँ आये। अब उनसे बाईजी ने पूछा कि बाबाजी ! भोजन में क्या बनाएं? उड़द की दाल बनाएं? बोले कि नहीं। चावल बनाएं? नहीं। दलिया बनाएं? दसों चीजें पूछी, पर उत्तर में ''नहीं'' ही मिला। अब बाईजी ने प्रेम भरे गुस्से में आकर कहा कि तो क्या धूल बनाएं? किसी तत्त्व को मना करके भी चीज पहिचानी जाती है, मगर पूर्ण परिचय तब तक नहीं होता है, जब तक कि उसमें विध्यात्मक बात न कही जाए। यहाँ पर विध्यात्मक असाधारण और विशेष लक्षण कह रहे हैं। 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्।' चेतन गुण वाला यह आत्मतत्त्व है।

भैया !इस आत्मा का कार्य चेतने का है, किंतु संसारावस्था में यह संसारी जीव किस-किस प्रकार से अपने आपको चेतता है? दिशा बदल गयी। नाव तो ठीक चल रही है, पर कर्णधार जो करिया का डण्डा पकड़ रहता है, वह जिस प्रकार अपने करिया को बदल दे उसी दिशा में नाव चलने लगती है। नाव चलाने वाला नाव चलाते जाता है, पर दिशा बदलने वाला कर्णधार होता है। समग्र जीव चेतने का काम किए जा रहे हैं, किंतु उपाधि के सन्निधान में होने वाली विचित्र परिस्थितियां इस ज्ञेयचेतन की दिशा को बदल देती हैं।

कर्मफलचेतना—स्थावर जीव जिसके केवल एक स्पर्शन ही इन्द्रिय है, जीभ, नाक, आँख और कान नहीं हैं—ऐसे प्राणी पृथ्वी, जल, अग्नि , वायु और वनस्पतिकायिक जीव हैं। इनके कर्मफलचेतना होती है। ये अपने शरीर के द्वारा कोई कर्म नहीं कर पाते, कोई चेष्टा नहीं कर सकते। ये पतले-पतले गोलमटोल केचुवे भी लड़खड़ाते घिसटते हुए चल फिर रहे हैं ऐसी भी क्रियाएं इस एकेन्द्रिय जीव में नहीं होती है। पृथ्वीकायिक जीव तो कोई चेष्टा करता हुआ नजर नहीं आता, जलकायिक जीव भी कोई चेष्टा नहीं करता। यदि जमीन ढलाव पर है तो वह नीचे खिसक जायेगा, पर वह जल की चेष्टा नहीं है। यों तो अचेतन गोलियां भी जमीन नीची पाकर लुढ़क जाती है। अग्निकाय भी कोई चेष्टा नहीं करती, वह तो उसका शरीर है। वायुकायिक भी चेष्टा नहीं करते हैं, क्योंकि चेष्टा तो वहाँ मानी जाए कि पूरे शरीर में से कोई एक आधा अंग चले तो उसको चेष्टा कहते हैं। समूचा ही जीव बह जाए तो उसे शरीर की चेष्टा नहीं कहते हैं। जैसे कि जोंक और केचुवा कुछ मुड़ लेते हैं तो वह चेष्टा है। वनस्पतिकाय में भी चेष्टा नहीं है, इस कारण स्थावर जीव में कर्मचेतना नहीं मानी गई है। सूक्ष्मदृष्टि से देखा जावे तो आत्मा के द्वारा जो भाव किए जाएं, उसका नाम कर्म है और ये कर्म स्थावरों में भी पाये जाते हैं, लेकिन यहाँ सारी चेष्टा हो सके, इस प्रकार के जीव में होने वाली क्रियाओं का प्रयोजन है। स्थावर जीव अपने इस चैतन्यगुण का उपयोग कर्मफल की चेतना में ही गवां देता है।

कर्मचेतना—त्रस जीव दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जी कर्मफलसहित कर्मचेतना में व्यतीत करते हैं। वे क्रिया भी करते हैं और कर्मों का फल भी भोगते हैं, किंतु कार्यपरमात्मा और कारणपरमात्मा में शुद्ध ज्ञानचेतना होती है। यद्यपि आशय की अपेक्षा अविरत सम्यग्दृष्टि जीव से ज्ञानचेतना शुरू हो जाती है, किंतु पूर्णज्ञानचेतना याने सर्वथा ज्ञानचेतना परिणमन भी ऐसा बन जाए—ऐसी ज्ञानचेतना या तो भगवान् में स्थित है अथवा सहजभावरूप से आत्मस्वरूप में उपस्थित है। कार्यपरमात्मा और कारणपरमात्मा के शुद्ध ज्ञानचेतना होती है। हमें किसकी उपासना करनी चाहिए? किसके लिए हम अपना तन, मन, धन समर्पण कर दें?

उपास्यतत्त्व—इस असार संसार में बसते हुए इस मुझ बराक को कौनसा ऐसा आधार है, जिसका आश्रय पाकर यह संसार का प्राणी संसार के संकटों से छुटकारा पा सकता हो? वह तत्त्व निश्चय से तो कारणपरमात्मतत्त्व है और व्यवहार से कार्यपरमात्मतत्त्व है। इन दो तत्त्वों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी हमारे लिए उपादेयभूत नहीं है। कार्यपरमात्मा अर्थात् प्रकट भगवान् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्दकरि भरपूर शुद्ध, अपने आपके सत्त्व के कारण शुद्ध विकासरूप भगवान् आत्मतत्त्व परमात्मा हमारे उपासने के योग्य है।

स्वयं का परमार्थ प्रयोजन—हे मुमुक्षुवों ! अपने आपमें ऐसा निर्णय रक्खो कि मेरा वास्ता तो यथार्थस्वरूप से है। न किसी गांव से है, न किसी सम्प्रदाय से है, न किसी गोष्ठी से है। मैं तो एक आत्मा हू, चेतन हू। कुछ हो, इस मेरे का नाता यथार्थता के साथ जुड़ा है अन्य किसी व्यवहार अथवा उपचार से नहीं जुड़ा है। मैं मनुष्य ही नहीं हू। तो उपचार और व्यवहार में कहां चित्त रगड़ें, कहां धर्म खोजें? मैं शुद्ध चिदानन्दस्वरूप कारणपरमात्मतत्त्व हू। मेरी भ्रम से यह हालत बनी हुई है। भ्रम दूर किया कि बात ज्यों की त्यों है। शुद्ध

ज्ञानचेतना भगवान् के हैं, कार्यपरमात्मा के हैं, जो सारे विश्व का ज्ञाता है, फिर भी निज अनन्त आनन्दरस में लीन है।

प्रभुभक्तिरूप छत्रछाया—प्रभु से यह आशा न रक्खो कि यह प्रभु मुझे हाथ पकड़ कर तार ले जाय। प्रभु से शिक्षा मत मांगो कि हे प्रभु तुम मुझे सुख दो, मेरे दु:ख दूर करो। प्रभु तो ऐसा स्वच्छ उत्कृष्ट आदर्श रूप है जिसकी दृष्टि मात्र से संकट टलता है, सुख मिलता है, पाप दूर होते हैं। कोई पुरुष किसी छाया वाले पेड़ के नीचे बैठकर पेड़ से हाथ जोड़कर कहे कि हे पेड़ ! तुम हमें छाया दो तो सुनने वाले लोग उसे बुद्धिमान् कहेंगे कि मूर्ख कहेंगे? मूर्ख कहेंगे। अरे छाया में बैठे हो, फिर भी पेड़ से छाया के लिए हाथ जोड़ रहे हो। अरे पेड़ ने तुझे छाया दी है या तू ही छाया में रहकर सुखी हो रहा है। ऐसे ही भगवान् की भक्ति की छाया में रहकर भक्तजन भगवान् से भीख मांगे कि हे प्रभु ! मुझे सुख दो, मेरा दु:ख दूर करो, ऐसा यदि कोई कहे तो उसे ज्ञानीसंत पुरुष बुद्धिमान् न कहेंगे। यह बहुत मर्म की बात है। अरे प्रभु के स्मरणरूप छाया में जब तू बैठा है तो अपने आप दु:ख कटेगा, आनन्द मिलेगा, ज्ञानप्रकाश होगा।

कार्यसमयसार व कारणसमयसार की उपादेयता—भैया ! एक तो यह कार्यपरमात्मा सर्वदा एकरूप होने से उपादेय है, वह शुद्ध ज्ञान चैतन्य स्वरूप है, यह प्रकट शुद्ध ज्ञानचेतना भी सहजफल स्वभावरूप है और निश्चय से अपने अन्तर में शाश्वत प्रकाशमान चित्स्वरूप कारणपरमात्मतत्त्व भी केवल ज्ञानचैतन्यरूप है, ज्ञानस्वभावमात्र है, शुद्धज्ञानचेतना सहजफल स्वभावरूप है। इस कारण यह कारणपरमात्मतत्त्व भी उपादेयभूत है। कार्यपरमात्मा और कारणपरमात्मा, यों सर्वदा शुद्ध ज्ञानचेतना रूप होने के कारण उपादेयभूत हैं। उनमें से ये कार्य शुद्ध ज्ञानचेतना आदर्श व्यवहार है व कारण शुद्ध ज्ञानचेतना अन्तस्तत्त्व है, ऐसा यह मैं आत्मतत्त्व हू जिसे भूलकर पर में लगकर मैं भिखारी बनकर जन्ममरण किया करता हू। यह कारणपरमात्मतत्त्व जयवंत हो।

उपादेयता का कारण सहज शुद्ध ज्ञान चेतना—इस प्रकरण में यह शिक्षा दी गयी है कि कार्यसमयसार और कारणसमयसार के ही शुद्धज्ञान चेतना होती है जो कि सहज फलरूप है। इस कारण अपने आपको निज कारणपरमात्मरूप में जो कि सहज शुद्धज्ञान चेतनात्मक है, संसार अवस्था अथवा मुक्त अवस्था में सदा एकस्वरूप रहता है वह तो उपादेय है और इस उपादेय निज कारणपरमात्मा के स्मरण के लिए यह कार्यपरमात्मा, कार्यसमयसार भी उपादेय है।

कारण नियमसार की विविक्तता व एकरूपता—जो कारणपरमात्मतत्त्व द्रष्टव्य है उसही के सम्बन्ध में यह सब ग्रन्थों में वर्णन चल रहा है। यह आत्मा सर्व परपदार्थों से भिन्न हैं और जो इसके पीछे-पीछे चलने वाले कर्म हैं वे भी इस आत्मतत्त्व से भिन्न हैं और इन दोनों के सन्निधान में होने वाले जो रागद्वेषादिक परिणाम हैं वे भी इस आत्मतत्त्व से भिन्न हैं। यह आत्मा तो अपने गुणों से अलंकृत है। यह कारणपरमात्मतत्त्व, कारणनियमसार सर्व जीवों में, सर्व आत्मावों में शाश्वत एक स्वरूप है। चाहे बंध अवस्था हो, चाहे मुक्त अवस्था हो, सर्व अवस्थावों में यह आत्मद्रव्य, परमात्मपदार्थ समस्त कर्मादिक परवस्तुवों से भिन्न है। सारा निर्णय एक अपने आपके अन्तर में इस स्वभाव की गुन्थी सुलझने पर निर्भर है। बड़े-बड़े ऋषि योगी संतजन जो इसके रुचिया हैं, जानकार हैं, उन सबके द्वारा यह विदित है और ठीक यथार्थ एक रूप में विदित है। जैसे सही सवाल एक ही तरह के निकलते हैं और गलत सवाल भिन्न-भिन्न प्रकार से गलत होते हैं, इसी

तरह जितने भी ज्ञानी संतों के अनुभव है उस अनुभव में आया हुआ यह कारणपरमात्मतत्त्व सबको एक ही स्वरूप विदित होता है। इसी सम्बन्ध में अब अगली गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव कह रहे हैं।

गाथा 47

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण।।47।।

शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि से संसृति और मुक्ति में जीवों की अविशेषता—शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से जीवों का स्वरूप दिखाया जा रहा है। केवल द्रव्यत्व की दृष्टि से संसारी जीवों में और मुक्त जीवों में कोई विशेषता नहीं है। जो कोई अत्यन्त आसन्न भव्य जीव हैं वे भी पहिले संसार अवस्था में संसार के कष्टों से छके हुए थे, पर सहज वैराग्य का उदय होने से अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रहों का परित्याग करके मुक्त हुए। जितने भी सिद्ध हुए हैं वे सब भी पूर्व अवस्था में हम आपकी तरह नाना अवस्थावों को धारण किए जा रहे थे, उन्हें किसी समय यथार्थ बोध हुआ, आत्मा और अनात्मा का भेदविज्ञान हुआ, अनात्मतत्त्व का परिहार किया और आत्मतत्त्व का उपयोग जुड़ाया कि वे कर्मों का विनाश करके मुक्त हो गए। वे भी वही हैं जैसे यहाँ के जीव हैं। एक मात्र अवस्था में ही तो अन्तर आ गया।

दृष्टान्तपूर्वक स्वरूपसाम्य का समर्थन—जैसे स्वर्णत्व सब स्वर्णों में एक ही है। कोई कई बार तपाया और शुद्ध किया जाने से अत्यन्त शुद्ध हुआ है और किसी स्वर्ण में तपाने या शुद्ध होने की योग्यता न मिलने से अशुद्ध अवस्था में पड़ा है किन्तु स्वर्णत्व की दृष्टि से शुद्ध स्वर्ण और अशुद्ध स्वर्ण में जो स्वर्णत्व है वह भी एक समान है। सर्राफ लोग अशुद्ध स्वर्ण में भी यह झांक लेते हैं कि इस पिण्ड का वजन तो एक तोला है, किन्तु इसमें स्वर्ण पौन हिस्सा ही दिखता है, 12 आने ही है—ऐसा जब वे तकते हैं तो उस अशुद्ध पिण्ड में भी उन्होंने केवल स्वर्णत्व को देखा और इस दृष्टि से वे पूरे दाम नहीं देते हैं अर्थात् 12 आने भर के उस स्वर्णत्व के पूरे रेट से दाम देते हैं और कोई उस एक तोला के पिण्ड को देखकर यों कहते हैं कि यह इतना अशुद्ध है इस कारण इसका इतना ही रेट होगा, , कम रेट लगाते हैं। तो अशुद्ध पिण्ड में भी जैसे शुद्ध स्वर्णत्व निरखा जा सकता है ऐसे ही इस अशुद्ध बंधन अवस्था में भी, संसार अवस्था में भी शुद्ध जीवत्व निरखा जा सकता है।

शुद्ध होने में प्रथम प्रयोग—शुद्ध जीवास्तिकाय की दृष्टि से जैसे सिद्ध आत्मा है ऐसे ही भव को प्राप्त हुए ये संसारी जीव भी हैं। जो कोई भी जीव कार्यसमयसार रूप हैं उनमें भी उस काल भी कारणसमयसार मौजूद है। शक्ति और व्यक्ति, जो शुद्ध है उसमें भी शक्ति और व्यक्ति है और जो अशुद्ध है उसमें भी शक्ति और व्यिक्त है। अशुद्ध अवस्था में शक्ति की व्यक्ति अशुद्ध है, विकृत है और शुद्ध अवस्था में शक्ति की व्यक्ति शुद्ध है। जैसे अशुद्ध स्वर्ण को शुद्ध होने में कुछ प्रयोग होते हैं, इसी प्रकार इस अशुद्ध जीव के शुद्ध होने का भी प्रयोग है। वह प्रयोग है वस्तुस्वरूप का ज्ञानाभ्यास करना। यह है प्रथम प्रयोग। पदार्थ के स्वरूप का जब तक यथार्थ निर्णय नहीं है, तब तक धर्म में प्रवेश ही नहीं है। धर्म शरीर की चेष्टा का नाम नहीं है। धर्म किसी

वचन बोल देने का नाम नहीं है, किन्तु मोह क्षोभरहित आत्मा के परिणाम का नाम धर्म है। जहां अज्ञान न हो, मोह न हो, रागद्वेषादिक झंझट न हों, उसे धर्म कहते हैं। सर्वप्रथम आवश्यकता है कि मोह न हो। मोह न रहे इस जीव में, इसका उपाय यही है कि मोह नाम है दो पदार्थों में स्वामित्व मानने का तो उन पदार्थों को स्वतन्त्र समझ लीजिए। एक दूसरे का स्वामित्व न जाना जाए, इसी का नाम निर्मोहिता है तो अब वस्तु के स्वरूप को पहिचानिए।

भक्ति और ज्ञान का प्रसाद—भैया ! भगवान् की भक्ति का प्रसाद और है तथा ज्ञानाभ्यास का प्रसाद और है। ज्ञानी और भक्ति ये दोनों सहयोगी हैं, किन्तु भक्ति का विकास और है, ज्ञान का विकास और है। प्रभु की भक्ति ज्ञान में भी हो सकती है और अज्ञान में भी हो सकती है। अज्ञान में होने वाली भक्ति से कोई लाभ नहीं है, यह संसार ही संसार है और व्यर्थ का श्रम है। ज्ञान में होने वाली भक्ति में यह ही अपने को निर्णय होता है कि जैसा शिवस्वरूप यह भगवत्तत्त्व है, वैसा ही शिवस्वरूप यह मैं आत्मतत्त्व हू और जैसे यहाँ अपने हित की बात किसी को मिलती हो तो कैसा अनुराग बढ़ता हैं? ऐसे ही ज्ञानी जीव को अपने हित की बात में होने वाले विकास की बात भगवान् के स्वरूप के आदर्श से मिलती हो तो उस ज्ञानी के प्रभु की भक्ति भी बहुत बढ़ जाती है, पर भक्ति करे अथवा ज्ञानयोग में हो तो जितना भी निर्मोह होने का कार्य है, वह सब ज्ञान का फल है।

गुरुप्रसाद का उपाय—जगत् में अनन्तानन्त तो जीव हैं, अनन्तानन्त पुद्गल हैं, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य हैं। ये सबके सब पदार्थ अपने स्वरूप को नहीं तजते है। यदि कोई पदार्थ अपने स्वरूप को तजकर किसी पररूप हो जाए तो आज तो यह लोक दिखने को न मिलता, सब शून्य हो जाता है। ये सब पदार्थ अब तक अवस्थित हैं, यह इसका एक प्रबल प्रमाण है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप में ही अपना अस्तित्त्व रखते है , परस्वरूप में नहीं। तो यह यथार्थज्ञान परमगुरूवों के प्रसाद से प्राप्त होता है। आत्महित के प्रसंग में गुरुओं का बहुत अनिवार्य आलम्बन है और इन दोनों में भी सर्वप्रथम आलम्बन तो गुरुवों का है। देवों की बात किसने सिखाई? वे हैं गुरु। तो गुरुवों का प्रसाद पाकर जो परमागम का अभ्यास बना है, इस अभ्यास के बल से वस्तु का स्वरूप पहिचाना और मोह दूर किया।

गुरुप्रसाद का उपाय—गुरुवों का प्रसाद कैसे मिल सकता है? इसका उपाय सीधा एक है विनय। विनयगुण की बड़ी महिमा है। इस विनय को तप में शामिल किया गया है। विनय से एक तो गुरु का चित्त शिक्षण देने में प्रमुदित होता है और वह चाहने लगता है कि मर्म की बात, हित की बात इनको विशदरूप से बता दिया जाए और तत्त्व की बात गुरु का अधिक सहवास करने पर विनयपूर्वक उनकी सेवा संग में रहकर, बिना जाने किस क्षण में कोई समय मिलता है। कोई चाहे कि मैं एक दिन संग शुश्रूषा में रहकर सर्व बातें सीख लूं अथवा गुरु भी चाहे कि मैं इन्हें एक दिन में अनुभव की बात बता दूं तो यह बात कठिन है। तैयार हो करके गुरु कुछ मार्मिकतत्त्व बता नहीं पाता, किसी समय सहजरूप से कोई तत्त्व की बात यों निकलती है कि शिष्य उसे ग्रहण करके अपनी दृष्टि निर्मल बना लेता है।

विनय में शिक्षा ग्राहित्वशक्ति—दूसरी बात यह है कि विनयगुण से सींचा हुआ हृदय इतना पवित्र, कोमल और शिक्षाग्राही बन जाता है कि जो कुछ बताया जाए, वह उसके ग्रहण में आता जाता है। जैसे अन्दाज कर

लो कि कोई पुरुष घमण्ड में आकर किसी गुरु से कहे कि तुम हमें अमुक बात बताओ और कुछ मान आदिक कषायों में अनिष्ट होकर सीखना चाहे तो क्या वह सीख सकता है? अध्यात्मतत्त्व की बात तो विनय बिना आती ही नहीं है, किन्तु लौकिक कलाओं की बात, जैसे कोई यंत्र चलाना सीखना या कोइ आर्ट सीखना चाहे या लौकिक विद्या सीखना चाहे तो वह भी लाठी के जोर से नहीं सीखा जा सकता है। एक छोटा भी कोई सा उस्ताद हो और उससे बड़े श्रीमंत भी कोई कला सीखना चाहें तो वह भी भली प्रकार तभी सीख सकता है, जबकि विनयपूर्वक सीखना चाहे। मुक्ति के मार्ग में यह प्रथम उपाय कहा जा रहा है कि अभ्यास करना मुक्ति मार्ग का प्रथम उपाय है।

भगवान् और भक्त में स्वरूपसाम्य—ज्ञान के अभ्यास की विधि में प्रथम बात यह है कि परमगुरुवों का प्रसाद प्राप्त करना। उस प्रसाद के बल से जो परम आगम का अभ्यास बना, उस अभ्यास से और आगे बढ़कर उन्होंने उस स्वतन्त्र ज्ञान प्रकाशमात्र आत्मस्वरूप को अनुभव में उतारा। यह अनुभव इतना आनन्ददायक है कि अपने आपमें यह अनुभवी व्यक्त और तुष्ट रहता है। इस महान् आनन्द के प्रसाद से भव-भव के संचित कर्म क्षीण हो जाते हैं। तब यह पवित्र आत्मा सिद्ध हो जाता है। तो जो ऐसे सिद्ध हुए हैं वे जीव भी और सिद्ध होने के यत्न में लग रहे हैं वे जीव भी तथा जो अज्ञानी बहिरङ्ग संसारी जीव हैं वे भी सबके सब जीवत्व स्वरूप की दृष्टि से एक समान हैं। यदि समान न हों तो ये जीव कितना भी यत्न करें मुक्त नहीं हो सकते। हम धर्म करके जो कुछ भी बनना चाहते हैं वे और हमसे भी अधम और जन क्या वे स्वरूपदृष्टि से एक समान नहीं हैं? यदि न हों एक समान तो हम उत्कृष्ट बन ही नहीं सकते। जिसके लिए हम धर्म का उद्यम कर रहे हैं।

स्वरूपसाम्य में एक फलित हेतु—यदि मुक्त भगवान् और हम आप स्वरूपदृष्टि से एक समान न हों तो धर्म करने की कोई जरूरत नहीं है। क्योंकि इससे कुछ नतीजा नहीं निकलता—सीझे हुए चने और बोरी में रक्खे हुए चने स्वरूपदृष्टि से एक समान हैं अथवा नहीं? हाँ बोरी में कंकड़ भरे हों तो एक स्वरूप नहीं हैं क्योंकि सीझे हुए चनों की तरह कंकड़ों को सीझाया नहीं जा सकता है। पर ये चने सीझे हुए चनों के समान ही जाति के हैं, स्वरूप के हैं। इसलिए ये चने भी सिझाई के उपाय से सीझ सकते हैं। हम आप मुक्त हो सकते हैं क्योंकि मुक्त का स्वरूप और मेरा स्वरूप एक समान है। न हो एक समान तो बालू की तरह हम भी उस सिद्धि को करने में समर्थ न हो सकेंगे।

प्रगति का दृष्टिबल—प्रभु का स्वरूप बाधारहित निर्मल केवलज्ञान, केवल दर्शन, केवल सुख और केवल शक्ति करि सहित है। वहाँ कोई तरंग ही नहीं उठती। रागद्वेष की तरंग उठे तो वह सिद्ध नहीं है अथवा दुःख होगा। यह गुण उनमें प्रकट नहीं हो सकता। प्रभु अनन्त विकासरूपसिद्ध कार्यसमयसार रूप भगवान है। जैसे वह है तैसे ही यहाँ के संसार के प्राणी है। जिस नय से प्रभु में और हममें समानता है उस नय की प्रमुख दृष्टि बनाए और उस शुद्धनय के प्रसाद से स्वरूप अवलोकन करके अपनी प्रसन्नता निर्मलता प्राप्त करिये। जिस कारण से संसारी जीव और सिद्ध आत्मा एक समान हैं उसी कारण से इस समय भी इस संसारी जीव में उन प्रभु की भांति जन्म जरा मरण आदिक दोषों से रहितपना और सम्यक्त्व आदिक गुण करके सहितपना है, यह भी हम निरख सकते हैं।

प्रज्ञा की पहुंच—लोग कहते हैं कि ''जहां न जाय रवि, वहाँ जाय कवि'' गुफावों में सूर्य की किरणें नहीं पहुंच सकती पर कवि की प्रतिभा में, गुफा में पहुंच हो सकती है। और यह आत्मगुफा जहां कि वर्तमान काल में सभी प्रकार के विकारों का नृत्य हो रहा है, ऐसे इस आत्मा में, गुफा में भी हम उस शुद्ध तत्त्व तक पहुंच जायें, यह शुद्ध आत्मा का अतुल प्रताप है। यह प्रज्ञा का बल है। चाहे सम्यग्ज्ञानी जीव हो, चाहे मिथ्याज्ञानी जीव हो—सर्वजीवों में उनके सत्त्व के कारण उनके सहजस्वरूप से शुद्धता है अर्थात् अनाकुलता है। पदार्थ स्वयं अपने आपमें जिस स्वरूप से है उसही स्वरूप से वे हैं। जब स्वरूप साम्य है तो फिर में इसके भेद को क्यों देखू।

हमारा एकमात्र लक्ष्यभूत द्रष्टव्य—देखिये संसारी जीवों में स्वरूप साम्य भी है और भेद की कलमषता भी है, पर जब हम भेद की कलमषता के परिज्ञान में लगते हैं तो हमें धर्म हाथ नहीं लगता, हित का पंथ नहीं चल पाता। मेरा कुछ लाभ नहीं होता उल्टी हानि है और जब हम सब जीवों में स्वरूपसाम्य की दृष्टि बनाते हैं तो तुरन्त ही हम धर्ममय बन जाते हैं, अनाकुलता प्राप्त होती है। सारी सिद्धियां इसमें भरी हुई हैं। तब फिर अब सोच लीजिए कि केवल देखने भर का ही तो काम है। उस भेद की कलमषतावों को मैं क्यों देखू जिनमें कुछ लाभ भी नहीं है। मैं तो उस स्वरूपसाम्य को ही निरखा करू जिसमें कुछ लाभ मिलता है। संसार के संकट टलेंगे। सदा के लिए कर्मबंधन मिटेंगे, जिस दृष्टि द्वारा उस दृष्टि का ही हमें निरन्तर उपयोग करने का ध्यान रखना चाहिए बाह्य में कोई आ पड़े की बात हो कि यह करना ही पड़ेगा अमुक कार्य, तो आ पड़े की हालत में आ पड़े को, दृष्टि से कर डालिए, अन्य काम, किन्तु रुचिया होकर मेरा कर्तव्य वह नहीं ही करने का हैं और कुछ करने का काम ही नहीं है ऐसा समझ कर आ पड़े वाले काम से छुट्टी मिलते ही इस ही स्वभावदृष्टि के कार्य में लग जाना चाहिए।

कृतकृत्यता—आनन्द है तो कृतकृत्यता में है। भगवान् कृतकृत्या है, इस कारण आनन्दमय है। कृतकृत्य उसे कहते हैं जिसने करने योगय सब काम कर लिया। सब किसने कर लिया? जिसको कुछ करने लायक ही नहीं रहा। एक स्वभावदृष्टि करके ज्ञान सुधार का पान करके संतुष्ट बने रहने का ही काम जिसका है उसने सब कुछ कर लिया अर्थात् करने को कुछ भी नहीं रहा। यथार्थज्ञान के परिणाम में यही एक बात बनती है—अब मेरे करने के लिए बाहर में कोई कार्य नहीं रहा। ज्ञानी संत बाहर में कुछ कर भी रहा है तो भी वह कर नहीं रहा है, क्योंकि यथार्थज्ञान अन्तर में प्रकाश बनाए हुए है कि तू तो केवल अपना भावमात्र कर रहा है। बाह्यपदार्थों में तू कुछ परिणति नहीं करता। इस ज्ञानपरिणाम में उसे संतोष, तृप्ति रहती है, तब फिर मैं जीवों की भेद कलमषतावों को न जान कर उनके स्वरूपसाम्य को ही जानता रहू, यही यत्न करना, सो ही सिद्ध होने का अमोघ उपाय है।

अभेदप्रवाह—इस निज परमस्वभाव को देखो—यह कारणपरमात्मतत्त्व अनादि काल से ही शुद्ध है अर्थात् केवल अपने स्वरूप को लिए हुए है। इस उपाधि के सम्बन्ध के कारण चाहे इन आत्मावों में रागद्वेषादिक विकार हो रहे हों, कुबुद्धियां नाच रही हों और कितने ही संत ऐसे हैं जिनके स्वभावदृष्टि बनी है और वे सुबुद्धि का विलास कर रहे हैं, पर इन सभी आत्मावों में यह कारणपरमात्मतत्त्व अनादि से शुद्ध है। किसी नय का आलम्बन करके व्यवहारनय का आलम्बन करके अथवा भेदवादी निश्चयनय का आलम्बन करके मैं उन

आत्मावों में क्या भेद करू? जिनकी रुचि संसार के किसी कार्य में नहीं है, जिनकी दृष्टि एक आत्मस्वरूप के अनुभवन में ही लगना चाहती है, ऐसे पुरुष को इतना भी भेद सहन नहीं है कि इस जीव को इतना तो तक लें कि यह मनुष्य है, यह पशु है, यह पक्षी है अथवा अमुक रागद्वेष के वश है या अमुक रागद्वेष से परे है। भगवान् का भी भेद और भवालीन का भेद जिसकी दृष्टि को सहन नहीं है, ऐसे ज्ञानी के अनुभव की यह बात कही जा रही है। मैं अब क्या भेद करू, इस ही सम्बन्ध में फिर कुन्दकुन्दाचार्य देव कह रहे हैं।

गाथा 48

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया।।48।।

कार्यसमयसार और कारणसमयसार की अविशेषता—इस गाथा में कार्यसमयसार और कारणसमयसार की विशेषता नहीं रक्खी है अर्थात् दोनों का साम्य बताया है। कार्यसमयसार का अर्थ है भगवान्। समयसार मायने यह आत्मस्वरूप और यह आत्मस्वरूप जहां शुद्ध कार्यरूप बन गया है, शुद्ध विकासरूप बन गया है उसका नाम है कार्यसमयसार और कारणसमयसार। जो चीज विशुद्ध बन सकती है उसका नाम है कारणसमयसार या जो विशुद्ध बन रहा है ऐसा जो आंतरिक स्वभाव है वह है कारणसमयसार। कारणसमयसार निगोद से लेकर सिद्धपर्यन्त प्रत्येक जीव के एक समान है। जिसे कहते है आत्मा का स्वरूप। आत्मा के स्वरूपसत्त्व के कारण आत्मा में जो सहजस्वभाव है उसका नाम है कारणसमयसार। यह सब आत्मावों में है।

उपदेशसार—इस कारणसमयसार की पहिचान जब नहीं होती है तो अन्य चेतन अचेतन पदार्थों में इसे उपयोग लगाना पड़ता है। करें क्या, कहां जाय यहाँ इस आत्मा का रमने का स्वभाव है। यह कहीं न कहीं रमेगा जरूर। जब इसे अपनी सहज निधि का भान नहीं है तो और कहीं लगेगा। इसका तो लगने का प्रयोजन है, किन्तु भिन्न-भिन्न कार्यों में लगना यह इसके लिए क्लेशदायी है। और एकस्वरूप कार्य में लगना इसके स्वरूप की बात है। जितने भी उपदेश हैं सर्व उपदेशों का सार यही है कि अपने आपमें ही विराजमान् सहजस्वभाव के दर्शन कर लो। यह कार्य कर पाया तो सब कुछ कर लिया, वही भगवान् का सच्चा प्यारा है। जिसने अपने आपके निर्विकल्प सहज चैतन्यस्वरूप का अनुभव किया है। उस कारणसमयसार में और कार्यसमयसार में विशेषता नहीं है—इस बात को इस गाथा में कह रहे हैं।

दृष्टान्तपूर्वक संसारी व मुक्त जीवों में स्वरूप साम्य का समर्थन—भैया ! एक मोटी सी बात जो एक आध बार और भी कह चुके होंगे। जल का स्वभाव और निर्मल जल का विकास इन दोनों में अन्तर नहीं है। एक पानी बिल्कुल निर्मल जल है, कांच में साफ भरा हुआ है और एक पानी किसी पोखरा से लाए हैं और मटीला गंदा है। उस मटीले गंदे पानी को यदि यह पूछा जाय कि इस जल का स्वभाव कैसा है? तो क्या कोई यह कहेगा कि जल का स्वभाव गंदा है, मलिन है? यद्यपि वह मलिन है पिया जाने योग्य नहीं है, फिर भी उसमें जल के स्वभाव को पूछा जाय तो उतनी ही बात कही जायेगी जितनी बात इस निर्मल जल के बारे में कह सकते है। निर्मल जल में और जल के स्वभाव में अन्तर नहीं है। वह जल का स्वभाव ही जब

परसम्बन्ध से रहित है तो निर्मल जल के रूप में व्यक्त है। यों ही समझो कि समस्त संसारी जीवों में उनके स्वभाव में और परमात्मा के विकास में क्या कोई अन्तर है?

भवालीन और भवातीत में स्वरूपसाम्य का कुछ विवरण—यद्यपि ये संसारी प्राणी भवों को धारण कर रहे हैं, रागद्वेषादिक भावों से लिप्त हो रहे हैं, इतने पर भी इन आत्मावों के स्वभाव की बात कही जाय तो वही स्वभाव है जो भगवान् में है और इस ही स्वभावदृष्टि से यह कहा गया है कि ''मैं वह हू जो है भगवान्, जो मैं हू वह है भगवान्।'' यों ही साधारण बात नहीं है कि कह दिया जाय कि भगवान् है सो हम हैं। अरे यहाँ हम तो लटोरे खचोरे बन रहे हैं, शल्यों से, चिंतावों में विकारों से लदे हुए हैं, चैन नहीं है, अँधेरा पड़ा है, मेरी और भगवान् की कहीं बराबरी हो सकती है? लेकिन हम अपने आपमें स्वभाव को निरखते है और भगवान् के प्रकट स्वरूप को निरखते हैं तो वहाँ अन्तर नहीं मालूम होता है। यदि अन्तर होता तो मैं कभी संकटों से मुक्त हो ही नहीं सकता। जैसे लोक के अग्र भाग पर विराजमान् सिद्ध भगवान् अशरीर हैं, अविनाशी हैं, अतीन्द्रिय हैं, निर्मल हैं, विशुद्ध आत्मा हैं, इस ही प्रकार इस संसार अवस्था में भी यह जीव ऐसे ही स्वरूप वाला है।

समयसार का अशरीरत्व—भगवान् अशरीर हैं क्योंकि वहाँ 5 प्रकार के शरीरों का प्रपंच नहीं रहा। वे प्रकट अशरीर हैं और यहाँ यह मैं आत्मतत्त्व निश्चय से अपने आपके स्वरूप की दृष्टि से स्वभावत: सर्व प्रकार के शरीरों के प्रपंचों से रहित हू। सिनेमा का पदार्थ बिल्कुल साफ है, शुद्ध है। अब उसके सामने फिल्म चलाने से उस पर्दे पर नाना चित्रण हो जाते हैं। हो जावो चित्रण, फिर भी क्या पर्दे के स्वरूप में चित्रण है? वह तो अब भी केवल शुद्ध है, साफ स्वच्छ है। एक मोटी बात कह रहे हैं। इस ही प्रकार इस आत्मा के साथ वर्तमान काल में हम आपके इतने शरीरों का प्रपंच लग रहा है। लग रहा है लगने दो, किन्तु जरा अपने उपयोग मुख को अपने ज्ञानसिन्धु में डुबाकर निरखें तो यह केवल ज्ञान प्रकाशमात्र मैं आत्मा हू। यहाँ शरीर का प्रपंच नहीं है। यह मैं कारणसमयसार भी अशरीर हू। ''जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ।'' पानी की तह के ऊपर दृष्टि रखने से पानी के भीतर पड़े हुए रत्न जवाहरातों का क्या परिचय हो सकता है? नहीं हो सकता। इस ही प्रकार इस ज्ञानानन्द सिंधु के ऊपर पर्यायरूप में तैरने वाली, रुलने वाली, भागने वाली, आई गयी की प्रकृति वाली—इन विभावतरंगों को निरखकर ही क्या इस आत्मतत्त्व के भीतर की निधियों का परिचय पा सकते हैं? नहीं । यह तो इस ज्ञानसमुद्र में डूब कर अन्तर में ही निरखे तो इसे आत्मनिधि का परिचय हो सकता है। यह मैं अशरीर हू।

समयसार का अविनाशित्व—भगवान् सिद्ध परमात्मा नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति—इन चारों गतियों से रहित हैं। तो अब उनका विनाश क्या? नष्ट तो ये ही हुआ करते हैं चार प्रकार की गतियों वाले जीव। मरण तो इनका ही होता है। जब ये चारों प्रकार के भव नहीं रहे तब फिर इनका विनाश क्या? सिद्ध प्रभु इसी कारण अविनाशी हैं। तो अब जरा कारणसमयसार को देखिये, अपने आपके सहजस्वरूप को देखिये—जो न नरकगतिरूप है, न तिर्यञ्चगतिरूप है, न मनुष्यगतिरूप है, न देवगतिरूप है और न गतिरहित भी है। सो इन पांचों भेदों से रहित अपने आपमें अंत:प्रकाशमान् कारणसमयसार के स्वरूप को तो देखिए

इसमें भी गति नहीं है, यह तो ज्ञानानन्दस्वभाव मात्र है। इतना ही कोई समझे मरण के समय में तो उसे रंच संक्लेश नहीं होता।

समाधिमरण की अत्यावश्यकता—भैया ! मरण के समय की तैयारी बनाना यह बहुत बड़ा काम पड़ा है। इस जीवन की जो थोड़ी घटनाएं हैं, सामाजिक, राष्ट्रीय ये तो सब हमारे विकल्पजगत् के स्वप्न हैं। हालांकि उस विकल्पजगत् में भी यह कर्तव्य हो जाता है, किन्तु जब परमार्थ हित की बात कही जा रही हो, सदा के लिए अपने को स्वस्थ बनाने की बात ध्यान में लाई जा रही हो तब बड़ा दीर्घदर्शी इसे होना चाहिए। तो मरण के समय जिस ज्ञान संस्कृति को लेते हुए चलेंगे उसका संस्कार बहुत आगे तक शुद्ध बनता जायेगा और नहीं तो तड़पकर मर लीजिए कुछ मिलता हो तो बतावो। अपने को मरना तो है ही, यह तो निश्चित् है, पर तड़प कर मरने पर सार क्या मिलेगा सो बतावो। ये चेतन अचेतन परिग्रह तो दया कर नहीं सकते कि तुम हमको इतना अधिक चाहते हो सो हम तुम्हारे साथ चलेंगे। फिर किस लिए मरण अवसर बिगाड़ा जाय? उस मरण अवसर को स्वस्थ बनाने के लिए हमें अपने जीव में भी कुछ ज्ञान की वृत्तियां बनानी होगी।

शुद्ध ज्ञानवृत्ति के अर्थ प्रथम कदम—शुद्ध ज्ञानवृत्तियों में सबसे पहिला कदम यह है कि हम सब जीवों को देखकर उनकी बाहरी वृत्तियों में न अटककर उनके अन्तरङ्ग स्वरूप को निरखें और यह निर्णय करें कि सब आत्मावों में स्वरूप वही एक है जो मुझमें है, प्रभु में है। यही है एक धर्म के पथ में चलने का पहिला कदम जैसे कहते हैं कि नींव धरो। क्या कोई ऐसी भी नींव होती है कि बीच में एक हाथ तक कुछ न रक्खे और उसके ऊपर धर दें, बीच में छोड़ दें, फिर उसके ऊपर रख दें। नींव तो मूल से ही पुष्ट होती हुई उठा करती है। इसी प्रकार जिस धर्मवृत्ति से हमें मुक्ति मिलेगी उस मोक्षमहल की नींव सर्वप्रथम तो यह ही है कि कारणसमयसार का परिचय कर लेना। यह स्वभाव नरकगति आदिक सर्व पर्यायों को स्वीकार नहीं करता। मेरे स्वभाव में ये नरनारकादिक भव हैं ऐसा यह स्वीकार भी नहीं करता। अच्छा तो स्वीकार न करे, किन्तु परित्याग तो करता होगा। अरे जब स्वीकार नहीं करता तो परित्याग कैसे करेगा?

समयसार की परपरित्याग स्वीकाररहितता—भैया ! परित्याग करने का नाम ही पूर्वकाल में अपराध किया, इसको सिद्ध करता है; स्वीकार किया, इसे सिद्ध करता है। किसी से जरा कह तो दो कि तुम्हारे पिता ने जेल से मुक्ति पा ली है। किसी को भी यह सुहावना न लगेगा। अरे मुक्ति की ही तो बात कह रहे हैं। मोक्षतत्त्व की बात कह रहे हैं, फिर क्यों बुरा लगता है? अरे भाई ! तुम तो मुक्ति की बात कह रहे हो, पर इस मुक्ति के शब्द के भीतर यह घुसा है कि तुम्हारे पिता जेल में बंद थे, अब मुक्त हुए हैं। अपने आत्मा के स्वभाव को देखो कि यह तो विभावों को स्वीकार भी न कर रहा था तो मुक्ति की बात कैसे कहें? विभाव का स्वीकार व्यवहारनय से है तो मुक्ति भी व्यवहारनय से है। व्यवहारनय झूठ तो नहीं है, किन्तु परद्रव्य का सद्भाव या अभावरूप निमित्त को पाकर जो अवस्था प्रकट होती है, उसका वर्णन करने का नाम व्यवहार है। यह में आत्मा सर्वप्रकार के विभावों का परित्याग और स्वीकार भी नहीं करता हू, इस कारण मैं अविनाशी हू।

समयसार की अतीन्द्रियता—भगवान् सिद्ध अतीन्द्रिय हैं, वे एक साथ अपने द्रव्य गुणपर्यायों को, सत् को जानने में समर्थ हैं और जो ज्ञान सर्व को जानने वाला है, वह ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न नहीं होता। इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान किया जाता है, उसमें दो कैदें है—एक तो यह कैद है कि तुम अमुक विषय को ही

जान सकते हो, सबको नहीं। जैसे कि आँख ! तुम केवल रूप को ही जानने का काम करोगे, रस का नहीं। ऐसे ही सब इन्द्रियों का अपना-अपना जुदा-जुदा विषयों का काम है। दूसरी कैद यह है कि उस विषय के सम्बन्ध में भी कुछ-कुछ हद तक जान सकेंगे और कुछ एक देश तक जान सकेंगे। इन्द्रियज्ञान में कहां सामर्थ्य है कि वह समस्त विश्व को जान सके?

भगवान् प्रभु ने जो ऐसे ज्ञान का उत्कृष्ट विलास पाया है, वह किस उपाय से पाया है? परमनिजतत्त्व में स्थित जो सहज दर्शनादिक कारण शुद्धरूप है अर्थात् अपने आपका शुद्धस्वभाव प्रतिभासमात्र उस कारणशुद्धस्वरूप का परिच्छेदन करने में समर्थ जो निजसहज ज्ञानज्योति है, उस ज्ञानज्योति का अनुभवन करके समस्त संशय विपर्यय अनध्यवसान इन सबको दूर कर दिया है और सारे विश्व का ज्ञायक बन रहा है—ऐसा सिद्ध प्रभु है और यह कारणपरमात्मतत्त्व भी जो कि सब संसारी जीवों में एक समान है और वह भी अपने प्रतिभासस्वरूप को लिये हुए है, वह भी अतीन्द्रिय है।

आत्मावबोध में मनोगति की सीमा—भैया ! आत्मावबोध में इन्द्रिय की गति तो है ही नहीं। आत्मा के स्वरूप को जानने में कुछ थोड़ी बहुत गति है तो मन की है। सो यह मन भी इस उपयोग को आत्म भगवान् जहां विराजे हैं, उस महल के बाहर आँगन तक ही पहुंच पाता है। इस आत्मदेव ये जो भेंट होती है, वहाँ मन नहीं काम कर सकता है। वहाँ तो यह उपयोग अपने इस अभेदस्वरूप के साथ अभेदरूप में वर्तता है। यह मैं आत्मतत्त्व अतीन्द्रिय हू।

समयसार की निर्मलता—सिद्धभगवान् निर्मल है। मल को उत्पन्न करने वाले क्षायोपशमिक आदिक विभावस्वभाव नहीं हैं प्रभु में, इसलिए वे निर्मल हैं। हमारे क्षायोपशमिक ज्ञान में मल संभव है, क्योंकि थोड़ा जानते हैं, सामने की जानते हैं, वर्तमान की जानते हैं, इससे आगे गति नहीं है। तो ऐसे अधूरे ज्ञान में ही मल सम्भव है। ऐसे मल को उत्पन्न करने वाले क्षायोपशमिक भाव सिद्ध के नहीं है। तो इस कारणसमयसार में भी क्षायोपशमिक भावों का स्वभाव नहीं है। इस कारण यह कारणसमयसार भी निर्मल है।

समयसार का विशुद्धत्व—भगवान् सिद्ध विशुद्ध आत्मा हैं। न वहाँ द्रव्यकर्म है, न वहाँ भावकर्म है। यों जैसे लोक के अग्रभाग पर विराजमान् भगवान् सिद्ध परमेष्ठी अत्यन्त विशुद्ध है, इसी प्रकार संसार अवस्था में भी यह संसारी जीव किसी नय बल से परमशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से, परमार्थस्वभाव से ये भी पूर्ण शुद्ध हैं, केवल हैं, अपने आपके स्वरूपास्तित्त्वमात्र है। ऐसे इस शुद्धभाव के अधिकार में शुद्ध भावस्वरूप आत्मतत्त्व की कथनी चल रही है। इस तत्त्व के सम्बन्ध में मिथ्यादृष्टि जन तो शुद्ध और अशुद्ध का विकल्प किया करते हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव की दृष्टि में यह

कारणपरमात्मतत्त्व और वह कार्यपरमात्मतत्त्व अर्थात् अरहंत और सिद्ध अवस्था याने कारणसमयसार और कार्यसमयसार ये दोनों ही तत्त्व शुद्ध हैं।

ज्ञानी का अभिनन्दन—अहो, जो ज्ञानीसंत ऐसी स्वभावदृष्टि से कारणसमयसार और कार्यसमयसार के साम्य स्वरूप को निरख सकते हैं, वे ज्ञानीसंत हमारे अभिनन्दन के योग्य हैं, वे निकटभव्य हैं, शुद्धज्ञायकस्वरूप के उपयोग वाले हैं। समानसमान में अत्यन्त अनुराग रहता हैं। पक्षी तो पक्षियों में बैठना पसन्द करते हैं और उनमें भी मोर मोरों में ही बैठना पसंद करते हैं, सुवा सुवा में ही बैठना पसन्द करते हैं, पशु पशुवों में ही रमा करते हैं, मोही मोहियों में ही रमा करते हैं और ज्ञानी ज्ञानियों में ही रमा करते हैं। यहाँ सब शुद्धतत्त्व का द्रष्टा ज्ञानीसंत सर्वज्ञानियों की इस परम कला को देखकर प्रसन्न हो रहा है और हृदय से उनका अभिनन्दन कर रहा है, वह जयवन्त हो और जिस परमतत्त्व के प्रसाद से सारे संकट टलते हैं—ऐसा यह कारणसमयसाररूप परमात्मतत्त्व भी जयवंत हो, सर्वजीवों में प्रकट होओ। यद्यपि सर्वजीवों में यह कारणसमयसार व्यक्तरूप प्रकट हो नहीं सकता, जो निकटभव्य हैं, उनमें ही होता है, लेकिन ज्ञानी संत क्या ऐसा छांट-छांटकर सोचेंगे कि जो निकटभव्य है, उनमें तो यह तत्त्व प्रकट हो और जो अभव्य हैं वे मरें—ऐसा वे नहीं सोच सकते। जहां स्वरूपसाम्य देखा, वहाँ सब जीवों के प्रति एकसी भावना होती है।

जिज्ञासा—शुद्धभावाधिकार में प्रारम्भ से अब तक इस जीव के शुद्ध सहजस्वभाव के प्रदर्शन में सर्वविभाव भावों का और परभावों का निषेध किया गया है। ऐसा वर्णन सुनकर किसी जिज्ञासु को यह संदेह हो सकता है कि ये रागादिक भाव भी इस आत्मा के नहीं हैं तो और किसी के हुआ करते होंगे। इस सन्देह की तीव्रता में अथवा विपर्यय भाव में यह पुरुष स्वच्छन्द हो सकता है। मुझमें तो रागद्वेष है नहीं। आत्मा का क्या हित करना है? यह तो स्वयं हितस्वरूप है।

असमाधान में स्व्च्छन्दता—गुरु जी ने एक घटना सुनाई थी कि कोई पण्डितजी एक शिष्य को ब्रह्मवाद का अध्ययन कराते थे। वे पण्डित इस श्रद्धा में ही रहते थे कि मैं तो निर्लेप और निष्पाप हू, सर्वथा शुद्ध हू और इस श्रद्धान् से इतनी स्वच्छन्दता आयी थी कि जिस दूकान पर जो चाहे चीज खायें या अन्याय प्रवृत्तियां करें। शिष्य ने बहुत कुछ पूछा, समझा, समझाया, पर पण्डितजी का यह कहना था कि मैं सर्वथा शुद्ध हू। एक बार पण्डित जी किसी ऐसे मुसलमान की दूकान पर जिसमें कि मांस भी बिकता था और मिठाई भी बिकती थी, वहाँ जाकर रसगुल्ले खाने लगे। वह शिष्य वहाँ पहुंचा, शिष्य ने पण्डित जी से कुछ नहीं कहा, बस पण्डितजी के दो तमाचे जड़ दिए। पण्डितजी कहते हैं कि यह क्या करते हो? कहता है कि महाराज, आप क्या करते है? यह क्या, खराब जगह पर और क्या खा रहे हो? पण्डितजी बोले कि अरे कौन खाता है? मैं आत्मा तो निर्लेप सर्वथा शुद्ध हू। वह बोला कि महाराज ! आप नाराज न हों, ये चांटे भी तो इस निर्लेप आप ब्रह्म में जाते ही नहीं होंगे। पण्डितजी ने कहा कि हे शिष्य ! तूने मेरी आंखें खोल दी हैं।

यह मैं आत्मा सर्वथा शुद्ध हू—ऐसी विपरीत धारणा का फल बुरा है। ऐसी स्थिति में निश्चय की उपादेयता के साथ यह व्यवहार का भी समर्थन करना आवश्यक हो गया है। अब आचार्यदेव व्यवहार से वह सब सही है, ऐसा कहते हैं—

गाथा 49

एदे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु।
सव्वे सिद्धसहावा सुद्धणया संसिदी जीवा।।49।।

सम्यग्ज्ञान की नयद्वयायत्तता—जितने पहिले सारे भाव बताए गए हैं कि इस आत्मा में नहीं हैं, वे सब भाव व्यवहारनय का आश्रय करके देखे जायें तो सब हैं, पर शुद्धनय का आलम्बन करके निरखते हैं तो संसार अवस्था में भी ये जीव सब सिद्ध के स्वभाव वाले हैं। ज्ञान में शुद्धद्रव्य का भी बोध होना चाहिए और इस ही परिणतियों का भी यथार्थज्ञान होना चाहिए। केवल शुद्ध स्वभावमात्र आत्मब्रह्म को जाने और परिणतियों का निषेध करे तो उसका ज्ञान यथार्थज्ञान नहीं है और फिर एक झूठ बात आने पर उस झूठ के समर्थन के लिए दसों झूठ रचना करनी पड़ती है। एक अलग से कोई माया है, वह इस परमार्थ को ढके हुए है, यह सब तो एक माया का रूप चल रहा है। यह ब्रह्म तो सर्वथा शुद्ध ही है। अच्छा यह माया कौन है, कहां है, किस ढङ्ग की है? न भी समझ में आये तो भी मान्यता तो है, बनाया ही तो है सब कुछ। इस सम्बन्ध में तथ्य की बात क्या है? इस तथ्य की बात को सुनिये।

स्वभाव और वर्तना—यही आत्मद्रव्य अपने स्वरूप में शुद्ध ब्रह्मरूप है और यही आत्मद्रव्य उपाधि का सन्निधान पाकर रागादिकरूप, मायारूप परिणत हो रहा है। सर्वथा शुद्ध मान्यता में इस अशुद्ध माया का विवरण करने पर कुछ वर्णन भिन्नरूप किया जाता है तो फिर कभी यह भी कह दिया जाता है कि उपाधि का सन्निधान होने से इस आत्मा में ये रूप-रंग-तरंग रागद्वेष आ जाते हैं, कभी कहना पड़ता है कि झलक जाते हैं। निमित्तनैमित्तिक भावों में बात सब जगह एकसी बतायी है, पर कहीं नैमित्तिकता का परिणमन स्पष्ट समझ में आता है, कहीं नैमित्तिकता का परिणमन कुछ ऊपर लोटता सा ज्ञान होता है, कहीं आत्मा में यों भी नहीं नजर आता है, झलकता सा नजर आता है, किंतु जितने नैमित्तिक परिणमन हैं, वे सब उपादान के परिणमन हैं।

नैमित्तिकों के विशदपरिचय में तारतम्य पर दृष्टान्त—जैसे आग का सन्निधान पाकर पानी गरम हो गया तो बताओ पानी में गरमी भर गयी या नहीं? खूब समझ में आता है कि भर गयी गरमी। सारा पानी गरम हो गया। जब दर्पण को देखते हैं तो हमारा चेहरा उस दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है तो पूछा गया कि बताओ इस आईने में तुम्हारा चेहरा रूप जो भी वहाँ परिणमन है छायारूप, प्रतिबिम्बरूप यह दर्पण में बन गया ना? तो जल की गरमी की अपेक्षा कुछ कम समझ में आता है और ऐसा लगता इस दर्पण में बिम्ब परिणमन क्या हुआ? यह तो दर्पण पर लोट रहा है। जल की गरमी की तरह दृढ़ता पूर्वक परिणमन की बात नहीं बतायी जा सकती है। हाथ को खूब हिलाकर फिर हटा लो, फिर सामने दर्पण को कर लो और उसही तरह वह छाया हो गयी, नहीं हो गयी—ऐसे नानारूप वहाँ हैं ना, इससे जरा कम समझ में आता है। जल में तो गरमी डटकर पड़ी है पर दर्पण में प्रतिबिम्ब कहां है, यह कुछ कम समझ में आता है। अब तीसरी बात देखिये, कोई मोटा कांच जिसके आगे पीछे कोई लेप न लगा हो ऐसे उस मोटे कांच के पीछे लगा दें अथवा

स्फटिक पाषाण के एक ओर यदि लाल, पीला पाषाण लगा दें तो वह लाल, पीला नजर आता है वह कांच या स्फटिक उसका यह परिणमन दर्पण की अपेक्षा भी बहुत शिथिल समझ में आता है। देखो यह लाल, पीला कांच परिणम गया ना, तो दर्पण में भी यह रंगमय दिखता था, किन्तु यहाँ कहां परिणम गया? नजर आ गया। परिणमा तो है ही नहीं। दर्पण में तो कुछ परिणमा सा समझ में भी आता था, पर इस कांच में तो समझ में ही नहीं आ रहा है। लेकिन चाहे पानी की गरमी हो, चाहे दर्पण का प्रतिबिम्ब हो और चाहे स्फटिक में झलका हो, वह सब नैमित्तिक भाव है और अपनी उपाधि का सन्निधान पाकर हुए हैं। उपाधि के दूर होने पर दूर हो जाता है।

आत्मा में नैमित्तिकों के विशदबोध में तारतम्य—यों ही इस आत्मद्रव्य में कोई तो कहते हैं कि आत्मद्रव्य पूरा रागद्वेषमय हो गया—वहाँ शांति का, ज्ञान का, विवेक का रंग ढंग, नाम निशान नहीं पाया जाता है, ऐसा डटकर अज्ञानी बहिर्मुख हो गया है, अपने स्वरूप को ही खो बैठा। तो किन्हीं की दृष्टि में ऐसा नजर आता कि जब कोई निमित्त सामने होता है, आश्रय आता है तब यह विपरीत परिणम जाता है और निमित्त गया सो मिट गया, तो कोई यह कहते हैं कि यह परिणमा कुछ नहीं है, यह तो एक झलक सी मालूम हुई है रागद्वेष की। हुआ कुछ नहीं है। पर तीनों की बातें अपनी-अपनी दृष्टि में यथार्थ है। लेकिन परिणमन नहीं है और यह आत्मब्रह्म परिणमनशून्य है, यह बात प्रमाणभूत नहीं है। दृष्टिभेद से उसकी तीव्रता, शिथिलता व उनमें अभाव भी समझा जाना दोषकारक नहीं है, किन्तु किसी एक दृष्टि की ही बात को सर्वथा हठ करके मान लेना यह दोषकारक है।

शक्ति और व्यक्ति का सद्भाव—इस प्रकरण में अब तक जो दिखाया गया है कि इसमें भाव भी नहीं है, मार्गणा भी नहीं है, कर्म नहीं, नोकर्म नहीं, कुछ परतत्त्व नहीं। जिन सबका निषेध किया गया है वे सबके सब विभावपर्यायें व्यवहारनय की दृष्टि से अवश्य है। जो यह मानते हों कि मेरे में विभावपर्यायें विद्यमान नहीं हैं तो उसने अभी द्रव्य का स्वरूप नहीं जाना क्योंकि जो भी द्रव्य होता है वह किसी न किसी परिणति को लिए हुए होता है। मानो विभावपरिणति नहीं है। तो क्या सिद्धांत अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि रूप परिणमते हैं हम सब? कुछ तो परिणति मानो ! यदि यह कहा जाय कि हाँ मुझमें शुद्ध विकास अनन्त ज्ञानादिक परिणमते हैं तो यह तो प्रकट झूठ है। कहां है केवल ज्ञान परिणमना? अगत्या यह वर्तमान विभावपरिणमन आत्मद्रव्य में यहाँ मानना पड़ेगा।

विज्ञान में स्याद्वाद का उपकार—जैन सिद्धान्त का स्याद्वाद कितना अमोघ उपाय है वस्तु विज्ञान का कि जिसका आश्रय लिए बिना वस्तुतत्त्व का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। जैनसिद्धान्त में यह सर्व वस्तु सिद्धान्तों का समन्वय है, यों कह लीजिए अथवा जैनिसद्धान्त में से एक-एक अंग को लेकर अन्य सर्वसिद्धान्त हुए हैं, यों कह लीजिए। प्रयोजन यह है कि वस्तु का स्वरूप स्याद्वाद का आश्रय लिए बिना जाना नहीं जा सकता। जो भी सत् होगा वह नियमत: गुणपर्यायात्मक होगा। केवल गुणस्वरूप ही सत् कोई नहीं है, केवल शक्तिरूप ही पदार्थ कोई नहीं है। उसकी कुछ न कुछ व्यक्ति , कुछ न कुछ दशा, कुछ न कुछ परिणमन अवश्य होगा। तो इस आत्मतत्त्व के बारे में परम शुद्ध निश्चय नय से सर्वभावों का निषेध किया गया है। वे सब भाव व्यवहारनय से प्रसिद्ध हैं।

यथा रोग उपचार—किसी गरमी के रोग वाले को शीतल दवाइयों का उपचार पहिले अधिक करना पड़ा, सो अब वह शीत रोग में आ गया। अब गर्म उपचार की जरूरत पड़ गई है। यों ही उस निश्चयनय के आदेश से जो कि हमारे लिए परमार्थत: उपादेय है उस शुद्धस्वरूप को सुनकर कहीं यह जिज्ञासु शिष्य सर्वथा एकांत न मान ले, वह एकदम विपरीत उत्पथ पर न पहुंच जाय, इस कारण इस गाथा में पहिली पंक्ति में व्यवहारनय की बात कहकर आचार्यदेव उसका परिज्ञान कराते हैं कि ये सब विभाव व्यवहारनय की अपेक्षा आत्मा के ही परिणमन हैं और इस ही गाथा में फिर दूसरी पंक्ति में शुद्धभावाधिकार में विस्तृतरूप से कही गई बात में वही बात कहते हैं कि संसार अवस्था में भी जीव शुद्धनय से सिद्ध सदृश शुद्धस्वभाव वाला है।

निश्चय परमौषधि की प्रमुखता—इस जीव ने अनादि काल से व्यवहार-व्यवहार को ही जकड़ा, निश्चय का तो कभी दर्शन ही नहीं किया और व्यवहार को ही सर्वस्व मानकर चला। ये इतना व्यवहार का पुराना रोगी है, जैसे पुराने तपेदिक का मिटाना बड़ा कठिन हो जाता है ऐसे ही अनादिकालीन पर्यायबुद्धि का यह रोगी है। इसका रोग मिटाने के लिए शुद्धनय की औषधि को अधिक कहना ही चाहिए, देना ही चाहिए और इसी शुद्ध नीति के अनुसार आचार्यदेव ने इस शुद्ध भावाधिकार में अब तक परमार्थदृष्टि से परमब्रह्म का वर्णन किया। अब इस प्रकरण के अंत में जबकि थोड़ा उपसंहारात्मक कहना ही शेष रह गया जो कि अब 5 गाथावों में और आगे चलेगा, उसमें अब व्यवहारिक भी कथन करके उसे निज के निकट करेंगे। पर जो वास्तविक बात है स्वभाव की बात है वह बात टाली नहीं जाती। व्यवहार का वर्णन करके भी फिर निश्चय की बात तुरन्त कहना ही पड़ता है। एक तो यह बात है कि आचार्यदेव उस शुद्ध आत्मस्वभाव के रुचिया थे, किन्तु अनादि व्यवहार विमूढ़ रोग के रोगी को संबोधन के प्रसंग में कभी व्यवहारकथन भी इन्हें करना पड़ता है।

अध्यात्मरंग की रुचि—एक रंगरेज था। वह आसमानी रंग की पगड़ी रँगना बढ़िया जानता था। उसके पास कुछ लोग आए, बोले बाबा हमारी पगड़ी रंग देना, अच्छी रंग देना। हमारी पगड़ी पीले रंग की रँगना। अच्छा हमारी पगड़ी हरे रंग में रँगना। अच्छा हमारी पगड़ी सुवापंखी रंग में रँगना। कहा बहुत ठीक सबकी पगड़ी रख लेने पर कहता है अब वह अंत में कि चाहे पीली रंगावो, चाहे सुवापंखी रंगावो, पर बढ़िया रंग रहेगा आसमानी। उसकी दृष्टि में दूसरा रंग ही न था। यों ही आत्मदर्शी ज्ञानीसंत पुरुष को दृष्टि में यह शुद्ध ज्ञायकस्वभाव रुच गया है सो किसी प्रकरणवश, किसी कारणवश दूसरों को समझाता है इस प्रयोजन से व्यवहारनय का रंग भी रंग दिया है। किंतु अंत में उनका वक्तव्य यही होता है कि रंग तो बढ़िया है यह शुद्ध अध्यात्म परिचय का।

अध्यात्मरुचि व व्यवहार का आलम्बन—अध्यात्म स्वभाव के अनुसार संसार अवस्था में भी ये जीव जो कि विभाव भावों से परिणमते हुए ठहरते हैं वे सब जीव भी सिद्ध के गुण के सदृश हैं शुद्धनय की विपक्षा से, फिर भी पहली पदवी में जब हम धर्म में प्रवेश करते हैं तो व्यवहारनय का आलम्बन करना इनके लिए हस्तावलम्बन की तरह है। जैसे कोई सीढ़ियों पर बहुत ऊपर चढ़ा हुआ हो और नीचे वालों से कहे कि अरे-अरे सीढ़ियों पर संभलकर पैर रखकर आना ऐसा उसे कहना पड़ता है। अध्यात्मयोग में वर्त रहे ज्ञानीसंत कुन्दकुन्दाचार्यदेव मानों संकेत में खेदपूर्वक कह रहे हों कि पहिली पदवी में तो व्यवहारनय का ही आश्रय

करना, लेकिन फिर भी व्यवहारनय को ही सर्वस्व मानकर आश्रय करोगे तो जैसे नागनाथ और साँपनाथ दोनों बराबर है—नाम भेद है कि इसने धर्म कर लिया। जिसने नहीं धर्म किया वह और जो कल्पित धर्म कर रहा है उन दोनों का एक नाम है यदि व्यवहार को ही सर्वस्व मान लिया तो।

व्यवहाराश्रय में अध्यात्मदृष्टि की आवश्यकता—भैया ! व्यवहारनय का आश्रय रखिये, किन्तु वहाँ भी यह समझिए कि चैतन्य चमत्कारमात्र समस्त परभावों से विविक्त इस आत्मतत्त्व को जो नहीं देखते हैं, उनके लिए ये सब कुछ थोथी बातें हैं। धर्म के प्रयोग में शुद्ध ज्ञान की प्रगति का उपाय न कोई करे तथा और जितनी देव, शास्त्र, गुरु की पूजा रटी हुई है, जो 8 वर्ष की उम्र में सिखाई गयी थी और अब 80-81 की उमर हो जाने पर भी उतना का ही उतना सब कुछ है, इसके अतिरिक्त तत्त्व की बात, ज्ञान की बात अन्य कुछ नहीं आयी है, न अन्तर में उस स्वभाव के स्पर्श के यत्न की धुन बन पायी है और न कोई विज्ञान की प्रगति हुई है तो जो तब था अब भी वही है, कोई विशेषता नहीं बनी है—यह सब व्यवहारनय की बात है। उसका आलम्बन करना गृहस्थ को उचित है, ठीक है, किन्तु क्या इतना ही करना कृतकृत्यता में शामिल होगा। मोक्षमहल को निकट बना लेगा क्या? उत्तर दीजिए। आवश्यक है सबको कि बड़े ढङ्ग से बाह्यवस्तुवों में ममता को त्याग कर केवल आत्महित का नाता समझकर धर्मप्रगति के लिए शुद्ध ज्ञान में वृद्धि करने का यत्न करें।

शुद्ध तत्त्व की दृष्टि बिना निर्णय में विडम्बना—शुद्ध तत्त्व के रसिक लोग वे सर्वत्र चाहे संसारी जीव हों, चाहे मुक्त जीव हों, सब सबमें शुद्ध निश्चयनय से देखते हैं तो वहाँ कहीं विशेषता नजर नहीं आती। कहां दृष्टि को ले जाकर देखना है? यह बात जब तक ध्यान में न आए, तब तक कुछ तो ऐसा लगेगा कि यह भगवान का अपमान किया जा रहा है कि संसार अवस्था में भी यह जीव भगवान् की तरह कहा जा रहा है। कुछ ऐसा लगेगा कि इसे कुछ करना धरना रुचता नहीं है, सो गप्प मारकर ही अपना मन खुश रखना चाहता है। कुछ ऐसा लगेगा कि क्या पढ़ा लिखा है, क्या जाना है? यह तो ढङ्ग से बात ही नहीं की जा रही है। लो एक तराजू में एक समान पलड़े पर रख दिया संसार को और भगवान् को, किन्तु जिस अन्तर के स्वरूप की दृष्टि को रखकर यह वर्णन है, वह दृष्टि में न आए तो इसका मर्म समझा नहीं जा सकता है।

स्वभावदृष्टि की महिमा—आत्मा सत् है और अपने सत्त्व के कारण इसमें कुछ न कुछ स्वभाव है, वह स्वभाव निरपेक्ष है। आत्मा में चैतन्यस्वभाव किस पदार्थ की कृपा से आया? बतलाओ रागद्वेषादिक भावों को तो आप कह सकते हैं कि ये कर्मों के उदयवश आए और अच्छा आत्मा में जो चैतन्यस्वभाव है, वह किस दूसरे की कृपा से आया? बतलाओ। स्वयं ही यह आत्मा सत् है तो स्वयं ही यह आत्मा चैतन्यस्वभावमात्र है। जिस स्वभावमात्र यह आत्मस्वरूप है, उस स्वभाव में दृष्टि को ले जाकर फिर निरख डालिए सब जीवों को कि सब एकसमान हैं। जिस दृष्टि में सर्वजीवों का स्वभाव एकरूप नजर आता है, उस दृष्टि के बल से उस एकरूप स्वभाव का आलम्बन करके जो उस ही परिचय में स्थिर होते हैं, रमते हैं, वे ही पुरुष शिवपथिक हैं और इस कल्पित झूठी असार विपदा को ही सर्वसमागमों का मोह परित्याग करके सुखी हो जाते हैं। यह सब आनन्द शुद्ध तत्त्व के रसिक लोग पाया करते हैं, विषयों के व्यामोही तो इसकी सुगन्ध भी नहीं पा सकते।

गाथा 50

पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं।
सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा।।50।।

हेय और उपादेय—पहिले जितने भी भाव बताए गए हैं निषेधरूप में और जिनका फिर व्यवहारनय से समर्थन किया गया है, वे सब भाव परद्रव्य हैं, परभाव हैं इस कारण हेय हैं और निजद्रव्य उपादेय है। वह निजद्रव्य है अन्तस्तत्त्व अर्थात् स्वयं आत्मा। यह आत्मा स्वभावत: ज्ञानानन्दस्वरूप है। जो चीज इस आत्मा में कभी हो और बिखर जाए, विलय हो जाए, यह आत्मा की चीज न समझिए। आत्मा का तत्त्व वह है जो आत्मा में प्रारम्भ अर्थात् अनादि से लेकर सदा काल तक रहे।

आत्मा का शाश्वत् तत्त्व—अब खोजिए कि इस आत्मा में शाश्वत् रहने वाली बात क्या है? क्या गुणस्थान और यह मार्गणास्थान? गतिमार्गणा, इन्द्रियमार्गणा, कार्यमार्गणा आदि ये सबके सब भाव आत्मा में अनादि काल से अनन्तकाल तक टिकने वाले नहीं हैं। कभी से होते हैं और कभी समाप्त हो जाते हैं, इस कारण ये सब आत्मा के लक्षण नहीं हैं, स्वभाव नहीं हैं, किन्तु उपाधि के सन्निधान में जीव की कैसी-कैसी अवस्थाएं होती हैं और फिर उस उपाधि का अभाव हो जाने पर फिर जीव की क्या स्थिति होती है? इसका वर्णन मार्गणाओं में हैं, पर वे सब मार्गणाओं के भेद जीव के स्वरूप नहीं हैं। यह जीवस्थान चर्चा जीव की दिशा को बताने वाली है। जीव का स्वरूप तो फिर यों जान लीजिएगा कि जो तत्त्व इन सब भेदों में रहता हो व किसी भी भेदरूप बनकर नहीं रहता, वह है जीव का स्वरूप।

अनात्मभाव का द्वैविध्य—इन भावों में कुछ भाव तो सीधे पौद्गलिक हैं। हैं जीव के सम्बन्ध से, पर हैं स्वयं पौद्गलिक और कुछ भेद हैं तो जीव के विकार, किन्तु हैं उपाधि के सम्पर्क से। जैसे ये औदारिक शरीर, वैक्रियक शरीर, पृथ्वीकाय, जलकाय आदिक ये सभी शरीर सीधे पौद्गलिक हैं, पर जीव के सन्निधान बिना ऐसी रचना नहीं हो पाती है, इस कारण सम्बन्ध तो है, परन्तु हैं सीधे पौद्गलिक। ये रूप, रस, गंध, स्पर्श के पिण्ड हैं, प्रकट जड़ हैं। जीव के चले जाने पर ये पड़े रहते हैं। सो वे भी प्रकट परतत्त्व हैं, इसलिए इस जीव को वे हेय हैं, उनकी दृष्टि करना हेय है, उनका अपनाना यह योग्य नहीं है और कुछ भाव ऐसे हैं जो पौद्गलिक तो नहीं हैं, हैं तो जीव के भाव, किन्तु जीव में अनादि से नहीं हैं व सदा रहने वाले नहीं हैं, इस कारण वे भी नैमित्तिक भाव हैं, जीव के स्वभाव भाव नहीं हैं।

गतिमार्गणा और जीव स्वरूप—उदाहरण के लिए देखो, गतिमार्गणा 5 होती हैं—नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति, देवगति व गति रहित। नरकगति जीव के स्वभाव में नहीं पड़ी है किन्तु नरकगति नामक नामकर्म के उदय में ऐसी स्थिति बन जाती है तब नरकगति इस जीव के हित की चीज नहीं है। उसकी दृष्टि करना अयोग्य है। तिर्यञ्चगति के नामकर्म के उदय से तिर्यञ्चगति होती है। मनुष्यगति और देवगति भी उन-उन नाम कर्मों के उदय से होती है। ऐसे ही ये चारों गतियां जीव का स्वरूप नहीं हैं, और गतिरहितपना भी जीव का स्वरूप नहीं है। क्योंकि गतिरहितपना जीव में अनादिकाल से नहीं है। जिस क्षण से मुक्त हुआ है उस

क्षण से यह गतिरहित है। यदि गतिरहित होने की स्थिति जीव का स्वरूप होता तो अनादिकाल से रहता। जीव का स्वरूप तो ज्ञायकभाव है, चैतन्यभाव है वह कभी अलग नहीं होता। यद्यपि गतिरहित होना जीव का स्वभावपरिणमन है, कोई अन्य बात का मेल नहीं है, लेकिन गतिरहितपना किसी की अपेक्षा रख रहा है और स्वरूप अपेक्षा रखकर नहीं हुआ करता है।

इन्द्रियमार्गणा और जीवस्वरूप—इन्द्रियमार्गणावों में छहों की छहों मार्गणाएं आपेक्षिक चीज हैं जिनमें एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पांचइन्द्रिय ये तो आपेक्षिक हैं ही, कर्म के उदय के सन्निधान में होती हैं। इन्द्रियां दो प्रकार की हैं एक द्रव्येन्द्रिय और एक भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रिय तो प्रकट पौद्गलिक हैं और भावेन्द्रिय जीव के परिणाम हैं—खण्ड ज्ञान हैं, पर द्रव्येन्द्रिय भी जीव का स्वरूप नहीं है और भावेन्द्रिय भी जीव का स्वरूप नहीं है। खण्ड-खण्ड जानना यह जीव का लक्षण नहीं है, यह तो एक असक्त स्थिति में परिस्थिति बन गई है और इन्द्रियरहित होना भी जीव का लक्षण नहीं है। यद्यपि इन्द्रियरहित होना जीव का स्वभाव है, फिर भी यदि लक्षण होता तो अनादिकाल से यह जीव इन्द्रियरहित क्यों न रहा? किस क्षण से क्यों हुआ?

आत्मक्रान्ति—इस गाथा में स्वभाव भाव की बात तो नहीं कह रहे हैं, किन्तु जितने भी ऐसे भाव हैं तो परद्रव्यरूप हैं या पर के निमित्त से होने वाले जीवों के विकाररूप है वे सब भाव हेय हैं। जैसे जब अपने में क्रांति आए और एक धुनि बन जाय कि बढ़े चलो, कहां? स्वभाव की ओर, कहां? मुक्ति की ओर बढ़े चलो। तो बढ़े चलो के यत्न में रास्ते में कितने ही स्थान आयेंगे, कितने ही पद होंगे, कितनी ही परिस्थितियां आयेंगी, उन सबमें न अटक कर बढ़े चलो, बढ़े चलो—यह उसका यत्न होगा। मानो अबसे ही मुक्ति का यत्न होगा तो इस ही जीवन में अनेक प्रसंग आयेंगे, गोष्ठी बनेगी, चर्चा होगी। जंगल में रहे, गुफा में रहे, कहीं रहे। मरने के बाद कितने ही भव मिलेंगे। कभी मनुष्यगति मिलीं, कभी देवगति मिली। देवगति में बड़ी-बड़ी ऋद्धियां मिलीं, पर जो मुक्ति के लिए क्रांति के साथ बढ़ रहा है उसकी अन्तर्ध्वनि है—बढ़े चलो, कहीं मत अटको, बढ़े चलो। इतनी देवों की दीर्घ आयु व्यतीत करके मनुष्यभव में आए वहाँ पर भी बड़ा समागम मिला, बड़ा लाड़-प्यार मिला, लोगों के द्वारा होने वाला आदर मिला, पर इसकी धुन है—बढ़े चलो, मत कहीं अटको। समस्त परद्रव्य जो अत्यन्त भिन्न हैं वे भी समागम में आते हैं। और जो अपने एकक्षेत्रावगाह में हैं ऐसे शरीरादिक ये भी समागम में आते हैं और रागद्वेषादिक औपाधिकभाव ये भी आक्रमण कर आते हैं, पर ज्ञानी की दृष्टि यह है कि बढ़े चलो, किसी भी परभाव में मत अटको।

प्रयोजनवश विभाव गुणपर्याय की उपादेयता—जितने भी विभाव गुणपर्याय बताये गए हैं वे सब व्यवहारनय की दृष्टि से उपादेयरूप से कहे गए हैं, लेकिन परमशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से उपादेयरूप नहीं कहे गये हैं, परम शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से वे हेय हैं। यहाँ उपादेय का मतलब ग्रहण करने से नहीं है कि जीव में रागद्वेष बताये हुए हैं, तो व्यवहारदृष्टि से वे भी उपादेय हैं—ऐसा अर्थ न लेना, किन्तु ये रागद्वेष जीव में हुए हैं, जीव के वर्तमान परिणमन हैं ऐसा ज्ञान करना, ऐसा मानना यह उपादेय का मतलब है क्योंकि ऐसा माने बिना और ये रागादिक पुद्गल के हैं मेरे नहीं हैं, ऐसा मानने पर जीव कल्याण किसका करेगा? पुद्गल के रागद्वेष हैं तो पुद्गल का तो कल्याण करना नहीं, जो रागद्वेष मिटाने का यत्न किया जाय। जीव में रागद्वेष हैं

नहीं, तब फिर यत्न किसका करें? इस कारण यथार्थज्ञान के लिए व्यवहारनय की दृष्टि आवश्यक है, उपादेयरूप है अथवा चारित्र के मार्ग में जब उत्कृष्ट ध्यान, उत्कृष्ट भक्ति , उत्कृष्ट रमण नहीं हो पाता है तो देवपूजा, दान, परोपकार आदि जो शुभोपयोग हैं वे राग हैं, फिर भी व्यवहारनय की दृष्टि से उपादेय बताए हैं, लेकिन शुद्धनय के बल से वे सभी परिणमन हेय हुआ करते हैं।

निर्विकल्प समाधि के उद्यम में—अब जरा यों सोच लो कि भारी पढ़ना क्यों जरूरी है? धार्मिक ज्ञान करना, बड़ी बातें जानना, शास्त्र पढ़ना, सब न्याय करणानुयोग खूब पढ़ना—ये सब काहे के लिए किए जाते हैं? उन सबको और उनके साथ अन्य विकल्पों को भी एकदम छोड़ देने के लिए। जो कुछ पढ़ेंगे, उस पढ़ें को छोड़ देने के लिए पढ़ा जाता है। वाह, कोई कहेगा कि हम बड़े अच्छे, बिना पढ़ें पहिले से ही हम छोड़े भये हैं। सारा पढ़ना छोड़ने के लिए ही तो कहा है। सो भैया ! यों नहीं स्वच्छन्द होना है। जरा ध्यान से सुनिये कि जो कुछ पढ़ा जाए, जो कुछ जानकारी बनायी जाए, वह सब अलग करना है और बड़े विश्राम से निर्विकल्प आराम से रहना है। याद किया, सोचा, जीव समास हैं, गुणस्थान हैं, यह सब छोड़ना होगा और समाधि परिणाम करना होगा, किन्तु कोई ऐसा सोचे कि जो छोड़ना होगा, उसे पहिले से पढ़ें क्यों? तो उसमें वह कला न आएगी कि इसको भी छोड़ें और इसके साथ संसार के सर्वविकल्पों को भी छोड़ें। तो यों सब चीजें व्यवहारनय से करनी होती हैं, करना चाहिए, फिर भी ध्येय एक ही प्रमुख रहता है ज्ञानी जीव का। सर्व से विविक्त केवल उस आत्मतत्त्व में ही रहूं।

मुमुक्षु का लक्ष्य—जैसे कोई मकान बनवा रहा है तो उसका प्रधान लक्ष्य क्या है? मकान तैयार कराना। अच्छा, आज जा रहा है वितरण विभाग में कि हमारा सीमेण्ट का परमिट बना दो, कभी ईंट वाले के पास जा रहा है, कभी प्रोग्राम बनता है कि आज मजदूरों को इकट्ठा करना है। वह मजदूरों को इकट्ठा करता है, सारी सामग्रियां जुटाता है, फिर भी उसका लक्ष्य यह सब कुछ करना नहीं है। उसका लक्ष्य तो मकान बनवाने का है। कभी किसी कारीगर से लड़ाई हो जाए तो उससे वह यह भी कहता है कि अब हम तुम्हें न रखेंगे, कल से दूसरा कारीगर रक्खेंगे। क्या कोई ऐसा भी करेगा कि मकान बन गया, थोड़ासा ही रह गया और वह यह कहे कि अजी ठीक नहीं बना है, इस मकान को ढा दो? उसमें यह फर्क नहीं डालता है। देखो वह कितने ही अन्य कार्य कर रहा है, पर लक्ष्य उसका केवल एक है घर बनवाने का। उपलक्ष्य उसके बीच में सैकड़ों हो जाते हैं। ऐसे ही ज्ञानीजन हैं, चाहे अविरत गृहस्थ हो, चाहे प्रतिमाधारी श्रावक हो पंचम गुणस्थान का, चाहे मुनि हो, सबका लक्ष्य एकरूप है। लक्ष्य के दो भेद ज्ञानियों में नहीं है, किन्तु उपलक्ष्य अपने-अपने पद के अनुसार विभिन्न होते हैं।

विभावगुणपर्यायों की हेयता का निर्णय—किन्हीं स्थितियों में व्यवहारनय का आदेश उपादेय है, फिर भी सर्वज्ञानियों का सर्वपरिस्थितियों में मूल निर्णय एक ही है कि वे सबकी सब पर्यायें परिणमन हेय हैं, क्योंकि परस्वभावरूप है। यह शरीर परस्वभाव है और रागादिक भाव परस्वभाव हैं। परस्वभाव के दो अर्थ करना—पर के स्वभाव पुद्गल के स्वभाव हैं ये शरीर। पर स्व भाव—तीन टुकड़े कर लो। परपदार्थ के निमित्त से होने वाले स्व में परिणाम। उसका नाम है परस्वभाव। तो ये रागादिक भाव तो परस्वभाव हैं—ये पर के निमित्त से होने वाले स्व में जीव के परिणाम हैं, इस कारण परस्वभाव हैं और ये शरीर आदिक प्रकट करके स्वभाव हैं,

रूप-रस-गंध-स्पर्श वाले हैं। यह कहां मेरा स्वभाव है? परस्वभावरूप होने से ये सबकी सब विभावगुणपर्यायें जो व्यवहारनय के आदर्श में जीव के बताए गए हैं, वे सब हेय हैं और परस्वभाव होने के कारण से ये सब परद्रव्य हैं।

रागादिकों का परभावपना—भैया ! शरीर परद्रव्य है, ऐसा सुनते हुए कोई अड़चन नहीं होती। ठीक कह रहे हैं, भौतिक है, पुद्गल से रचा गया है और रागादिक परभाव द्रव्य हैं—ऐसा सुनने में कुछ अड़चन हो रही होगी। रागादिक भावों को कैसे परतत्त्व कह दिया? ये तो चेतन के तत्त्व हैं, ठीक है, इसमें भाव यह है कि परद्रव्य के निमित्त से होने वाला जो परिणाम है, उसको परद्रव्य की निकटता दी गई है। तुम जाओ परद्रव्यों के साथ।

दूसरी बात देखिए कि जो जौहरी शुद्ध स्वर्ण का प्रेमी है, बाजार में शुद्ध स्वर्ण का ही लेनदेन करके उसमें ही उसकी रुचि है, उसकी ही परख रखता है, उसको ही कसौटी पर कसता है और उसके पास यदि कोई चार आने मैल वाली एक तोले सोने की डली लाए तो वह उस सोने को कसकर फेंक देता है और कहता है कि क्या तुम मिट्टी हमारे पास लाए हो, क्या तुम पीतल हमारे पास लाए हो? अरे बाबा ! कहां है यह पीतल? इसमें तो 12 आने भर स्वर्ण है। लेकिन जिसको शुद्ध स्वर्ण से प्रेम है और जब शुद्ध स्वर्ण के व्यवहार का ही मन चलता है तो उसकी निगाह में वह हेय होने के कारण मिट्टी अथवा पीतल हो जाता है। यों ही जिसकी अंतस्तत्त्व में रुचि है, आत्मस्वरूप में भक्ति है—ऐसे पुरुष को ये रागादिक भाव जो कि चैतन्य के विकार हैं, परिणमन हैं, फिर भी उन्हें रञ्च स्वीकार नहीं किया करता कि यह मैं हू। जब यह स्वीकार नहीं किया गया कि यह मैं हू और कोई झकझोर कर बार-बार पूछे कि बताओ तो सही किसके हैं रागादिक? वह झल्लाकर कहेगा कि पुद्गल के हैं रागादिक। सो ये समस्त विभाव हेय हैं।

अन्तस्तत्त्व की उपादेयता—अब उपादेय क्या है? सर्वविभावगुणपर्यायों से रहित जो शुद्ध अन्तस्तत्त्वस्वरूप है, वही स्वद्रव्य होने के कारण उपादेय है। इस अंतस्तत्त्व के परिचय में रञ्च भी दशा की ओर दृष्टि न देना। तो शुद्ध परिणमन की ओर भी कौन दृष्टि दे? सिद्धभगवान्, अरहंतभगवान्, केवलज्ञान, वीतरागता, गतिरहित, इन्द्रियरहित, कायरहित, वेदरहित, योगरहित, कषायरहित, किसी भी शुद्ध दशा पर भी दृष्टि दें तो भी अन्तस्तत्त्व का परिचय नहीं किया गया। आत्मा की किसी भी दशा को उपयोग में न लेकर जिस शक्ति की ये सब दशाएं बना करती हैं, उस शक्ति को, मात्र एनर्जी को, केवल स्वभाव को दृष्टि में लिया जाए तो अंतस्तत्त्व का परिचय मिलता है। यह अन्तस्तत्त्व समस्त विभाव गुणपर्यायों से रहित है, निजद्रव्य है, इसके सत्त्व में किसी अन्य की धराई नहीं है। किसी परद्रव्य के निमित्त से इसका सद्भाव नहीं हुआ करता है। इस कारण यह शुद्ध अंतस्तत्त्व उपादेय है।

अन्तस्तत्त्व की सहजज्ञानरूपता—यह शुद्ध अंतस्तत्त्व का जो स्वरूप है, वह सहजज्ञानरूप, सहजदर्शन, सहजचारित्र, सहजसुखरूप है। सहजज्ञान और ज्ञान इनमें अन्तर क्या रहा कि जाननरूप जो प्रवर्तन है, उसका नाम तो ज्ञान है। ये ज्ञान तो नाना होते हैं—अब पुद्गल का ज्ञान, अब चौकी का ज्ञान है, अब घर का ज्ञान है, ये ज्ञान नाना होते हैं, किन्तु उन सब ज्ञानों की आधारभूत, स्रोतभूत जो ज्ञानशक्ति है, उसका नाम है सहजज्ञान। वह सहजज्ञान अनादि अनन्त एकस्वरूप है। यह अन्तस्तत्त्व ज्ञानरूप नहीं है, किन्तु सहजज्ञानरूप

है। ज्ञान में तो केवल ज्ञान भी आया है, वह भी एक दशा है, पर केवलज्ञान अन्तस्तत्त्व नहीं है, किन्तु सहजज्ञान अन्तस्तत्त्व है। यद्यपि केवलज्ञान सहजज्ञान का शुद्ध विकास है, पर विकास तो है, दशा है, पर्याय है। यों ही सहजज्ञान, सहजदर्शन, सहजआनन्द और सहजचारित्ररूप जो यह शुद्ध अन्तस्तत्त्व है, इसका आधारभूत कारणसमयसार है।

अद्वैत के प्रतिबोधनार्थ आधार आधेय का व्यवहार—यह सब कुछ बोध के लिए आधार आधेय बताया जा रहा है। वहाँ आधार आधेय क्या है? जो एक ही स्वरूप है, उसे आधार आधेय क्या कहें? जैसे कोई कहे कि नीलरंग में नील रंग है, बोलते भी तो हैं ऐसा लोग। वह नीलरंग पदार्थ जुदा है क्या और नीलरंग जुदा है क्या? पर समझने के लिए एक चीज में भी आधार आधेय भाव बताया जाता है। इस शुद्ध अंतस्तत्त्व का आधार सहजपारिणामिक भावरूप कारणसमयसार है। यह मैं शुद्ध अंतस्तत्त्व हू, शुद्धचिन्मात्र हू, सदैव परमज्योतिरूप हू।

अन्तस्तत्त्व की उपासना का महत्त्व—अहो, यह तत्त्व मोक्षार्थी पुरुष के लिए, संसार से विरक्त पुरुष के लिए उपासना करने के योग्य है। मैं यह शुद्ध चित्स्वभावमात्र हू और ये रागद्वेषादिक भाव जो मेरे स्वभाव से पृथक् बिल्कुल विपरीत लक्षण वाले हैं वे सब मैं नहीं हू। वे सारे के सारे परद्रव्य हैं। मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र हू। देखो—देखो—जब इस जीवद्रव्य में उठने वाली रागद्वेषादिक तरंगों को भी अपने में नहीं कहा जा रहा है तो धन वैभव बाहरी बातें जो प्रकट जुदी हैं, उनमें कोई ऐसी वासना लाये कि ये तो मेरे हैं तो यह तो बड़े व्यामोह की बात है। में तो शुद्ध जीवास्तिकायरूप हू। इस शुद्ध जीवतत्त्व के अतिरिक्त अन्य सब भाव पुद्गल द्रव्य के भाव है। जो ऐसे स्वरूपास्तित्त्वमात्र का ज्ञाता है वह पुरुष अपूर्व सिद्धि को प्राप्त करता है, जो आज तक नहीं मिला।

अपूर्व सिद्धि—भैया ! अपूर्व सिद्धि क्या है? शुद्ध सहज अनाकुल अवस्था। जिसकी परद्रव्यों में रुचि नहीं है, परद्रव्यों का झुकाव नहीं है, परद्रव्यों का विकल्प नहीं है वह शुद्ध ज्ञानरसानुभव से छका चला जा रहा है। ऐसा पुरुष सहज अनाकुल अवस्था को प्राप्त करता ही है। बाह्य परिस्थितियां कुछ रहो, बाहरी पदार्थ का इस पर कोई हठ नहीं चल सकता। हम यदि अपने अन्तर में पड़े ही पड़े अपने आपके स्वभाव उपवन में विहार करके शुद्ध आनन्द लूटा करें तो इसमें कौन बाधा डालता है? बाह्यपदार्थों में लग-लगकर इतना तो थक गए—अब उस थकान में भी थककर अपने आपके ज्ञानसुधारस का पान करें। एक परमविश्राम तो लेना चाहिए। लोग थककर थोड़ा तो रुक जाते हैं ताकि फिर काम करने की स्पीड आ जाय। अरे इन विषयों से थक कर थोड़ा भी तो नहीं रुकते। विषयों का रुकना और ज्ञानसुधारस का पान करना, इन दोनों का एक ही तात्पर्य है। शुद्धज्ञानानुभव ही अपूर्व सिद्धि है।

गाथा 51

विपरीवाभिणिवेसविवज्जियसद्द हणमेव सम्मत्तं।
संसयविमोहविब्भमविविज्जियं होदि सण्णाणं।।51।।

सम्यक्त्व व सम्यग्ज्ञान के लक्षण के कथन का संकल्प—इस शुद्ध भावाधिकार में कारणब्रह्म का, शुद्धस्वभाव का वर्णन करके अब चूंकि शुद्ध भावाधिकार पूर्ण होने को है अत: इससे पहिले कुछ विज्ञान की बातें बतायी जा रही हैं, जिनमें प्रथम सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान का लक्षण कहा जा रहा है। जहां ज्ञान और विज्ञान दो शब्द कहे जायें वहाँ यह अर्थ लेना कि ज्ञान तो उसे कहते हैं जो आत्मविषयक सहजतत्त्व को जनावे और विज्ञान उसे कहते हैं जो एकस्वरूप अंतस्तत्त्व के अतिरिक्त विविध तत्त्व का ज्ञान करावे। जैसे जीवस्थान चर्चा जितनी भी है वह सब विज्ञान से सम्बन्धित है और शुद्ध अंतस्तत्त्व का विवरण जितना है वह ज्ञान से सम्बन्धित है। ज्ञान से सम्बन्धित विज्ञान यहाँ बताया जा रहा है।

सम्यक्त्व का अर्थ—जीव को कल्याणमार्ग से कल्याणसदन में पहुंचाने में सर्वप्रथम सोपान मिलता है तो सम्यक्त्व का। सम्यक्त्व का शब्दार्थ है भलापन। समीचीनता। सम्यक् शब्द में त्व प्रत्यय मिला है जिसका अर्थ हुआ भला, समीचीन और उसका भाव समीचीनता। समीचीनता और स्वरूप इन दोनों में सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाय तो अन्तर है। स्वरूप तो निरपेक्ष कथन में आता है और समीचीनता की बात निरपेक्ष कथन में नहीं आती हैं। कोई वस्तु समीचीन है, इसका यह अर्थ है कि उस वस्तु में ऐब नहीं है। ऐब के अभाव से समीचीनता मानी जाती है। दोषों के न होने का नाम समीचीनता है। तो आत्मा में पहिले सम्यक्त्व आना चाहिए, मायने समीचीनता आना चाहिए। उन समीचीनतावों में सर्वप्रथम समीचीनता है विपरीत आशय का दूर हो जाना।

भ्रम का विचित्र क्लेश—विपरीत आशय से रहित श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते हैं। यद्यपि इस आत्मा में ऐब बहुत पड़े हुए हैं—उपाधि के सम्बन्ध से दर्शन मोह और कषायें, किन्तु सब ऐबों का मूल है, दर्शन मोह, विपरीत आशय पदार्थ है। और भांति, मानते है और भांति, यही है विपरीत आशय। जीवों को जितने भी मौलिक क्लेश हैं वे सब विपरीत मान्यता के क्लेश हैं। भ्रम का क्लेश बहुत अजब का क्लेश होता है, इस क्लेश का इलाज किसी दूसरे के निमित्त के हाथ की बात नहीं है। कषाय आये, क्रोध आए चार भाइयों ने समझा दिया, जरासी उसकी प्रशंसा कर दी, लो शांत हो गया, बन गया इलाज। पर भ्रम का इलाज कौन दूसरा करे? भ्रम मिटने की बात तो स्वयं के ज्ञान के आधीन है। उस ज्ञान में कोई निमित्त पड़ जाय, यह बात दूसरी है, पर यह स्वयं ही इलाज कर सकता है।

विह्वलता और वेदना—एक यह कथानक है कि 10 जुलाहे मित्र एक हाट में कपड़े बेचने गये। रास्ते में पड़ती थी नदी। चले गए बाजार, बाजार से कपड़े बेचकर जब वापिस आए तो उस नदी में से फिर निकल कर आए, अब उन्होंने सोचा कि हम सब अपने को गिन तो लें, वे दस थे, दसों के दसों हैं कि नहीं। सो गिनने बैठे। गिनने वाला गिनता जाए कि एक, दो, तीन, चार, पाँच, छ:, सात, आठ और नौ। सबको तो गिन गया, पर अपने को न गिना। सो वह बड़ा बेचैन हो गया। कहा कि एक मित्र तो गुम हो गया भाई। अब दसों ने बारी-बारी से गिना, किन्तु सभी अपने आपको न गिने और दूसरों को गिन लेवें तो 9 ही निकलें। सभी रोने लगे, हाय-हाय करने लगे कि हमारा एक परम मित्र नदी में बह गया है। उस क्लेश में वे सब इतने दु:खी हो गए कि सिर में ईंट मारने लगे। अब कोई एक मुसाफिर निकला। उनको देखकर पूछता है कि तुम लोग क्यों विह्वल हो रहे हो? उन्होंने बताया कि हम बाजार गये थे दो रुपये के मुनाफे को और एक

मित्र को खो आये। हम 10 थे, वह न जाने कहां नदी में बह गया। उसने एक नजर डालकर देखा कि कहां बह गया? दसों के दसों तो हैं। मुसाफिर ने कहा कि गिनना जरा कितने हो? तो पहिले की भांति दसों ने गिन दिया कि एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात, आठ, नौ, पर अपने को न गिना। तब मुसाफिर बोला कि अगर हम तुम्हारा 10वां मित्र बता दें तो? सब लोग पैरों पड़ गए कि हम लोग तुम्हारा जिंदगी भर ऐहसान मानेंगे यदि हमारे 10वें मित्र को बता दिया। मुसाफिर ने एक छोटा बेंत लेकर उन्हें एक लाइन खड़ा करके धीरे-धीरे मारकर बता दिया और 10वें को जोर से मारकर कहा कि तू 10वां है। ऐसे ही फिर दसों को मारकर बताया कि तू दसवां है। जो अपने को भूल जाए, उस भ्रम से होने वाले जो क्लेश हैं, वे बहुत विचित्र क्लेश हैं। अब सभी जुलाहों को मालूम हो गया कि हम दसों के दसों ही हैं, हमारा कोई भी मित्र नहीं खोया है। यह सबको मालूम तो हो गया, पर ईंट मारकर उन सबने जो अपना सिर फोड़ लिया था, उससे खून तो निकल ही आया, दर्द तो वही का वही अभी बना हुआ है, पर सही जान लेने पर उनके विह्वलता नहीं है। भ्रम में ही विह्वलता थी। अब भ्रम नहीं रहा सो विह्वलता भी नहीं रही, अब केवल वेदना है। वेदना में और विह्वलता में बड़ा अन्तर है।

सम्यक्त्व में विपरीत अभिनिवेश से रहितपना—विपरीत आशय से रहित जो श्रद्धान है, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। ये विपरीत आशय सैद्धान्तिक भाषा में तीन प्रकार के होते हैं—कारणविपर्यय, स्वरूपविपर्यय, भेदाभेदविपर्यय। कारणविपर्यय का अर्थ है कि पदार्थ जिन साधनों से बनते हैं, उन साधनों का सही पता न होना और उल्टा साधन माना जाए। स्वरूप विपर्यय है, पदार्थ का जो लक्षण है, स्वरूप है, उसे न मानकर उल्टा स्वरूप माना जाए। भेदाभेदविपर्यय वह है जो भिन्न बात है, उसे अभेद में कर दें और जो अभिन्न बात है, उसे भेद में कर दें। इन तीनों प्रकार के अभिप्रायों से रहित वस्तु का जो यथार्थ श्रद्धान् है, उसे सम्यक्त्व कहते हैं।

आत्मत्व का नाता—भैया ! कल्याणार्थी पुरुष को आत्मा का नाता प्रमुख रखकर इस ही नाते से ज्ञान ढूंढना चाहिये, कल्याणस्वरूप आचरण ढूंढना चाहिए। मैं अमुक जाति का हू, अमुक सम्प्रदाय का हू, अमुक गोष्ठी का हू—ऐसा लगाव रखकर धर्म की बात सही समझ में नहीं आ सकती है। मैं आत्मा हू और इस आत्मा को शांति और संतोष मिलना चाहिए। जैसे आत्मा को शान्ति मिले, वैसा मेरा ज्ञान रहना चाहिए, वह ज्ञान है यथार्थ ज्ञान। जैसा पदार्थ है, वैसा स्वरूप जान जाए। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्दर्शन में स्वरूप सम्बन्धी अन्तर क्या है? विपरीत आशय न रहें—ऐसी स्थिति में जो ज्ञान बनता है, उसका नाम है सम्यग्ज्ञान। सम्यग्ज्ञान जिस कारण से सम्यक् कहला सके अर्थात् विपरीत अभिप्राय का न रहना ही है सम्यग्दर्शन।

पदार्थ का स्वरूप—जगत् के सब पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप हैं। यह वस्तुस्वरूप की बात कही जा रही है। धर्म की पुष्ट नींव बने, जिस पर आत्मकल्याण का महल बनाया जा सके उस नींव में, कुछ विज्ञान की बात कही जा रही है। यदि कुछ है तो वह नियम से उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है, यह पक्का नियम है, कभी टूट नहीं सकता। किसी भी वस्तु का नाम ले लो, जैसे जीव, ये भी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हैं, ब्रह्म—यह भी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हैं। कुछ हे तो वह नियम से उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। अच्छा जरा कल्पना ही कर लो कि कोई चीज है तो सही, मगर उसकी दशा कुछ भी नहीं है, उसका रूपक कुछ भी नहीं है। ध्यान में आया

कि वह है? अच्छा, हैं तो जरूर, मगर वह क्षण-क्षण में नष्ट होने वाला है। मूलत: तो मिट गया, अब कुछ न रहा—ऐसी भी कोई चीज समझ में नहीं आती। यदि कुछ है तो उसमें तीनों बातें अवश्य हैं—बनना, बिगड़ना और बने रहना।

वस्तु की त्रितयात्मकता—जो बनती बिगड़ती नहीं है, वह बनी भी नहीं रहती है। जो चीज बनी रहती नहीं है, वह बनती बिगड़ती भी नहीं है। सभी पदार्थ बनते हैं, बिगड़ते हैं और बने ही रहते हैं। जैसे कि यह दृष्टांत ले लो कि घड़ा फोड़ दिया गया और बन गयी खपरियां। बिगड़ क्या गया? मिट्टी बराबर वही की वही बनी रही। जैसे जीव आज मनुष्य है और मरकर बन गया मान लो हाथी। तो इसमें मनुष्य तो बिगड़ गया और हाथी बन गया, किन्तु जीव तो वही का वही रहा। कोई भी पदार्थ ले लो। किसी को कोई तत्त्व स्पष्ट ध्यान में आये या न आये, किन्तु वस्तुस्वरूप तो यह कहता है कि जो भी वस्तु है, वह उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है।

शुद्ध पदार्थ में भी त्रितयात्मकता—यदि कोई शुद्ध पदार्थ है, भगवान् है तो भगवान् का जितना परिणमन है, वह सब एक स्वरूप सदृश-सदृश चलता है। उनके समस्त विश्व का ज्ञान हो गया तो जैसा ज्ञान आज है समस्त विश्व का, वैसा ही पूर्णज्ञान उन्हें अगले मिनट में है। अनन्तकाल तक वही पूर्णज्ञान रहेगा। जिस ज्ञान में भूत भविष्यत् वर्तमान सब कुछ आ गया, उस ज्ञान की दशा अब क्या बदलेगी? पूर्णज्ञान से अपूर्णज्ञान बने, अपूर्णज्ञान से पूर्णज्ञान बने, वहाँ तो दशा का बदलना कह सकते हैं, पर पूर्णज्ञान है और आगे भी पूर्णज्ञान है। अब उसमें परिवर्तन क्या-क्या बतलावेंगे? इतने पर भी पहिले समय में जो पूर्णज्ञान चल रहा है, वह पहिले समय का पुरुषार्थरूप परिणमन है, दूसरे समय में वही पूर्णज्ञान दूसरे समय का परिणमन है व शक्ति का परिणमन नया-नया चल रहा है। जानना भी कार्य है। चाहे एक-सा ही जाने, पर प्रति समय में नवीन शक्ति से जानता रहता है।

दृष्टान्तपूर्वक सदृशपरिणमन में नव-नव परिणमन का समर्थन—जैसे बिजली एक घण्टे तक लगातार एकरूप में जली, प्रकाश किया, वहाँ एक घण्टे के समस्त सेकिण्डों में प्रकाश जला। तो वही का वही प्रकाश प्रति सेकण्ड में नहीं है, किन्तु पहिले सेकण्ड में प्रकाश पहिले सेकण्ड की शक्ति के परिणमन से हुआ, दूसरे सेकण्ड में दूसरे परिणमन की शक्ति से हुआ, तभी तो मीटर में नम्बर पड़े हुए मिलते हैं। इतनी बिजली खर्च हो गई। उसने निरन्तर नवीन-नवीन काम किया, वही एक काम नहीं किया। यों ही प्रभु का परिणमन भी प्रतिसमय नया-नया बनता है, पुराना-पुराना विलीन होता है और वह चित्स्वभाव वही का वही रहता है। हम लोगों में यह बात जरा स्पष्ट समझ में आ जाती है, क्योंकि हममें विविधता है, अनेक राग, अनेक द्वेष, अनेक तरह के त्रुटित ज्ञान परिवर्तन ज्ञान में आते हैं, हम अपने बारे में शीघ्र कह सकते हैं, अब हम यों बन गए, जो पहिले था वह विलीन हो गया। यों प्रत्येक पदार्थ बनता है, बिगड़ता है और बना रहता है। बनने का नाम उत्पाद है, बिगड़ने का नाम व्यय है और बने रहने का नाम ध्रौव्य है।

वस्तु की त्रिगुणात्मकता—सत्त्व, रज: और तम:—ये तीन गुण प्रत्येक वस्तु में निरन्तर रहा करते हैं। जो उसमें अभ्युदय हुआ है, परिणमन हुआ है वह है रज, जो विलय हुआ है वह है तम: और जो बना रहता है वह है सत्त्व। प्रत्येक पदार्थ त्रिगुणात्मक होता है, त्रिदेवतामय होता है। इन ही तीन गुणों को विद्वान् पुरुषों ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीन देवतावोंरूप में अलंकृत किया है। पदार्थ में जो नवीन परिणमन हुआ है वह

ब्रह्मस्वरूप है, पुराना परिणमन जो विलीन हो गया है वह महेश स्वरूप है और जो सदा सत्त्व बना रहे वह विष्णु स्वरूप है। प्रयोजन यह है कि प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है।

राष्ट्रीय ध्वज में त्रितयात्मकता—भैया ! त्रितयात्मकता तो आपको राष्ट्रीय झंडे में भी मिलेगी। राष्ट्रीय झंडे के तीन रंग हैं—हरा, लाल या केसरिया और सफेद। ये रंग इस क्रम से हैं कि ऊपर नीचे तो हरा, लाल है और बीच में सफेद है। साहित्यकारों ने उत्पाद का वर्णन हरे रंग से किया है। लोग बोलते भी है कि यह मनुष्य खूब हरा-भरा है, बाल-बच्चों के पैदा होने का नाम हरा-भरा है। बुढ़िया आशीर्वाद भी देती है कि बेटा खुश रहो, हरे-भरे रहो। तो उत्पाद का नाम है हरा। उस झंडे में जो हरा रंग है वह उत्पाद का सूचक है। लाल रंग का नाम है व्यय। साहित्यकार जब कभी विनाश का वर्णन करते हैं तो लाल रंग से वर्णन करते हैं और ध्रौव्य का नाम है श्वेत रंग। जिस रंग पर उत्पाद का रंग भी चढ़ जाय और व्यय का रंग भी चढ़ जाय, वह ध्रौव्य उत्पाद में भी है और व्यय में भी है। जैसे वह श्वेत रंग हरे को भी छुवे हुए है, लाल को भी छुवे हुए है। यों उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक स्वरूप को बताते हुए यह झंडा क्या लहराता है? प्रत्येक पदार्थ इन ही तीन स्वरूपमय होने के कारण सदा लहराते रहते हैं। इस सत् का कभी अभाव नहीं होता।

चौबीस आरे के विवरण में आद्य ज्ञातव्य—अब इस झंडे में 24 आरे का चक्र भी बना हुआ है। वे 24 आरे उस वस्तु के भीतरी परिणमन के मर्म को बताते हैं। वस्तु जो परिणमती हैं वे जगमग स्वरूप को लिए हुए परिणमती हैं। प्रत्येक परिणमन में आपको जगमग स्वरूप नजर आयेगा। जग मायने बढ़ना, मग मायने घटना। वृद्धि हानि बिना पदार्थ के स्वरूप का परिणमन नहीं होता। एक समय की अवस्था को त्यागकर दूसरे समय की अवस्था पाये तो वहाँ घटना बढ़ना अवश्य होता। कुछ परिणमन ध्यान में आये अथवा न आये, इस हानि वृद्धि को षड्गुण हानि और षड्गुण वृद्धि के रूप से कहते हैं। अर्थात् वृद्धि हुई अनन्तभाग वृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भाग वृद्धि, संख्यात गुण वृद्धि, असंख्यात गुण वृद्धि और अनन्तगुण वृद्धि। इसी प्रकार हानि हुई अनन्तभाग हानि, असंख्यात भाग हानि, संख्यात भाग हानि, संख्यातगुण हानि असंख्यात गुणहानि और अनन्तगुण हानि।

वृद्धि हानि में एक दृष्टान्त—जैसे 99 डिग्री बुखार है और 100 डिग्री बुखार हो जाता है तो एक डिग्री बुखार जो बढ़ गया, वह 99 डिग्री से एकदम ही 100 डिग्री हो गया ऐसा नहीं है। आपको ध्यान रहे या न रहे उसे एक डिग्री में जितने अविभागी अंश हो सकते हैं जैसे थर्मामीटर में आपने 8-10 अंश देखे होंगे पर 8,10 अंश ही नहीं हैं, 100 अंश हो सकते हैं और उन अंशों की सीमा नहीं बना सकते हैं, उसमें भी अनेक अंश है। तो बुखार का एक-एक अंश बढ़-बढ़कर कहीं कुछ अंशों के साथ बढ़कर एक डिग्री बुखार बढ़ता है। वे पाइन्ट थोड़े ही समझ में आते हैं। जैसे थर्मामीटर में कह देते हैं कि 99 डिग्री 3 पाइन्ट बुखार है। तो बढ़ाव और घटाव जिस क्रम से हुआ, उस क्रम में वैसी षड्गुण हानि वृद्धि है।

चौबीस आरे का संकेत—भैया ! कोई परिणमन रंच भी समझ में न आए तब भी जानो कि उनमें षड्गुण हानिवृद्धि अवश्य हुई हैं, और विपरिणमन दूसरे षड्गुण हानि वृद्धि हो तो ध्यान में रहता है। तो यों 24 हानि वृद्धियों से जो यह परिणमन जगत् में विदित हो पाता है वह ही संकेत में आरे में समझाते हैं।

सर्वथावाद में विपरीतता—प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है उसमें ये हम केवल यह माने कि यह आत्मतत्त्व, यह ब्रह्मस्वरूप सर्वदा ध्रुव है, इसमें उत्पाद नहीं है, या किसी तत्त्व के बारे में इन तीनों में से किसी एक को सर्वथावाद कह दिया जाय तो विपरीत आशय हो गया अथवा यह वस्तु एक समय ही होती है फिर विलीन हो जाती है, उसका नाम निशान भी नहीं रहता है। ध्रौव्य कुछ तत्त्व नहीं है, सर्वथा उत्पाद व्यय ही है। ऐसी धारणा हो, आशय बने तो इस ही को कहते हैं विपरीत आशय—यह सैद्धान्तिक बात है।

सूक्ष्म और स्थूल सभी विपरीताशयों के अभाव की आवश्यकता—अब मोटी बात देखें तो प्रत्येक पदार्थ हमसे अलग हो जायेंगे। जो भी आज समागम में मिला है उसे हम माने कि यह सदा रहेगा, बस यही विपरीत आशय है। कोई जीव मेरा कुछ नहीं है। यदि हम मानें कि यह तो मेरा लड़का है, यह तो मेरा घर है, यह विपरीत आशय होगा। तो स्थूल और सूक्ष्म सभी प्रकार के विपरीत आशय जहां नहीं रहे और फिर वस्तु का जो श्रद्धान् हो उस शुद्धता का नाम है सम्यक्त्व। सम्यक्त्व के अभाव से यह सारा लोक दु:खी हो रहा है। तो सम्यक्त्व को उत्पन्न करना यह सबसे बड़ा पुरुषार्थ है।

सम्यक्त्वलाभ का यत्न—सम्यग्दर्शन के अर्थ कैसी भावना होनी चाहिए और किसकी दृष्टि होनी चाहिए—इस सम्बन्ध में यह समस्त ग्रन्थ ही बना हुआ है, अलग से विवरण देने की आवश्यकता ही नहीं है। इस समस्त ग्रन्थ में वर्णित निज कारणपरमात्मतत्त्व जो शाश्वत स्वरूपास्तित्त्व मात्र सहज परमपारिणामिक भावरूप चैतन्यस्वभाव है उसकी दृष्टि और भावना मिथ्यात्व पटल को दूर कर देती है। इस सम्यक परिणाम के बिना ही जगत् के प्राणी दु:खी हो रहे हैं। सारा क्लेश बिल्कुल व्यर्थ का है, अपना बाहर कहीं कुछ है नहीं और भ्रम से मान लिया कि मेरा कुछ है, इस भ्रम के कारण इस जीव की चेष्टाए चलती रहती हैं और दु:खी होता रहता है। इस सम्यक्त्व के प्राप्त करने का यत्न होना ही एक प्रधान कर्तव्य है।

सम्यग्ज्ञान व संशय विपर्यय दोष—सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं? संशय, विपर्यय, अनध्यवसान से रहित जो ज्ञान है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। इस सम्यग्ज्ञान का दो जगह प्रयोग होता है—एक लोकव्यवहार में और एक मोक्षमार्ग में। लोकव्यवहार में भी जो सच्चा ज्ञान कहलाता है वह भी संशय, विपर्यय और अनध्यवसान से रहित होता है तथा मोक्षमार्ग में जो सम्यग्ज्ञान कहलाता है वह भी तीनों दोषों से रहित है। संशय कहते हैं अनेक कोटियों का स्पर्श करने वाले ज्ञान को। जैसे पड़ी हुई सीप में संशय हो जाय कि यह सीप है या चाँदी है या कांच है, कितनी ही कोटियों का स्पर्श करने वाला ज्ञान बने उसके वह संशय ज्ञान है। लोकव्यवहार में संशय ज्ञान को सच्चा ज्ञान नहीं बताया है। विपरीत ज्ञान क्या है? है तो सीप और मान ले कि यह चाँदी हैं। विपरीत ज्ञान में एक कोटि में ही रहने वाले ज्ञान का उदय होता है। वस्तु है और, मानते हैं और कुछ, तो इस ज्ञान को लोकव्यवहार में भी सम्यग्ज्ञान नहीं बताया है।

अनध्यवसाय दोष—अनध्यवसान किसी वस्तु के बारे में कुछ भी आगे न बढ़ सकना और साधारण आभास होकर अनिश्चित दशा में रहना इसका नाम है अनध्यवसान। जाते में, चलते में कुछ छू गया तो साधारण आभास तो हुआ कुछ छुवा, पर उसके सम्बन्ध में कुछ भी निश्चय न कर सका कि मामला क्या था? यहाँ संशय के रूप में भी ज्ञान का विकास नहीं हो सका। अनध्यवसान उन दोनों ज्ञानों से भी कमजोर स्थिति का है। अथवा कोई आवाज सुनाई दी और सुनकर रह गये। एक जिज्ञासा भी तेज नहीं बनी कि किसकी

आवाज है अथवा कुछ अध्यवसान न हो सकना, सो अनध्यवसान है। लोकव्यवहार में अनध्यवसान का प्रमाण न मानना सच्चा ज्ञान नहीं है।

मोक्षमार्ग में सम्यग्ज्ञान—इस ही प्रकार अब मोक्षमार्ग में सम्यग्ज्ञान की बात सुनिये। मोक्षमार्ग में सम्यग्ज्ञान वही है कि मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत तत्त्व में संशय न रहे, विपर्यय न रहे और अनध्यवसान भी नहीं रहे। तो संशय कैसा? जैसे आत्मा के बारे में यह सोचना कि आत्मा वास्तव में है या नहीं है या कल्पना की बात है या पञ्चतत्त्वों से बना है, आगे भी रहेगा या न रहेगा, अनेक प्रकार की कोटियों को छूने वाला जो ज्ञान है, वह संशय ज्ञान है, यह सम्यग्ज्ञान नहीं है। मोक्षमार्ग में विपर्यय ज्ञान कैसा है कि वस्तु तो है और भांति तथा मानते हैं और भांति। जैसे आत्मा तो है चैतन्यस्वरूप और एक विरुद्ध-विरुद्ध कोटि में अड़ गये कि आत्मा तो पञ्चतत्त्वमयी है, पञ्चतत्त्व बिखर गए, जिस तत्त्व की जो चीज है वह उसी तत्त्व में चली गयी। आत्मा नाम की फिर कोई चीज नहीं रहती है। यह आत्मा मौलिक सत् नहीं है, किन्तु पञ्चतत्त्व के पिण्ड में इसका आभास होता है। यह विपर्यय ज्ञान हो गया कि एक विपरीत कोटि को छू लिया ना। विपर्यय ज्ञान मोक्षमार्ग में प्रमाण नहीं है। अनध्यवसाय में कुछ निर्णय ही नहीं हो सकता है। खैर, करते जावो त्याग, व्रत, तपस्या, उपवास होंगे कुछ। इन बातों में हम नहीं पड़ते, इनको तो बड़े-बड़े लोग जानें, कुछ भी निश्चय नहीं कर सकते हैं। इन तीनों दोषों से रहित जो ज्ञान है, उस ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। अब इस ही सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान के स्वरूप को कुछ स्पष्टीकरण के लिए आगे फिर स्वरूप कह रहे हैं।

गाथा 52

चलमलिनमग ढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं।
अधिगमभावो णाणं हेयोपादेयचाणं।।52।।

सम्यक्त्व की सर्वथा निर्दोषता—चल, मलिन और अगाढ़ दोषों से रहित श्रद्धान् को ही सम्यक्त्व कहते हैं। पूर्व श्लोक में जो सम्यक्त्व का लक्षण किया गया था, वह साधारण व्यापकरूप से था। अब उसमें और विशेषता से बताने के लिए विज्ञान पद्धति से सम्यक्त्व का लक्षण कहा जा रहा है। चल, मलिन और अगाढ़ दोष सूक्ष्मदोष हैं। पहिले प्रकरण में जो विपरीत अभिनिवेशरूप दोष गया है, वह मोटी बात थी। सम्यग्दर्शन हो जाने पर भी चल, मलिन और अगाढ़ दोष रहा करते हैं। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में ये दोष रह जाते हैं। यहाँ इन दोषों से भी रहित श्रद्धान् को निरखा जा रहा है। अहो, सम्यक्त्व है तो यही है।

सम्यक्त्व की त्रिविधता—सम्यक्त्व में तीन प्रकार होते हैं—औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व। औपशमिक सम्यक्त्व में भी निर्मलता है, किन्तु सम्यक्त्व का बाधक कर्मप्रकृति दबा हुआ है, वह उखड़ेगा तो यह सम्यक्त्व न रहेगा और देखो कि आत्मपुरुषार्थ के बल से क्षयोपशमिक बन जाए तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व हो सकता है पर जितने काल भी यह उपशमसम्यक्त्व रहता है, उतने काल वह निर्मल है। क्षायिक सम्यक्त्व तो पूर्ण निर्मल है, उसके भविष्य में भी मलिनता की कोई संभावना नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व के घातक दर्शन मोहनीय कर्म की तीन प्रकृति व अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ—ये चार चारित्रमोह इन

7 का पूर्ण क्षय हो चुका है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में चल, मलिन, अगाढ़ दोष हुआ करते हैं, क्योंकि वहाँ उदयाभावी क्षय, उपशम और देशघाती सम्यक्त्वप्रकृति का उदय है।

चल दोष के संकेत—इस चल दोष में यों समझिए कि श्रद्धान् तो चलित नहीं होता है, पर श्रद्धान् के भीतर ही भीतर कुछ थोड़े भाव यों कभी झलक गये—जैसे कि माना कि शांतिनाथ के कर्ता हैं, पार्श्वनाथ विघ्न के हर्ता हैं तो क्या शांतिनाथ ही शांति के देने वाले हैं या पार्श्वनाथ ही विघ्न के कर्ता हैं और किसी में यह कला नहीं है? परमार्थत: तो भगवान् पार्श्वनाथ और शांतिनाथ ये हैं ही नहीं। ये तो महामण्डलेश्वर महाराज के पुत्र थे, सो आप समझ लो कि इक्ष्वाकुवंश में ये पैदा हुए थे। इतने बड़े शरीर वाले थे। उन शांतिनाथ व पार्श्वनाथ इत्यादि व्यक्तियों के अन्दर में जो शुद्ध चैतन्यस्वभाव है, जो उस शुद्ध चैतन्य का विकास हुआ है, उस ज्ञानविकास का नाम भगवान् है। वह तो सबमें एक समान है। भगवान का नाम वचनों से लेने से सारे विघ्न टल जाते हैं और शांति मिलती है। वह कौनसा भगवान् है। यही—निराकुल, निर्दोष, शुद्ध ज्ञायकस्वरूप और इसका शुद्ध विकास। बस ! इस एक को दृष्टि में रखिए तो सारे काम फतह होंगे।

मलिन व अगाढ़ दोष के संकेत—यह मन्दिर मैंने बनवाया, मेरे पुरखों ने बनवाया—एक मोटी मिसाल दी जा रही है। मलिन दोष में सूक्ष्म बात क्या पड़ी है? यह बुद्धि में नहीं जग सकती, पर यों समझिए कि जिन दोषों से सम्यक्त्त्व तो बिगड़े नहीं, किन्तु सम्यक्त्व में कुछ दोष बना रहे। यों ये दोष हुआ करते हैं। जैसे वृद्ध पुरुष लाठी लेकर चलता हे तो उसके हाथ भी हिलते जाते हैं। अब तुम यह बतलाओ कि वह पुरुष लाठी से चल रहा है या अपने बल पर चल रहा है? वह पुरुष तो अपने बल पर चल रहा है। नहीं तो किसी मुर्दे के हाथ में पकड़ा कर देखो कि वह चलता है या नहीं। फिर लाठी तो उसके चलने में सहायक निमित्त है। जैसे वहाँ लाठी स्थानभ्रष्ट नहीं होती, पर लाठी जरा चिगती हुई सी रहती है। यों समझिए कि इस अगाढ़ सम्यक्त्व में क्षायोपशमिकता होती है, सो सम्यक्त्व अपना स्थान न छोड़ देने पर भी उसमें कुछ थोड़ा कम्पन रहता है। ऐसा कोई दोष है, उस दोष से रहित श्रद्धान् को सम्यक्त्व कहते हैं।

सम्यग्ज्ञान में हेयोपादेयपरिज्ञानता—सम्यग्ज्ञान कहते हैं उपादेयभूततत्त्व का परिज्ञान होने को। पहिले गाथा में ज्ञान का लक्षण व्यवहार में भी घटे, मोक्षमार्ग में भी घटे, सर्वत्र समझ में आए, व्यापकरूप से कहा गया था। यहाँ हुआ मोक्षमार्ग, उसमें यह हेय और यह उपादेय है, इस प्रकार का परिज्ञान होना सो सम्यग्ज्ञान है। मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूततत्त्व 7 हैं—जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। जिसमें चेतनता पाई जाए, उसे जीव कहते हैं और जिसमें चेतना न पायी जाए, उसे अजीव कहते हैं; किन्तु इस प्रकरण में 7 तत्त्वों के बीच कहे गए अजीव का अर्थ है द्रव्यकर्म। अब यों मूल में दो बातें आयीं—जीव और कर्म। अब तीसरी चीज है आश्रव। जीव में कर्मों के आने को आश्रव कहते हैं। बंध कहते हैं जीव में कर्मों के बंध जाने को। ये कर्म जीव में इतने सागर पर्यन्त रहेंगे, इतने वर्ष तक रहेंगे; इसका नाम है बंध। जीव में कर्मों का आना रुक जाए तो उसे कहते हैं संवर। जीव में जो कर्म पहिले से ही बंधे हुए हैं, उन कर्मों के झड़ जाने को निर्जरा कहते हैं और जब समस्त कर्म जीव से छूट जाएं, तब उसे मोक्ष कहते हैं।

कर्तव्य की प्रमुखता का विवेक—लोग अपने आराम के लिए बड़ी-बड़ी अवस्थाएं बनाते हैं, ऐसा मकान बनवा लें, ऐसा कमरा बनवा लें, ऐसी दूकान बनवा लें, ऐसा कारोबार रक्खें, इन व्यवस्थाओं में अपने जीवन के अमूल्य क्षण रात दिन के सब व्यतीत हो जाते हैं, किन्तु यह नहीं जाना कि ये सब व्यवस्था वाली बातें इस मेरे आत्मा का कब तक साथ देंगी। इस जीवन का ही जब भरोसा नहीं है तो अगले भव में तो साथ देने का अभाव ही है। इस आत्मा का सबसे बड़ा काम यह पड़ा है कि इसमें से कर्मों का अभाव हो जाए। मैं अनात्मतत्त्व के बोझ से रहित होकर शुद्ध चिन्मात्र आत्मस्वरूप का अनुभव करू और व्यर्थ के पक्षों से हटकर बना रहूं; काम यह पड़ा है। दूसरी बात यह है कि लोग सोचते हैं कि ये लोक के काम—मेरे अच्छा घर हो, दूकान हो, अच्छा रोजिगार चले। अरे ! ये तुम्हारे किए बिना भी कदाचित् हो सकते हैं। न भी करें, बैठे रहें, तब भी सम्भावना है कि हो जायेंगे। जरा भी श्रम किए बिना तो आप मानेंगे नहीं। न किया विशेष उद्यम तो भी हो जाएगा; किन्तु यह आत्मकल्याण का काम, मोक्षमार्ग का काम, सदा के लिए संकटों से छूट जाने का काम हमारे निरन्तर सतत उद्धार के द्वारा ही होगा। यह बिना किए नहीं हो सकता है।

सप्त तत्त्वों का अनेकानेक सूक्ष्मपद्धतियों से परिज्ञान—इन सात तत्त्वों का परिज्ञान ऐसा सम्यग्ज्ञान है कि इन्हीं सातों तत्त्वों का और-और सूक्ष्मदृष्टि से परिज्ञान करते जाइये। मान लो उपाधि द्रव्यकर्म के सन्निधान होने पर जीव में आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्षरूप परिणमन होता है। अब थोड़ी देर को उपाधि की चर्चा छोड़कर केवल अपने ही आश्रव, बंध, संवर और निर्जरा को निरखो। पहिली कोटि में जो बताया था, वह दोनों के सम्बन्ध से आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष की बात कही थी। जीव में कर्मों का आश्रव है अर्थात् दोनों की बात होना। जीव में कर्मों का बंधना, यह भी दोनों की बात हुई जीव की और कर्म की। जीव में कर्म न आ सकें, इसका नाम संवर है। यह भी दोनों की बात है। जीव में बंधे हुए जो कर्म हैं, वे जीव से अलग होने लगें तो इसका नाम निर्जरा है; यह भी दोनों की बात है। जीव से कर्म बिल्कुल अलग हो जायें, इसका नाम मोक्ष है; यह भी दोनों की बात है। अब जरा जीव में ही इन पांचों तत्त्वों को देखिए। ये पांचों बातें उपाधि के सन्निधान में ही होती हैं—यह तो पहिले जान लो और जानकर फिर कुछ आगे बढ़ो, उपाधि को अब उपयोग में न लो और निरखो।

केवल जीव में पञ्चतत्त्वों का परिज्ञान का प्रयत्न—जैसे कोई दर्पण में उठे हुए प्रतिबिम्ब को इस तरह से देखता हे कि यह सामने अमुक लड़के के खड़े होने से प्रतिबिम्ब आया तो दर्पण में लड़के के प्रतिबिम्ब को देख रहे हैं और क्या इस तरह नहीं देख सकते कि केवल दर्पण में जिस प्रतिबिम्ब को देखा, इसके निमित्त से प्रतिबिम्ब आया है, इस तरह का उपयोग न दें तो क्या यों देखने में न आएगा? आएगा। यों ही आत्मा में आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये 5 बातें हुई हैं। किस निमित्त से हुई हैं, किसके निमित्त से हुई हैं, यह दूसरी कोटि की बात है। प्रथम कोटि की तो जीव और कर्म का आना जाना, दूसरी कोटि में यों समझिए कि कर्मों की अमुक परिणति के निमित्त से जीव में ऐसा शुभ, अशुभ, सद्भाव बनना है। अब उपाधि को उपयोग में ही न रखो और केवल इस परिणमन को देखो। जैसे सिनेमा देखने वाले लोग क्या बीच-बीच में ऐसा ख्याल रखते हैं कि पीछे फिल्म चल रहा है, इसलिए यह चित्र आया? वे तो केवल चित्रों को देखने में लगे रहते हैं और जिन्हें फिल्म का कुछ राज नहीं मालूम होता है ऐसे देहाती लोग सिनेमा देखने जायें तो

उन्हें रंच भी विकल्प नहीं होता फिल्म सम्बंधी। वे तो सारा खेल देखते रहते हैं। तो इस समय उपाधि का उपयोग न करके केवल आत्मा में होने वाले खेल को देखो विलास को देखो।

जीव में आश्रव और बन्ध—जीव की प्रदेश भूमि में, स्वभाव में विभाव के आने का नाम आश्रव है। देखो यह जीव चित्स्वभावरूप है, किन्तु यहाँ विकार आ गया है इसका नाम आश्रव है। और इस आत्मतत्त्व में, चित्स्वभावमय जीव में ये विकार बंध गए हैं, वासना संस्कार हो गये हैं वे नहीं हटते यही बन्ध है। जैसे मान लो आप जिस घर में पैदा हुए हैं उस घर में पैदा न हुए हों मानो लालपुरा के आप हैं और कदाचित् नये शहर में किसी घर में पैदा होते तो आपको यहाँ के घर का कुछ ममत्व न रहता। अब थोड़ी देर को लालपुरा में पैदा हो गए हो तो भी मान लो कि हम यहाँ हैं ही नहीं, हम और कहीं के है। और न करें ममता। तो बात सुनने में जरा सीधी लग रही है, पर करना जब चाहते तो कठिन लग रहा है। यही बंधन है।

रागी का बन्धन—मकान बन रहा है। इस प्रसंग में मालिक भी काम कर रहा है—प्रबन्ध करना, काम कराना, रजिस्टर में हाजिरी भरना, तनख्वाह बाटना, मजदूरों से कम काम मालिक नहीं कर रहा है। मजदूर भी काम कर रहे हैं, पर मजदूरों का मकान में बंधन नहीं है, मालिक का मकान में बंधन है, थोड़ी घट बढ़ बात सामने आए मजदूर से खटपट हो जाय तो मजदूर तो कहेगा कि हम तो जाते हैं, हम आपका काम नहीं करेंगे। पर क्या मालिक यह कह सकता है कि मजदूरों ! तुमसे हमारी खटपट हो गई सो अब हम मकान छोड़कर जाते हैं, इटावा से चले जावेंगे।

बन्धन खतरा—ये रागादिक भाव इस जीव में आए, सो ये तो आश्रव हुए, पर रागादिक भाव के छोड़ने का यत्न करने पर भी, उस राग भाव में अनेक संकट आने के कारण बड़ी झुंझलाहट होने पर भी, छोड़े नहीं जाते। कभी गुस्सा भी आ जाय, घर के दरवाजे से निकल भी जायें 20, 25 कदम चल भी दें तो भी ख्याल आ जायेगा कि आखिरकार ये हमारे ही तो नाती पोते हैं। ऐसे ही ये रागादिक भाव जीव में आए हैं। आने दो, आने का तो खतरा नहीं है आते हैं, पर खतरा तो बंधन का है। बध गए। अब हटते नहीं हैं।

जीव में पञ्चतत्त्वों का विवरण तथा ज्ञेय हेय उपादेय का विभाग—जीव में रागादिक के आने को आश्रव कहते हैं और रागादिक के बध जाने को वासित हो जाने को बंध कहते हैं। इस स्वभाव में रागादिक के न आने को संवर कहते हैं, और जो कुछ भी पूर्व संस्कार के कारण रागादिक विकार हैं भी उनको ज्ञानबल से, भेदविज्ञान की वासना के द्वारा, शिथिल करना, क्षीण करना इसका नाम निर्जरा है और जब इस चित्स्वभाव में विभाव का निशान भी नहीं रहता—ऐसा शुद्ध ज्ञानमात्र एकाकी रह जाना इसको, उन समस्त विभाव दोषों से छुटकारा पाने को मोक्ष कहते हैं। इन 7 तत्त्वों में जीव अजीव तो ज्ञेय तत्त्व हैं, हैं जान लो—आश्रव और बंध ये हेयतत्त्व हैं, छोड़ने योग्य हैं क्योंकि आश्रव और बंध इन जीवों के संकट के कारण हैं, इनमें आत्मा का कोई हित नहीं है। संवर, निर्जरा और मोक्ष ये उपादेय तत्त्व हैं, इनसे संकट छूटते हैं और आत्मा को शांति प्राप्त होती है। यों इस मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत 7 तत्त्वों का सही परिज्ञान करना सो मोक्षमार्ग के प्रकार का सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

इस प्रकारण में रत्नत्रय का स्वरूप कहा जा रहा है। रत्नत्रय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का नाम है। ये तीनों व्यवहाररूप भी हैं और निश्चयरूप भी हैं। जीवादिक 7 तत्त्वों का श्रद्धान् करना, विपरीत

अभिप्राय रहित वस्तुस्वरूप का श्रद्धान् करना अथवा सिद्धि के परम्परा कारणभूत पंचपरमेष्ठियों का चल, मलिन, अगाढ़ दोषों से रहित निश्छल भक्ति और रुचि होना यह सब व्यवहार सम्यग्दर्शन है। और परद्रव्यों से भिन्न चित्स्वभाव मात्र निजतत्त्व में श्रद्धान् रखना, सो निश्चय सम्यग्दर्शन है।

इस ही प्रकार सम्यग्ज्ञान भी व्यवहार सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यग्ज्ञान इस तरह दो प्रकार के होते हैं। संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय से रहित पदार्थों का ज्ञान करना, देव, शस्त्र, गुरु का परिज्ञान करना सो व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। सम्यक्चारित्र में व्यवहार सम्यक्चारित्र के संबन्ध में इस ही ग्रन्थ में अब अगले अधिकार में वर्णन आयेगा। 28 मूल गुणों का पालन करना सो साधु का व्यवहार सम्यक्चारित्र है। निश्चय सम्यग्ज्ञान चित्स्वभावमात्र आत्मतत्त्व का परिज्ञान करना सो निश्चय सम्यग्ज्ञान है, इस ही आत्मस्वभाव में स्थिर हो जाना सो निश्चय सम्यक्चारित्र है। व्यवहार सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र को व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं अथवा भेदोपचार रत्नत्रय भी कहते हैं।

इस अधिकार में सम्यग्दर्शन के लक्ष्यभूत परमार्थ तत्त्व का ही वर्णन चला है, अंत में व्यवहारिकता भी कैसे आए और लोक में तीर्थप्रवृत्ति भी कैसे चले? इस प्रयोजन से व्यवहार वर्णन चल रहा है। अब सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान का वर्णन करके सम्यक्त्व के साधनों के सम्बन्ध में वर्णन किया जा रहा है।

गाथा 53

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी।।53।।

सम्यक्त्व का निमित्त जिनसूत्र है तथा जिनसूत्र के ज्ञायक पुरुष हैं अंतरङ्ग कारण दर्शन मोहनीय के क्षय, क्षायोपशम, उपशम हैं। यहाँ बाह्य निमित्त और अंतरङ्ग निमित्त कहने से यह घटित होता है कि बाह्य निमित्त तो परक्षेत्र में रहने वाले परपदार्थ हैं और अंतरङ्ग निमित्त निज क्षेत्र में रहने वाला परपदार्थ हैं। जिन भगवान् द्वारा प्रणीत सूत्र, शास्त्र, ग्रन्थ, उपदेश शब्दवर्गणाएं चाहे लिपि रूप हों अथवा भाषा रूप हों, वे सब सम्यक्त्व के बाह्य निमित्त ही हो सकते हैं। बाह्य निमित्त के होने पर सम्यक्त्व हो अथवा न हो, दोनों ही बातें सम्भव हैं। कोई पुरुष शास्त्रों का बहुत ज्ञाता है, फिर भी सम्यग्दर्शन न हो ऐसी भी बात हो सकती है। किसी पुरुष को जिनसूत्र का ज्ञायक पुरुषों का उपदेश भी मिला, किन्तु अंतरङ्ग हित न बने तो सम्यक्त्व नहीं होता। यह जीव साक्षात् समवशरण में भी पहुंचकर दिव्यध्वनि भी सुने, इससे अधिक बाह्य में क्या निमित्त कहा जा सकता है, कोई वैसा साधारण वक्ता भी नहीं, गुरु भी नहीं, किन्तु साक्षात् भगवान् और फिर उनकी दिव्यध्वनि का श्रवण, इतने पर भी सम्यक्त्व न हो सके ऐसे भी कोई जीव वहाँ थे। ये सब बाह्य निमित्त हैं।

अन्तरङ्ग निमित्त दर्शनमोहनीय का उपशम क्षय आदिक हैं। सम्यग्दर्शन होने के लिए 5 लब्धियां हुआ करती हैं क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशणालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि। यह विषय सैद्धान्तिक भी है, कुछ कठिन भी है पर इस विषय को भी जानना पड़ेगा, इस कारण ध्यानपूर्वक सुनिये, बार-बार सुनने पर वही विषय सरल हो जाता है। सम्यक्त्व की उत्पत्ति में 5 कारण पड़ते हैं।

क्षायोपशमलब्धि—खोटी प्रकृतियों का अनुभाग उत्तरोत्तर शिथिल हो, क्षीण हो ऐसी परिस्थिति बने उसका नाम है क्षायोपशमलब्धि। यह जीव अनादिकाल से निगोद में बसा चला आया हैं, कोई कभी निकला कोई कभी निकला, निगोद से निकलने के बाद दो हजार सागर के करीब त्रसभव में रहने का और असंख्यातों वर्ष स्थावरों में रहने का, इतना समय गुजरने के बाद यह जीव मुक्त हो जाय तो ठीक है, हो गया, न हुआ मुक्त तो फिर निगोद में आना पड़ता है। इस जीव का निगोद में समय अधिक बीता। जब कभी सुयोगवश यह निकला, मानों पंचेन्द्रिय हो गया तो समझ लीजिए कि क्षायोपशमलब्धि तो मिल गई। हम आपको क्षायोपशमलब्धि तो है ही। जहां इतना ऊचा ज्ञान है कि बड़े-बड़े विभागों के हिसाब रख लें, प्रबंध कर लें, उस ज्ञान में क्षायोपशम कम है क्या? तो क्षायोपशमलब्धि है।

दूसरी लब्धि है विशुद्धिलब्धि। इस क्षायोपशमलब्धि की प्राप्ति के कारण आत्मा में ऐसी विशुद्धता बढ़ती है कि जो साता वेदनीय के बंध करने का हेतुभूत हो, उस विशुद्धि की प्राप्ति हो; इसका नाम विशुद्धलब्धि है। तो यह अंदाज रखिए कि हम लोगों को विशुद्धलब्धि की भी प्राप्ति हो चुकी। तीसरी लब्धि है देशणालब्धि। जिन सूत्र के ज्ञायक पुरुष उपदेश करते हुए मिलें, उनके उपदेश सुन सकें और उस उपदेश को हृदय में उतार सकें—ऐसी योग्यता प्राप्त होने का नाम है देशणालब्धि। तो प्राय: देशणालब्धि भी प्राप्त है—ऐसी योग्यता तो है ही। उपदेश ग्रहण कर सकते हैं।

चौथी लब्धि है प्रायोग्यलब्धि। इस प्रायोग्यलब्धि के बारे में कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता, पर इसकी भी योग्यता तो बनी ही हुई है, किन्हीं को हुई भी है। प्रायोग्यलब्धि का अर्थ यह है कि ऐसा निर्मल परिणाम होना कि अनेक कोड़ा-कोड़ी सागरों की स्थिति के कर्म जो सत्त्व में पड़े हुए हैं, उनकी स्थिति घटकर अथवा नवीन कर्म जो बांधे जा रहे हैं, उनका बन्धन घटते-घटते अंत:कोड़ाकोड़ी सागर की ही स्थिति रह जाए, इतना बड़ा काम प्रायोग्यलब्धि में है। तो क्या कहा जावे अब? इस प्रायोग्यलब्धि में इतनी निर्मलता बढ़ती है कि स्थितिबंध भी कम-कम हो जाता है।

प्रायोग्यलब्धि में 34 मौके ऐसे आते हैं जिसमें नीयत प्रकृतियों का बंध विच्छेद हो जाता है। प्रायोग्यलब्धि में जीव अभी मिथ्यादृष्टि है; सम्यग्ज्ञान नहीं हुआ है। ये तो सम्यक्त्व के साधन हैं, फिर भी प्रायोग्यलब्धि में इतनी बड़ी निर्मलता होती है कि कुछ समय बाद याने जब स्थितिबंध कम होते-होते पृथक्त्व शत सागर कम हो जाता है तो नरक आयु का बंध कट जाता है; फिर नरक आयु बंध सके, ऐसा उसमें लेश परिणाम नहीं रहता है। थोड़ी देर बाद पृथक्त्व शतसागर कम स्थितिबन्ध होने पर फिर तिर्यंच आयु का बन्ध मिट जाता है, फिर यों ही मनुष्यायु का और फिर देवायु का बन्ध रुक जाता है। पश्चात् नरकगति नरकत्यानुपूर्वी का बन्धविच्छेद होता है। इसके बाद फिर सूक्ष्म अपर्याप्त साधारण का या 34 बार में अनेक प्रकृतियों का बन्ध रुक जाता है। आप समझिए कि कितनी निर्मलता है इस मिथ्यादृष्टि जीव में? कई जिन प्रकृतियों का छठे गुणस्थान में बन्ध रुकता है, उनका बन्ध इस मिथ्यादृष्टि के भी प्रायोग्यलब्धि में बन्धने से रुक जाता है, इतनी निर्मलता है। इतने पर भी ये चार लब्धियां भव्य के भी हो सकती हैं और अभव्य के भी हो सकती हैं। जिनमें मुक्ति जाने कि योग्यता न हो तो ऐसे अभव्य में भी प्रायोग्यलब्धि तक हो जाती है।

इसके बाद 5 वीं जो करणलब्धि है, यह उसी के होती है जिसको नियम से सम्यक्त्व होने वाला है—ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव को करणलब्धि मिलती है। करण के मायने हैं परिणाम अथवा कर्ण के मायने हैं शस्त्र या हथियार, जिसके द्वारा शत्रु का विनाश किया जाए। जीव का प्रधान बैरी है मिथ्यात्व, उसका विनाश करने की जिसमें शक्ति है, ऐसा यह परिणाम है। अत: इन परिणामों का नाम करण रक्खा गया है। ये तीन होते हैं—अध:प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण। यह सब ज्ञान करना सिद्धान्त में, विज्ञान में अति आवश्यक है। ये तीनों करण सम्यक्त्व उत्पन्न करके के लिए ही हों, ऐसी बात नहीं है। सम्यक्त्व के लिए भी ये तीन करण होते हैं और चारित्र मोह का नाश करने के लिए विसंयोजन आदि के लिए भी ये तीन करण होते हैं।

चारित्र मोह का नाश करने के लिए जो ये तीन करण होते हैं, उनमें अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नाम के तो गुणस्थान ही बता दिए गए हैं 8 वां और 9 वां। अध:प्रवृत्तकरण हो जाते हैं 7 वें गुणस्थान में। 7 वें गुणस्थान के दो भेद हैं—एक स्वस्थान व दूसरा सातिशय। स्वस्थान अप्रमत्त तो ऊपर की श्रेणियों में चढ़ नहीं सकता। यह नियम से नीचे आएगा और सातिशय अप्रमत्तविरत ऊपर की श्रेणी पर चढ़ेगा, चाहे उपशम श्रेणी में चढ़े या क्षपकश्रेणी में चढ़े। वह 8 वें में अपूर्वकरण हुआ और 9 वां गुणस्थान अनिवृत्तिकरण का हुआ। ये तीनों करण चारित्रमोह को उपशम या क्षय करने के लिए हुए हैं। ऐसे ही ये तीन करण मिथ्यादृष्टि में सम्यक्त्व उत्पन्न करने के लिए होते हैं।

उन गुणस्थान वाले करणों से इन करणों का कोई मेल नहीं है। वहाँ की बात वहाँ की निर्मलता की हैं और मिथ्यात्व अवस्था में यहाँ की बात है, पर नाम एक ही क्यों रक्खा गया, उनका भी यह नाम हे और मिथ्यात्व में होने वाले इन करणों का भी यह नाम है। तो नाम एक होने का कारण स्वरूपसाम्य है। इसका स्वरूप क्या है? अध:प्रवृत्तकरण की साधना में अनेक जीव लग रहे हैं। मानो कि किसी जीव को अध:प्रवृत्तकरण में लगे हुए तीन समय हो गए और किसी जीव को अध:प्रवृत्तकरण में लगे हुए एक ही समय हुआ तो साधारण कायदे मुताबिक तो यह होना चाहिए कि जिसको तीन समय हो गए हैं अध:करण में पहुंचे हुए उसके निर्मलता अधिक होनी चाहिए, किन्तु ऐसा भी हो सकता है और ऐसा भी हो सकता है कि उस तीन समय अध:करण के परिणाम के समान ही आत्मा में एक समय अध:करण का भी हो, इसी से इसका नाम अध:प्रवृत्तिकरण है अर्थात् ऊपर के स्थानों के परिणाम बराबर नीचे स्थान के परिणाम हो सकें तो उसका नाम है अध:करण।

अपूर्वकरण नाम है अगले-अगले समय में अपूर्व-अपूर्व परिणाम हो, नीचे के समयों में ऊपर के समान न रहना। जैसे किसी को अपूर्वकरण में पहुंचे हुए तीन समय हो गए हैं और किसी को दो ही समय हुए हैं, वहाँ तीसरे समय वाले के परिणाम निर्मल होंगे और दो समय वाले के परिणाम उससे कम निर्मल होंगे, किन्तु उस तीसरे समय में ही मानों 10 साधक हैं तो उनमें परस्पर में मिल भी जाए परिणाम और न भी मिले तो वहाँ यह बात हो सकती है, पर नीचे के समय में आत्मपरिणाम मिल ही नहीं सकता है, इसका नाम है अपूर्वकरण।

अनिवृत्तिकरण में आत्मा ऊपर के नीचे तो मिलेगा ही नहीं और विवक्षित किसी समय में अनेक साधक हैं तो उनका परिणाम बिल्कुल एक होगा। सदृश विसदृश की बात नहीं है, उसे कहते हैं अनिवृत्तिकरण। कुछ इसे एक व्यवहारिक दृष्टान्त से सुनिए, जिससे शीघ्र समझ में आएगा कि यह करण परिणाम क्या है?

किसी बड़े काम के करने की तैयारी तीन बार में पूर्ण होती है। जैसे कोई बड़ा काम हो, बच्चों का टूर्नामेण्ट हो रहा हो, उसमें यदि दौड़ का काम है तो सब बच्चे एक लाइन में खड़े होकर वहाँ बोला जाएगा कि वन, टू, थ्री। तीसरी बोली में काम शुरू हो जाएगा। यों ही उस सम्यक्त्व की तैयारी के वन, टू, थ्री ये तीन करण हैं। पहिले अध:करण में कुछ तैयारी जगती है, अपूर्वकरण में विशेष तैयारी होती है और अनिवृत्तिकरण के बाद ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है।

करणपद्धति परिज्ञान के लिए एक दृष्टान्त लो कि मानों कहीं 40-50 सिपाही गप्पें मार रहे हों, टेढ़े मेढ़े बैठे हों और अचानक की कोई कमाण्डर बुलाए तथा हुक्म दे तो वे सब सिपाही ढंग से पहुंचने चाहिए। एक सी लाइन हो, लेफ्ट राइट भी ठीक हो और बड़ी कुशल तैयारी के साथ पहुंचने चाहिए। तो अब ऐसे बिखरे हुए, गप्प मारते हुए सिपाही कमाण्डर का हुक्म सुनते ही तैयार होकर आ गए। पहिली तैयारी में उनकी लाइन बननी शुरू हो गई, पर उस लाइन में अभी पूरी सफलता नहीं हुई, लाइन कुछ तो टेढ़ी मेढ़ी बन गयी और दूसरी तैयारी में लाइन बिल्कुल सीधी हो गई, पर अभी लेफ्ट राइट में फर्क रह गया। एक से हाथ पैर उठने चाहिए, एक सी चाल होनी चाहिए, अभी इसमें कुछ अन्तर है, पर तीसरी बार की तैयारी में लेफ्ट राइट भी सुधर गया, एक सी चाल में पूरी तैयारी के साथ लेफ्ट राइट करते हुए पहुंच गए। तीन तैयारियों में जैसे सिपाही अपने लक्ष्य पर पहुंच गए, ऐसे ही अध:करण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण इन तीनों परिणामों के साधनों से यह जीव लक्ष्य को सिद्ध कर लेता है।

इन करणलब्धियों के काल में वे सब प्रकृतियां उपशांत हो जाती हैं या क्षय को प्राप्त हो जाती हैं। जो प्रकृतियां सम्यक्त्व की बाधक हैं और वहाँ सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है, तब यह जानो कि सम्यग्दर्शन का बाह्य निमित्त तो वह जिनसूत्र है, स्वाध्याय है, उपदेश श्रवण है, ज्ञानियों का सत्संग है और अन्तरङ्ग निमित्तकारण इन 7 प्रकृतियों का उपशम क्षय अथवा क्षायोपशम है। जिन 7 प्रकृतियों में सम्यक्त्व की बाधकता है, वह है मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ। इन 7 प्रकृतियों का क्षय आदिक होना अन्तरङ्ग कारण बताया गया है। सम्यक्त्व परिणाम का बाह्य सहकारी कारण तत्त्वज्ञान है।

सम्यक्त्व न हो उसका नाम है मोहपरिणाम। मोहपरिणाम का अर्थ है कि भिन्न-भिन्न पदार्थों में एक दूसरे का अधिकारी तकना, सम्बन्धी देखना, कर्ता देखना, भोक्ता देखना, इसी का नाम मोह है। मैं अमुक का मालिक हू, मैं अमुक का अधिकारी हू, अमुक काम को करने वाला हू और अमुक भोग का भोगने वाला हू—ऐसी बुद्धि का नाम मोहभाव है। इस बुद्धि के समाप्त होते ही निर्मलता जगती है। यह बुद्धि कैसे मिटे? जब तत्त्वज्ञान बने। प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र अपने-अपने स्वरूपमात्र है। किसी भी पदार्थ का अन्य पदार्थ के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। सर्वपदार्थ स्वतन्त्र-स्वतन्त्र अपने स्वरूपमात्र हैं—ऐसी बुद्धि जग जाने को निर्मोह अवस्था कहते हैं। यह बात तत्त्वज्ञान के बल से ही बन सकती है। तत्त्वज्ञान, जिनसूत्र अथवा ज्ञानी पुरुषों के उपदेश—

ये सब बाह्य सहकारी कारण हैं। कैसा यह तत्त्वज्ञान है तो द्रव्यश्रुतरूप है। वीतराग सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि की परम्परा से चले आए हुए समस्त पदार्थों के प्रतिपादन करने में समर्थ यह ज्ञान है।

ये ज्ञाताजन, उपदेष्टा लोग, प्रभुवर, द्रव्यश्रुत, शास्त्रज्ञान—ये सब सम्यक्त्व के बहिरङ्ग सहकारी कारण हैं और अन्तरङ्ग निमित्तकारण मोह या क्षय आदिक है। वहाँ दर्शनमोह के क्षय आदिक को अन्तरङ्ग कारण यों-यों कहा गया है कि दर्शनमोह के क्षय आदि का निमित्त पाकर सम्यक्त्व अवश्य होता है, एक तो यह बात है। दूसरी यह बात है कि आत्मा के एक क्षेत्र में ही होने वाले कारण हैं, किन्तु हैं भिन्न पदार्थ, पौद्गलिक कर्मों की बात, इस कारण वे हेतु हैं पर उन्हें अन्तरङ्ग हेतु इस एकक्षेत्रावगाह के कारण और पक्का अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध होने के कारण कहे गये हैं ये सब बहिरङ्ग कारण हैं।

सम्यक्त्व की उत्पत्ति में उपादान कारण तो वही मुमुक्षु पुरुष है जिसको मुक्ति की भावना जगी है और मोक्ष के साधक परिणामों में जिसकी गति चलने वाली है ऐसे जो वे निकट भव्य पुरुष हैं, मुमुक्षु हैं वे हैं उपादान कारण। क्योंकि उसही को तो दर्शनमोह का क्षय, क्षायोपशम हो रहा है और उसही मुमुक्षु में सम्यक्त्व प्राप्ति का आविर्भाव हो रहा है। यों सम्यक्त्व के साधनों का वर्णन इस गाथा में चल रहा है।

सम्यक्त्व निमित्त और उपादान का वर्णन—सम्यक्त्व के कारण का प्रदर्शन करने वाली इस गाथा का द्वितीय अर्थ यह है कि इस गाथा में उपादान कारण और निमित्तकारण का वर्णन किया गया है। निमित्तकारण तो जिनसूत्र है और उपादानकारण जिनसूत्र के ज्ञायक मुमुक्षु पुरुष हैं जिन्हें कि सम्यग्दर्शन होना है। उपादानकारण कहो या अन्तरङ्ग हेतु कहो, दोनों का एक भाव है। नियमसार के टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने भी टीका में यही बताया है। आप्त मीमांसा के श्लोकों में पद-पद पर उपादान कारण को अन्तरङ्ग हेतु शब्द से कहा गया है। जो मुमुक्षु पुरुष हैं, जिन्हें सूत्र का ज्ञान हुआ है ऐसे पुरुष पदार्थ का निर्णय करते हैं और वे ही दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय, उपशम, क्षयोपशम होने योग्य परिणाम करते हैं और उनके दर्शन मोह का उपशम क्षय आदिक होता है। इस कारण उस आत्मा को अन्तरंग हेतु कहा गया है। अन्तरङ्ग हेतु का तात्पर्य उपादानकारण से है।

उपादान में कारणता का उपचार कथन—उपादान को किसी कारण शब्द से व्यपदिष्ट किया जाना कुछ अनुपचरित नहीं मालूम होता। कारण तो भिन्न पदार्थों को बताया जाता है। जो स्वयं उपादान है, स्वयं ही कार्य मय होता है उसे कारण कहा जाना उपचरित नहीं है। इस कारण मुमुक्षु आत्मा को अन्तरङ्ग हेतु उपचार से कहा जाता है, अर्थात् उपादान में कारणपने का व्यवहार उपचार से किया जाता है। अभिन्न उपादान में कारणपने का भेद करना उपचारकथन है, क्योंकि उपादान तो स्वयं ही सब कुछ है, उसका ही तो परिणमन है, अत: कारण जैसा शब्द लगाने का व्यपदेश उपचार रूप मालूम होता है। यों सम्यक्त्व का निमित्तकारण तो हुआ जिनसूत्र, शास्त्र, तत्त्वज्ञान और उस जिनसूत्र के ज्ञायक मुमुक्षु पुरुष जो सम्यक्त्व के अभिमुख हो रहे हैं वे उपादान कारण हैं, क्योंकि उनके ही दर्शन मोह का उपशम, क्षय, क्षयोपशम हो रहा है। यहाँ तक भेदोपचार रत्नत्रय का कारण करते हुए में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का स्वरूप कहा है और सम्यक्त्व के कारण पर यह प्रकाश डाला गया है।

अभेदानुपचरित रत्नत्रय का परिणमन—अब इसमें परपदार्थों का नाम लेने का काम नहीं है, उपचार नहीं है। उपचार कहा करते हैं कोई भिन्न तत्त्व का नाम लेकर प्रकृत बात को कहना। सो भेदोपचारपद्धति से नहीं, किन्तु अभेदोपचार पद्धति से इस रत्नत्रय परिणति को देखो। जिसकी परिणति अभेद सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में हो रही है ऐसे जीव को अभूतपूर्व सिद्धपर्याय प्रकट होती है। चारों गतियों में सर्वत्र क्लेश ही क्लेश है, मलिनता है। इन मलिनतावों से सर्वथा दूर हो जाना इसका नाम सिद्धपर्याय है और सिद्धपर्याय इस जीव को आज तक कभी प्रकट नहीं हुई है। सिद्धपर्याय प्रकट होने के बाद अनन्तकाल तक शुद्ध सिद्ध पर्यायरूप रहा करता है। यह सिद्धपर्याय किस अभेद रत्नत्रय से प्रकट हुआ है? इस विषय को अभेद प्रतिबोधन के लक्ष्य में ही साधारण भेद करके सुनिये।

निश्चयसम्यग्दर्शन का दिग्दर्शन—टंकोत्कीर्णवत् एकस्वभावी यह जो निज कारणपरमात्मतत्त्व है उस रूप मैं हू—इस प्रकार का श्रद्धान् होना यह है अभेद सम्यग्दर्शन। जैसे टांकी से उकेरी गयी प्रतिमा अविचल होती है, एकरूप होती है उसमें कोई एक अंग तरंग में आ जाय ऐसा नहीं होता है अथवा जैसे टांकी से उतारी गयी प्रतिमा किसी दूसरे पदार्थ से नहीं बनायी गयी है, किन्तु जो प्रकट हुआ है वह मैटर, पदार्थ उस बड़े पाषाण में पहिले भी था, कोई नई चीज की मूर्ति नहीं बनी है। जो पदार्थ था उस पदार्थ के ही आवरण को हटाकर व्यक्त किया गया है। यों ही इस आत्मतत्त्व में यह परमात्मस्वरूप कुछ नया नहीं लगाया जाता, किन्तु यह परमात्मत्व शुद्ध ज्ञानस्वरूप अनादिकाल से ही इसमें प्रकाशमान् है, उसके आवरक जो विषय-कषाय के परिणाम हैं उनको प्रज्ञा रूप छेनी से प्रज्ञा के ही हथौड़े से चोट लगाकर जब दूर कर दिया तो यह कारणपरमात्मतत्त्व जो अनादि से ही नित्य अंत:प्रकाशमान् है, पूर्ण व्यक्त हो जाता है और इस निजस्वभाव के पूर्ण व्यक्त हो जाने का नाम सिद्धपर्याय है। इस सिद्धपर्याय में प्रकट होने के लिये यों अभेद सम्यग्दर्शन चाहिए।

निश्चययम्यग्ज्ञान का परिच्छेदन—इस ही निश्चल स्वतंत्र निष्काम एकस्वभावी निजकारण परमात्मतत्त्व में परिच्छेदन मात्र, चैतन्यमात्र, जाननमात्र जहां अन्तर्मुख होकर परमज्ञान होता है वह है निश्चय सम्यग्ज्ञान। इस निश्चय सम्यग्ज्ञान में केवल एक परमहितरूप शरणभूत यह कारण समयसार ही ज्ञात हो रहा है। ऐसे निश्चय सम्यग्ज्ञान के बल से यह अद्भूतपूर्व सिद्ध पर्याय सिद्ध हुई है।

निश्चय सम्यक्चारित्र का निर्देशन—निश्चय सम्यक्चारित्र क्या है? आत्मा की जो सहज अंत:क्रिया है, सहजभावरूप परिणाम है वही निश्चय सम्यक् चारित्र है। वह सहजचारित्र शुद्ध ज्ञायकस्वभाव की अविचल स्थिति को लिए हुए है। ऐसा यह अभेद सम्यक्चारित्र है, जिसका श्रद्धान् किया, जिसका ज्ञान किया उसी में अविचल होकर रम गया इस स्वस्थिति का नाम निश्चय सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार निश्चय सम्यक्चारित्र के द्वारा या अभेदानुपचार रत्नत्रय परिणति के बल से इस आत्मा में अभूतपूर्व सिद्धपर्याय प्रकट होती है।

निश्चयतप—परमयोगीश्वर पहिले पापक्रियावों की निवृत्तिरूप व्यवहार में, चारित्र में ठहरते हैं और उसके ही व्यवहारनय का विषयभूत नाना प्रकार का तपश्चरण होता है, वह ही पुरुष अन्तरङ्ग में क्या कर रहा है, इस बात को निरखे तो विदित होगा कि वहाँ निश्चयात्मक निज कार्य हो रहा है, सहज चैतन्यस्वरूप

परमस्वभावरूप जो निजज्ञान ज्योतिस्वरूप है उस स्वरूप में ही उपयोग तप रहा है। यही निश्चयतप हो रहा है।

निश्चयतप का प्रतपन—जैसे किसी बालक को अपनी मां मौसी की गोष्ठी से उठकर बाहर खेलने को जी चाहता हो और उसे मां जबरदस्ती बैठाल रही हो तो उस बालक को वहाँ बैठने में भी बड़ा श्रम मालूम हो रहा है। वहाँ सीधी बात कठिन लग रही है। यद्यपि दौड़ कूद ये सब श्रम की बातें हैं, किन्तु जिसका बाहर दौड़ने भागने में ही मन चाह रहा है ऐसा वह बालक एक ही जगह पर चुपचाप कुछ समय तक बैठा रहे, ऐसा कार्य करने में बालक को बड़ी तकलीफ हो रही है, श्रम हो रहा है। यों ही यह उपयोग अपने आपके घर के पास से विमुख होकर बाहरी पदार्थों में दौड़ना भागना चाहता है। इस उपयोग को कुछ विवेकबल से अपने आपमें बैठने को ही लगायें कि रे उपयोग तू बाहर मत जा, तू घर में ही चुपचाप विश्राम से बैठ, और यह उपयोग कुछ बैठता भी है तो भी इसमें एक श्रम हो रहा है, उस ही को तो तप कहते हैं, निश्चय प्रतपन हो रहा है। अपने आपके स्वरूप में ही अधिष्ठित रहकर शांत एकस्वरूप बना रहे इसमें कितना श्रम चल रहा है, यही है निश्चयतप।

अन्तस्तप के प्रतपन का अनुमान—अनुभव करके देख भी लो कि इस किसी धर्म की बात में या तत्त्व के चिंतन में जब हम उपयोग को लाते हैं, स्थिर करना चाहते हैं तो कितना जोर लगाना पड़ता है, यह है अन्तरङ्ग का परमार्थ तप। इस तपस्या के द्वारा निजस्वरूप में अविचलरूप से स्थिति बन जाती है। इस ही आत्मरूप में स्थिर होने का नाम है सहजनिश्चयचारित्र। यों सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का वर्णन करके अब चूंकि अगले अधिकार में व्यवहारचारित्र का वर्णन आएगा, सो मानों उसकी प्रस्तावनारूप इस अधिकार में अन्तिम वर्णन कर रहे है।

गाथा 54

सम्मत्तं सण्णाणं विज्जदि मोक्खस्स होदि सुख चरणं।
ववहारणिच्छयेण हु तम्हा चरणं पवक्खामि।।54।।

व्यवहार एवं निश्चयचारित्र के कथन का मर्म—सम्यक्त्व और सम्यग्ज्ञान मोक्ष के लिए कारणभूत है, इस ही प्रकार चारित्र भी मोक्ष के लिए कारणभूत है, इस कारण व्यवहारनय से और निश्चयनय से चारित्र के स्वरूप को कहेंगे। अध्यात्मयोग में बर्त रहे ज्ञानी संत व्यवहाररूप आचरण का भी वर्णन करें तो उसमें साथ-साथ निश्चयस्वरूप का दर्शन हो ही जाता है। यों व्यवहार से जो वर्णन किया जाएगा, उस वर्णन में भी पहिले यह निरखते जाइयेगा कि इसमें मर्म की बात क्या है? जब तक निश्चय चारित्र के पोषण की दशा नहीं मिलती है, तब तक व्यवहारचारित्र वास्तविक मायने में व्यवहारचारित्र नहीं होता है। जैसे कोई भोजन बनाने में तो बड़ा श्रम करे और बनाकर उसे कूड़ा कचरा में डाल दे तो उसे व्यवहार में विवेक नहीं कहा गया है। अरे ! खाने के लिए ही तो बन रहा था। लक्ष्य बिल्कुल भूल जाए और क्या हुआ? इसका रूप ही बदल जाए तो वह फिर व्यवहारधर्म नहीं रहता।

लक्ष्यभ्रष्ट प्रवृत्ति की विडम्बना पर एक दृष्टान्त—कोई एक सेठ था और उसने बिरादरी को दावत दी। दो तीन मिठाइयां बनवाई और खूब छककर खिलाया; पर साथ ही एक काम और किया कि सेठ ने सोचा कि लोग मेरी ही पातल में तो खा जाते हैं और खा चुकने के बाद मेरी ही पातल में छेद करते हैं, क्योंकि दाँत कुरेदने के लिए लोग पातल से सींक निकालते हैं। तो ऐसा करें कि जहां इतना समान परोसा जा रहा है, वहाँ एक-एक सींक और परोस देंगे, ताकि लोग पातल से सींक निकालकर उसमें छेद न करें। अब एक टोकरा सींक का भरा हुआ परोसने को गया। अब कई वर्ष बाद सेठजी गुजर गए। बाद में उनके लड़कों के किसी बेटा बेटी के विवाह का अवसर आया तो लड़कों ने सोचा कि हम अपने पिता का नाम बढ़ायेंगे। जितनी तैयारी से उन्होंने पङ्गत थी, उससे दूनी तैयारी से करेंगे, सो वैसा ही किया। उन्होंने तीन मिठाइयां बनवाई थी, लड़कों ने छः बनवाई। उन्होंने चार अंगुल की सींक परोसी थी, लड़कों ने 12 अंगुल की डंडी परोसी। सो जैसे बच्चों की पाटी पर लिखने वाली वर्तना होती है, वैसी ही वर्तना का टोकरा भी परोसने में चला। अब वे लड़के भी गुजर गए। अब उनके गुजरने के बाद उन लड़कों के लड़कों का नम्बर आया तो उन्होंने सोचा कि हम भी अपने बाप का नाम बढ़ावेंगे। पिता ने छः मिठाइयां बनवाई थी तो उन्होंने अपने लड़कों के विवाह में 10 मिठाइयां बनवाई। पिता ने 12 अंगुल की डण्डी परोसी थी तो लड़कों ने एक-एक हाथ का डण्डा परोसवा दिया। अरे ! यहाँ इन डण्डों की नौबत कहां से आई? लड़कों, पोतों ने परम्परा तो वही रक्खी, जो सेठ ने रक्खी थी, पर लक्ष्य भूल गए। लक्ष्य तो इतना ही था कि दाँत कुरेदने वाली सींक मिल जाए, पर लक्ष्य भूल जाने से यह नौबत आ गई।

लक्ष्यभ्रष्ट प्रवृत्ति की विडम्बना—ऐसे ही अध्यात्मरस में जो मुक्ति के लिए लक्ष्य है, वह कारणसमयसार तत्त्व है। वह दृष्टि में न रहे और दूसरे ज्ञानियों की देखादेखी ज्ञान में बढ़े और यों बढ़े कि हम तो उनसे दूना काम करेंगे। वे तो इतनी शुद्धि रखते हैं, हम इतनी शुद्धि रक्खेंगे, जो चौके में किसी की छाया तक न पड़े। वे तो एक बार ही विशेष पानी लेते थे तो हम वह भी न लेंगे। वे एक उपवास करते थे तो हम तीन करेंगे। बढ़ते जा रहे हैं ज्ञानियों की होड़ में, लक्ष्यभ्रष्ट मूढ़ पुरुष तपश्चरणों में, पर उनकी तो स्थिति यह है जैसे पोतों ने डण्डा परोसने की स्थिति बनाई। विश्राम लो अपने आपमें, किसी को कुछ दिखाना नहीं है। कोई यहाँ मेरा परमात्मा नहीं बैठा है कि मैं किसी को दिखा दूं तो मेरे पर वह प्रसन्न हो जाए या कुछ रियायत कर दे, सुखी कर दे। यहाँ तो सब कुछ निर्भरता अपने आप ही है। इस कारण निश्चयचारित्र का पोषण जिस विधि से हो, उस विधि से व्यवहारचारित्र का पालना युक्त है।

प्रयोजक और प्रयोजन—भैया ! जैसे खेत बो दिया गया, अब खेत की रक्षा के लिए चारों ओर बाड़ लगाई जाती है। उस बाड़ का प्रयोजन है कि खेत की रक्षा बनी रहे, अनाज की उपज अच्छी हो। कोई पुरुष बोये कुछ नहीं और खाली खेत जोत दे या अट्टसट्ट बो दे और बाड़ी फैंसी लगा दे, बहुत सुन्दर और बाड़ी-बाड़ी लगाने में ही समय लगा दे तो उसने क्या कुछ फल पाया? यों ही निश्चयचारित्र तो है बीजरूप। निश्चयचारित्र तो बोया नहीं, उसका तो बीज बनाया नहीं और व्यवहारचारित्र की बड़ी-बड़ी फैंसी लगाए, देखने में दर्शकों का मन बहुत आकर्षित हो जाए तो जैसे उस बाड़ी से उदरपूर्ति का काम नहीं बन पाएगा—ऐसे ही इस व्यवहारचारित्र में जो कि उपचारचारित्र है, उसमें शांति सन्तोष सहजआनन्द के अनुभव का कार्य न बन

जाएगा। यहाँ व्यवहारचारित्र तो प्रयोजक है व निश्चयचारित्र प्रयोजन है। इस कारण हम धर्म के लिए जो भी व्यवहाररूप कार्य करें, उससे हम इतना तो जान जायें कि इस व्यवहारचारित्र से हमको निश्चयचारित्र में लगने के लिए कितना अवकाश मिलता है?

निश्चयचारित्र से पराङ्मुख व्यवहारचारित्र की अप्रतिष्ठा—आचार्यदेव व्यवहारचारित्र का अलग अधिकार बनाकर वर्णन करेंगे, किंतु निश्चयचारित्र की पुट दिखाए बिना व्यवहारचारित्र के वर्णन में भी शोभा और शृङ्गार नहीं होता। अत: उस वर्णन के मध्य भी निश्चयचारित्र का संकेत मिलता जावेगा। जैसे एक मोटी बात निरख लो—विवाह शादियां होती हैं, उनमें अनेक दस्तूर कार्यक्रम होते हैं, उन सब कार्यक्रमों में एक धर्म का कार्यक्रम बिल्कुल उड़ा दें—न दूल्हा मन्दिर जाए, न द्रव्य धरने जाए और किसी प्रकार का कोई धार्मिक आयोजन न हो, भांवर के काल में जो थोड़ा बहुत उपदेश दिया जाता है, सात-सात वचनों पर प्रकाश डाला जाता है, यह किसी भी प्रकार का धर्मकार्य न हो तो आप सोच लो कि वह कृत्य सब फीका हो जाएगा। यह तो एक मोटी लौकिक बात कही गई है, पर धर्म के पथ में कुछ चारित्र की प्रगति की जा रही है। वहाँ केवल मन, वचन, काय की चेष्टाओं की भरमार रहे और शुद्ध निजपरमात्मतत्त्व की दृष्टि की दिशा भी न बने तो समझ लीजिए कि वह सब श्रम मात्र होगा और अंतरङ्ग में शांति संतोष न प्राप्त होगा। इस कारण व्यवहारचारित्र के वर्णन का संकल्प बताते हुए भी आचार्यदेव निश्चयचारित्र का साथ नहीं छोड़ रहे हैं। अत: कह रहे हैं—उसको मैं बताऊगा अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय और निश्चयरत्नत्रय का स्वरूप कहूंगा।

व्यवहाररत्नत्रय व निश्चयरत्नत्रय का संक्षिप्त निर्देश—व्यवहार और निश्चयरत्नत्रय का स्वरूप संक्षेप में किस प्रकार है? सो व्याख्यानों और उनके संकेतों द्वारा ज्ञात हो जायेगा। जिसे कविकर दौलतरामजी ने अपनी कविताओं में इस प्रकार लिखा है कि 'परद्रव्यों से भिन्न निजआत्मतत्त्व में रुचि करना निश्चयसम्यग्दर्शन है और परद्रव्यों से विविक्त निजआत्मतत्त्व का परिज्ञान करना निश्चयसम्यग्ज्ञान है तथा परद्रव्यों से विविक्त इस निजआत्मतत्त्व को ही रमण करना सो निश्चयसम्यक्चारित्र है, इन तीनों निश्चयरत्नत्रयों की पुष्टि के लिए व्यवहाररत्नत्रय होता है जिसमें मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत 7 तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान् करना सो व्यवहार सम्यग्दर्शन है, और इन ही सात तत्त्वों का भली प्रकार परिज्ञान करना सो व्यवहार सम्यग्ज्ञान है और निज मन, वचन, काय की क्रियावों को करते हुए में निश्चयरत्नत्रय के बाधक विषयकषायों को अवकाश न मिले, ऐसी क्रियावों का करना सो व्यवहारचारित्र है।

व्यवहाररत्नत्रय की उपयोगिता—भैया ! अहिंसाव्रत, सत्यव्रत, ब्रह्मचर्यव्रत, परिग्रह त्याग व्रत, इन त्यागवृत्ति में रहने से विषयकषायों को अवकाश नहीं मिलता है। यदि कोई इन व्रतों को धारण न करे तो उसमें वह निर्मलता ही नहीं जग सकती है जिससे कारणसमयसार प्रभु दर्शन दिया करते है। तो इस निश्चयरत्नत्रय के हम पाने के योग्य बने रहें, इतनी पात्रता बनाने के लिए यह व्यवहाररत्नत्रय समर्थ है। व्यवहाररत्नत्रय का भी उपयोग उत्तम है किन्तु लक्ष्य भूल जाय तो वे समस्त व्यवहार क्रियाकाण्ड उसके लिए गुणकारक नहीं रहते हैं। इस कारण व्यवहारचारित्र और निश्चयचारित्र दोनों प्रकार से चारित्रों के स्वरूप को समझना और उस पर अमल करना मुक्ति के लिए आवश्यक है।

गाथा 55

ववहारणयचरित्ते ववहारणयस्स होदि तवचरणं।
णिच्छयणयचारित्ते तवचरणं होदि णिच्छयदो।।55।।

व्यवहार और निश्चयतपश्चरण का आधार—व्यवहारनय के चारित्र में व्यवहारनय का तपश्चरण होता है और निश्चयनय के चारित्र में निश्चयनय का तपश्चरण होता है। यहाँ तक जो 5 गाथाए चली हैं, उन गाथावों में चार प्रकार की आराधनावों का निर्देशन है—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप। इन 4 आराधनावों का संक्षेपीकरण दो आराधनावों से होता है—सम्यक्त्व आराधना और चारित्र आराधना। जैसे सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान लगा हुआ है इसी प्रकार सम्यक्चारित्र के साथ सम्यक्तप लगा हुआ है। व्यवहारनय के चारित्र के प्रकरण में तपश्चरण भी व्यवहारनय का कहा गया है और निश्चयनय के चारित्र के प्रकरण में निश्चय से तपश्चरण बताया है।

व्यवहारतप और निश्चयतप—उपवास, ऊनोदर, व्रतपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, काय क्लेश—ये 6 तो बाह्यतप हैं, ये व्यवहारनय के तपश्चरण हैं, किन्तु अन्तरङ्ग में जो 6 तप हैं प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग और ध्यान ये भी व्यवहारनय का तप है। निश्चयनय का तप तो चित्स्वभावमात्र अंतस्तत्त्व में उपयोग का प्रतपना सो निश्चयतप है। निश्चयनय की पद्धति में आखिर सब कुछ एक हो जाता है। यहाँ तक कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप—ये चार आराधनाएं एक ज्ञान—आराधनारूप रह जाते हैं। सम्यग्दर्शन क्या है? जीवादिक के श्रद्धान् के स्वभाव से ज्ञान का होना यह तो हुआ सम्यग्दर्शन और जीवादिक तत्त्वों के परिज्ञान के स्वभाव से ज्ञान का होना यह हुआ सम्यग्ज्ञान और रागादिक के त्याग के स्वभाव से ज्ञान का होना यह हुआ सम्यक्चारित्र। और चित्स्वभावमात्र, ज्ञानस्वभावमात्र, अंतस्तत्त्व में ज्ञान का प्रतपना सो हुआ सम्यक्तप। ये चारों की चारों ही बातें ज्ञानपरिणमनरूप बनती हैं।

स्वस्थिति में आत्मबल का प्रयोग—अंतस्तत्त्व में निश्चय होना सो तो दर्शन है, अंतस्तत्त्व में परिज्ञान होना सो सम्यग्ज्ञान है और अंतस्तत्त्व में स्थित हो जाना सो सम्यक्चारित्र है और अंतस्तत्त्व में ही उपयोग का प्रताप बनना सो सम्यक्तप है। अपने आपके स्वरूप में स्थिर होने में भी बल चाहिए। शरीर में जो भी चीजें हैं—खून है, नाक है, थूक है, राल है इन सबको थामे रहने के लिए शरीर में बल चाहिए। कोई वृद्ध हो अथवा रोग से क्षीण हो गया हो, ऐसा पुरुष अपनी नाक, कफ, थूक आदि अपने में थाम नहीं सकता। वृद्ध पुरुष के मुह से राल गिरती है और भी मल झरते हैं, वे थाम नहीं सकते, क्योंकि शरीर में रहने वाली चीजों को थामने के लिए बल चाहिए। ऐसे ही आत्मा में रहने वाले ज्ञानादिक गुणों को आत्मा में ही थामने के लिए आत्मा का बल चाहिए।

आत्मबल की आवश्यकता का अनुमान—भला, कुछ अनुमान बनावो—जो चित्त में विकल्पजाल मचा करता है वह विकल्पजाल न हो और निर्विकल्प समाधिमय यह अंतस्तत्त्व रहे, ऐसा करने के लिए कितने बल की आवश्यकता है? शरीर बल की नहीं, अन्तरबल की आत्मबल की और किसी बाह्यपदार्थ में मन को दौड़ाने में

किसी से राग करने में प्रेमभरी बात बोलने में, मोह बढ़ाने में कुछ बल न चाहिए विशेष। मन में आया, स्वच्छन्दता करने लगा तो यह जीव कर लेता है। अपने आपके गुणों को अपने आपमें स्थिर करने के लिए बड़े पुरुषार्थ की आवश्यकता है। करोड़ आदमियों में से भी कोई एक ही पुरुष ऐसा हो जो अपने आपके गुणों को, परिणमनों को अपने आपमें ही थाम सकता है, अपने उपयोग को अपने में स्थिर कर सकता है।

ज्ञानयोगी का उपकार—भैया ! मूढ़ लोग भले ही उन ज्ञानयोगी संतों के प्रति ऐसा कहें कि देश के लिए ये लोग बेकार हैं कुछ लोकोपकार करते ही नहीं हैं, किन्तु यह क्या कम उपकार है कि ऐसे पुरुषार्थी ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व में उपयोग को स्थिर करने वाले अतएव शांत और समदर्शी जो हुए हैं, उनकी मुद्रा का दर्शन, उनकी चेष्टा का निरखन, उनकी वाणी का श्रवण अथवा उनके सत्संग में उपस्थित होना हैं—यह सब एक भावमय बिजली की करेण्ट की तरह चित्त में शांति उत्पन्न करने के कारण बन जाते हैं? यह कोई कम उपकार नहीं है। दूसरी बात शरीरबल की अपेक्षा बुद्धिबल विशेष होता है और बुद्धिबल की अपेक्षा आत्मबल अत्यधिक होता है।

शरीरबल से बुद्धिबल की विशेषता—ऐसे ही एक कथानक है—एक पुरुष की लड़की की शादी थी। उसने बारात वालों को यह सूचना दे दी कि बारात में कोई बूढ़ा न आए, सब जवान आए। बारातियों ने सोचा कि इस लड़की वालों ने बूढ़ों को मना किया है तो इसमें कोई राज होगा। सो एक बड़े संदूक में सांस आने के लिए छेद बना लिया और उसमें एक बूढ़े को बैठाकर सन्दूक लेकर वे बाराती पहुंचे। लड़की वाले ने क्या किया कि उसमें 50 बाराती थे तो 50 गुड़ की भेली डेढ़-डेढ़ सेर की उन बारातियों को दे दी और कहा कि आप सबको एक-एक भेली दी जाती है, सब लोग खा लो। अब डेढ़ सेर भेली को कौन खा सकता है? सो अफसोस में सभी बाराती पड़ गए। एक बाराती ने कहा कि उस वृद्ध पुरुष से सलाह ले लो कि किस तरह से खायी जाये। एकान्त में उन्होंने सन्दूक को खोला और बूढ़े से पूछा कि भाई 50 भेली डेढ़-डेढ़ सेर की मिली हे और 50 ही आदमी हैं तो उनको कैसे खाएं? उस बूढ़े ने कहा कि सभी बाराती एक-एक भेली एकदम न खावें, बल्कि चलते-फिरते, दौड़ लगाते, हंसते व खेलते सभी भेलियों में से थोड़ा-थोड़ा नोच खचोटकर खावें। अब तो मन्त्र मिल गया। अब फिर सन्दूक बन्द कर दिया और सभी अपनी भेलियों को थोड़ा-थोड़ा नोच खचोटकर हंसते, खेलते, दौड़ते, भागते हुए खाने लगे। लो वे सब भेलियां खा ली गयी और मन भी बहल गया। तो देखो यदि इस तरह नहीं करते तो वे डेढ़-डेढ़ सेर की भेली कैसे खाते? तो शरीरबल से बुद्धिबल विशेष हुआ ना।

आत्मचिंतन में आत्मबल का पोषण—भैया ! अब आत्मबल का तो कहना ही क्या, जहां एक भी संकट नहीं रह सकता? क्या हैं संकट? कोई क्लेश सामने आया हो तो एक चिंतन में निगाह कर लो। मैं सबसे न्यारा ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व हू, मैं परिपूर्ण हू, जिसे कोई जानता नहीं है, कृतार्थ हू, जो मुझमें हैं वह कहीं जा नहीं सकता और जो बाहर की बातें हैं, वे मुझमें आ नहीं सकती। यह तो मैं पूर्ण सुरक्षित अन्तस्तत्त्व हू, एक ही चिंतना में, एक झलक में सारे संकट एक साथ समाप्त हो जाते हैं, जो यह भावना है, इसही भावना को बारम्बार दृढ़ करना यही धर्म का पालन है। अब आप जानिए कि अपने आपके अन्तर में जो निधि है, उस

निधि को सुरक्षित बनाने में कितने आत्मबल की आवश्यकता है? ऐसा करने में जो प्रताप उत्पन्न होता है, उसी प्रताप का नाम निश्चयतप है। यह निश्चय आराधना योग मोक्ष का हेतुभूत है।

सहजविश्राम—अहो ! ऐसा सहजज्ञान जिसका निश्चय, जिसका परिज्ञान, जिसमें स्थिति, जिसका प्रताप मोक्ष का हेतु है, वह सहजज्ञान ही हम आपका परमशरण है। चिंता कुछ मत करो, दुःख रञ्च भी नहीं है। अपने आपको आराम में रखना, यह सबसे ऊँचा काम है। अपना आराम मूढ़ता में आकर खो मत दो। इन 24 घण्टों में किसी भी समय तो सच्चा आराम पावो। जैसे लोग थककर 10-20 मिनट को हाथ पैर पसारकर चित्त लेटकर आराम ले लिया करते हैं, यों ही विकल्पजालों में जो दुःखों की थकान होती है, उस थकान को दूर करने के लिए सर्व पर की चिंता को छोड़ कर निजसहज ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का दर्शन करिये और उसही में रमण कीजिए, तृप्त होइये—ऐसा सच्चा आराम एक सेकण्ड को भी हो जाए तो वह भव-भव के सञ्चित कर्मकलंकों को दूर करने में समर्थ है। सो इस निजसमृद्धि के लिये साधनभूत अमोघ अभिन्न उपाय का चार प्रकार से भेद कथन किया गया है।

सहजवृत्ति का प्रताप—इस सहजज्ञान का ज्ञान व सहजज्ञान जयवंत प्रवर्तो और सहजदर्शन तथा सहजदर्शन की दृष्टि जयवन्त प्रवर्तो। जो भी सहज दिखा अपने आपमें, वह ही तो परमात्मतत्त्व है और जो कृत्रिमता से बनावटीरूप से ढंग बनाकर दिखावा करे वह आत्मतत्त्व नहीं है। बनना अच्छी बात नहीं है सहजसरलस्वभाव से, विवेक को खोने की बात नहीं कह रहे हैं, विवेकी रहकर सहजसरलता से तो वृत्ति बने वह उत्तम है। अन्तर में कपट भाव रखना, धन सामग्री होते हुए भी अन्तर में तृष्णाभाव रखना, अन्य जीवों से अपने को बड़ा समझकर मान परिणाम में आना और किसी बात के कारण या इष्टसिद्धि में बाधा होने पर क्रोध भाव करना—ये सब कषायें इस जीव की सहजवृत्ति से विपरीत हैं, बनावटी हैं। ये सब बनावट न करके सहज जो परिणाम जगे, उस परिणाम में रत होना यही मुक्ति का उपाय है।

सहजदृष्टि में साधुता—एक गुरु शिष्य राजा के बाग़ में पहुंचे। वहाँ एक-एक कमरे में ठहर गये। राजा घूमने आया। सिपाहियों को राजा के स्वागत सुविधा के लिए कुछ चीजों की जरूरत थी, उस कमरे से कुछ चीज लाने को एक सिपाही गया तो देखा कि दो आदमी बैठे हैं। सिपाही राजा के पास गया और बोला कि महाराज ! वहाँ दो आदमी बैठे हैं। राजा ने कहा कि उनसे कह दो कि यहाँ से जायें। सिपाही पहिले शिष्य के पास गया और कहा कि तुम कौन हो? शिष्य बोला कि तुमको दिखता नहीं कि मैं साधु हू। तो सिपाही ने कान पकड़कर उसे निकाल दिया। दूसरे से कहा कि तुम कौन हो? तो वह चुपचाप रहा और ध्यान में लीन रहा। सिपाही राजा से कहता है कि महाराज ! एक आदमी तो बिल्कुल बोलता ही नहीं है और आंखें बन्द किए हुए शांत बैठा है। राजा ने कहा कि उन्हें मत छेड़ना, वे साधु होंगे। अब वह राजा धूमधाम कर वापिस चला गया तो शिष्य ने कहा कि महाराज ! आप तो मजे में रहे और हमें तो कान पकड़ कर यहाँ से भगा दिया। गुरु कहता है कि हे शिष्य ! तुम कुछ बने तो नहीं थे। जो बनता है वह पिटता है। कहा महाराज ! हम कुछ नहीं बने थे। मुझसे पूछा कि तुम कौन हो? तो मैंने कहा कि दिखता नहीं है तुम्हें? मैं साधु हू। गुरु बोला कि यही तो बनना हुआ। साधु होकर जो अपने को साधु बताता है, यह श्रद्धान् करता है कि मैं साधु हू तो वह बनना ही है। साधु पुरुष वह है कि जो चैतन्यस्वभावमात्र आत्मा की दृष्टि करके प्रसन्न रहे। साधु

पर्यायरूप आत्मश्रद्धान् न बनाए। मैं तो एक चैतन्यतत्त्व हू, ऐसी सती दृष्टि हो तो साधुता वही विराजती है। बनावट में तत्त्व नहीं मिलता है, किन्तु सहजसरल भाव में वस्तु का तत्त्वमर्म विदित होता है, वह सहजदृष्टि जयवन्त हो और वह सहजचारित्र जयवन्त हो।

परमोपकारी परमयोग—सिद्धभगवान् की पूजा में इसका यह छन्द है—

समयसार सुपुष्पसुमालया सहजकर्मकरेण विशोधया।
परमयोगबलेन वशीकृतं सहजसिद्धमहं परिपूजये।।

मैं सहजसिद्ध को परिपूजता हू। यहाँ मैं का अर्थ है उपयोग और सहजसिद्ध का अर्थ है अध्यात्मदृष्टि से अपने आपमें बसा हुआ कारणसमयसार। जो सहज ही सिद्ध है, स्वभावत: परिपूर्ण है उसको में परिपूजता हू अर्थात् अपने आत्मा के सर्वप्रदेशों में दर्शन, ज्ञान, चारित्र की वृत्ति द्वारा पूजता हू। कैसा यह सहजसिद्ध है कि जो परमयोग के बल से वश में होता है। यह सहजसिद्ध मेरे उपयोग के विकल्प में नहीं आता। यह दूर बना हुआ है, यह मेरे लक्ष्य में आयेगा परमयोग के बल से। वह परमयोग क्या है? इसी शुद्धस्वभाव में निश्चयनय का परिज्ञान होना, स्थिरता होना, प्रवचन होना, यह ही मेरा परमयोग है। ऐसे परमयोग के बल से जो वश किया जाता है, ऐसे इस सहजसिद्ध को मैं पूजता हू। काहे के द्वारा? भगवान् की पूजा क्या किसी भिन्न वस्तु में हो सकती है? फूलों की मालाएं ये भिन्न पदार्थ भगवान् को क्या महत्त्व दर्शाने वाले है? मैं तो समयसाररूपी पुष्पमाला से इस सहजसिद्ध को पूजता हू, जो सहजचारित्ररूपी हाथ से तैयार की गई है। अपने सहजसिद्ध से ही यह समयसारदृष्टि में आता है और इसके ही बल से परमयोग प्राप्त होता है और अपने आपके वश में अर्थात् दृष्टि में रहा करते हैं। ऐसा यह कारणसमयसार, सहजज्ञान, सहजदृष्टि, चित्स्वभाव सच्चिदानन्दमय परमपारिणामिक भाव वह सदा जयवन्त प्रवर्तो। मेरा मन एक इस निजस्वभाव के दर्शन में लगो, अन्यत्र मत विचरो।

सहजचेतना विभूति—यह सहजपरमभाव में रहने वाली चेतना समस्त पापमल को दूर करने में समर्थ है। खोटे भाव जगना इससे बढ़कर कुछ विपत्ति नहीं है। वह पुरुष वैभववान् है, जिसके स्वप्न में भी अन्याय करने की वासना नहीं जगती। किसी जीव को सताने का, किसी के बारे में झूठ बोलने का, चुगली करने का, निन्दा करने का परिणाम जिसके नहीं होता; किसी के चीज चुराने का अथवा कामवासना का भूत लादने का और धन परिग्रह की तृष्णा रखने का जिसका परिणाम नहीं जगता है और अपने को निर्भार अनन्त विधिवान् ज्ञानस्वरूप निरखने का यत्न जिनके होता है, वे ही वास्तव में वैभववान् पुरुष हैं।

नियमसार की भावना—अब यह नियमसार का शुद्धभावनामक तृतीय अधिकार समाप्त हो रहा है। इस अधिकार में आत्मा के शुद्ध भवों का स्वरूप कहा गया है। उस स्वरूप के चिंतन द्वारा भावमय अपने को निहारकर कृतार्थ होना यह हमारा कर्तव्य है। एक इस निजअन्तस्तत्त्व को छोड़कर मेरे लिए अन्य कुछ उपादेय नहीं है। इस अन्तस्तत्त्व में केवल ज्ञानप्रकाश पाया जाता है। उस ज्ञानप्रकाश की दृष्टि से ही यह अन्तस्तत्त्व अनुभूत होता है। इसमें न कोई बाह्यपदार्थ है, न उनके निमित्त से होने वाले कुछ तरंग भाव हैं। सर्व पर और परभावों से रहित यह मेरा अन्तस्तत्त्व मेरे को शरण है। जहां संसार का भटकना नहीं हैं, भव से

रहित है, स्वाधीन है, सर्वविभावों से दूर है—ऐसा यह अन्तस्तत्त्व मेरी दृष्टि में रहे और ऐसा समय चिरकाल तक बना रहे कि इस प्रतिभासमात्र अपने आपको प्रतिभासता रहूं।

सहजस्वभाव लाभ के लिये यत्नशीलता—इस अन्तस्तत्त्व का कोई बाह्यचिह्न नहीं है, इस चिह्न के द्वारा हम इसके स्वरूप में प्रवेश कर सकें। इसका चिह्न तो केवल ज्ञानभाव है, सहजज्ञान है, जिस सहजज्ञान की दृष्टि में सर्व जीव एक समान हैं। सिद्ध हो, संसारी हो, सर्वप्राणियों में जो एक स्वरूप रहा करता है, ऐसा सहजचित्स्वभाव, वह ही हमारे लिए उपादेय है। उसको ही दृष्टि में रखने के लिये हम पाये हुए सब कुछ समागम को न्योछावर करके भी प्रयत्नशील रहें।

卐 समाप्त 卐